मौलूराम ठाकुर

पहाड़ी भाषा:

कुलुई के विशेष सन्दर्भ में

सन्मार्ग प्रकाशन १६-यू०बी० बैंग्लो रोड, दिल्ली-७

पहाड़ी भाषा
कुलुई के विशेष संदर्भ में

पहाड़ी भाषा

कुलुई के विशेष संदर्भ में

मौलूराम ठाकुर

एम० ए०

चीनी और तिब्बती भाषाओं में डिप्लोमा

(स्वर्णपदक-विजेता)

सन्मार्ग प्रकाशन

16, यू० बी० बैंग्लो रोड दिल्ली-110007

प्रथम संस्करण : 1975
मूल्य : 40 रुपये
प्रकाशक : सन्मार्ग प्रकाशन
16, यू० बी० बैंग्लो रोड दिल्ली-110007
मुद्रक : प्रिंट आर्ट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आमुख

आज जब मैं निराशा और प्रतीक्षा के ताने-बाने में संजोए जीवन के बीते क्षणों को पीछे मुड़ कर देखता हूँ, तो स्मृति-पटल पर न जाने क्या-क्या स्पष्ट तथा धुँधले चित्र अंकित होने लगते हैं। आज से पूरे पन्द्रह वर्ष पूर्व आशातीत जीवन-पथ पर आज तक का पहला और अन्तिम मोड़ आया था। मैं कार्यालय के लिपिकीय धन्धे से किंचित विमुक्त हो कर अपनी इच्छा के अनुकूल पठन-लेखन व्यवसाय की ओर अग्रसर हुआ और 27 जनवरी, 1961 को भाषा विभाग, पंजाब में भरती हुआ। मैंने अपनी (औटर सिराज) और अन्दरेटा (पालमपुर) के शान्त और बिलकुल ग्रामीण वातावरण से निकल कर तुरन्त पटियाला जैसे भीड़-भड़क्का और वर्तमान वैज्ञानिक साधनों से चका-चौंध शहरी माहौल में प्रवेश किया। सभी कुछ विचित्र था और नया था भाषा विभाग का परिवेश। परमादरणीय ज्ञानी लाल सिंह महा-निदेशक भाषा विभाग के शब्दों में चारों ओर से ऊँची और मजबूत दीवारों से घिरा किला चौक का महान भवन साहित्य तथा साहित्यकारों का गढ़ था। विभाग का मूल कार्य साहित्यिक गतिविधियों से परि-पूर्ण तो था ही, विभिन्न कर्मचारी-अधिकारी भी विभिन्न साहित्यिक रचनाओं में रत थे। उस समय तीन विद्वान वर्तमान हिमाचल के जन-जीवन के सम्बंध में शोध-कार्य कर रहे थे—"कुलुई भाषा का संरचनात्मक अध्ययन", "मण्डियाली बोली का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन", तथा "क्योंथली भाषा और लोक साहित्य"। कुलुई मेरी मातृ-बोली थी, और मण्डियाली और क्योंथली दोनों निकट पड़ौस की बोलियाँ। स्वाभाविक्तः मुझे इन तीनों का अच्छा व्यावहारिक ज्ञान था। मुझे नये वातावरण में सहानुभूतिक सहयोगियों की ज़रूरत थी, और मेरे आदरणीय तीनों विद्वानों को मुझ में तथा-कथित सामान्य बोल-चाल की आवश्यकता प्रत्यक्ष दीख पाई थी। फलतः आरम्भ से ही सौभाग्य से अत्यंत सुखद, उपयुक्त और अनुकूल वातावरण मुझे प्राप्त हुआ।

एक दिन विचार-विमर्श में तल्लीन हुए जब सर्वनामों के बारे में बात हो रही थी, मैं अनथक प्रयत्नों के बावजूद कुलुई में उत्तम-पुरुष सर्वनाम एक वचन कर्तृकारक में प्रयुक्त तीनों शब्दों 'हाऊँ', 'मूँ' और 'में' के प्रयोग के भेद को समझा न सका—हाऊँ रोटी खाआ सा 'मैं रोटी खाता हूँ', मूँ रोटी खाणी 'मैं रोटी खाऊँगा', मैं रोटी खाई 'मैंने रोटी खाई'। मेरे साथियों को बड़ी निराशा हुई, परंतु उनसे भी बड़ा दुःख मुझे हुआ।

उन्होंने अधिक सुरुचिपूर्ण दूसरे विषय लिए और उन पर पी-एच० डी० कर भी ली, परंतु मुझे एक लम्बे संघर्ष के लिए विवश होना पड़ा। उसी दिन से भाषा और भाषा-विज्ञान का अध्ययन मेरा एक मात्र प्रिय विषय रहा है। सभी ओर से ध्यान हटा कर मैंने भाषा के अध्ययन की ओर ही अपने प्रयत्न केन्द्रित किये। मैंने सबसे पहले डॉ० ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण खण्ड नौ, भाग चार को पढ़ा और कई बार पढ़ा। उस समय तक मैंने डा० ग्रियर्सन का नाम भी नहीं सुना था। मेरे हृदय में इन पहाड़ी भाषाओं पर किए डॉ० ग्रियर्सन के कार्य के लिए प्रशंसा के सिवाय कुछ न था। हाँ, स्थान-स्थान पर कुछ व्यावहारिक भूलें देख कर कभी-कभी दुःख होते हुए भी रुचि बढ़ती गई। फलतः पहाड़ी भाषाओं की बोलियों पर छोटी-बड़ी रचना को मैंने शौक से पढ़ा। यही नहीं, भारत की अन्य भाषाओं पर लिखी जो भी रचना या पुस्तक मुझे मिलती उसे मैंने कभी छोड़ा नहीं।

इसी दौरान मुझे पड़ौस की दो महत्त्वपूर्ण विदेशी भाषाओं के अध्ययन का अवसर मिला—तिब्बती और चीनी भाषाएँ। उनके अध्ययन पर मैंने केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की पत्रिका "भाषा", अपने विभाग की पत्रिका "सप्त सिन्धु", तथा "विश्व भारती" आदि अनेक पत्रिकाओं में तिब्बती और चीनी भाषाओं का हिन्दी के साथ तुलनात्मक अध्ययन पर तथा पहाड़ी की विभिन्न बोलियों पर अनेक लेख लिखे। इनका विद्वानों और पाठकों द्वारा न केवल स्वागत हुआ, अपितु कई बार प्रशंसा से भरे पत्रों न मेरे दुर्बल साहस को ढाढ़स बंधायी और मेरे आत्म-विश्वास में वृद्धि की। परिणाम-स्वरूप आज पंद्रह वर्ष के बाद जो कुछ साधना कर सका हूँ, उसे पाठकों के समुख प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता तो हो ही रही है परन्तु साथ साथ भूलों के प्रति सजग होने के कारण भय भी प्रतीत हो रहा है। ऐसे वैज्ञानिक कार्य में, भूलें होना स्वाभाविक है। परंतु मेरी तुच्छ बुद्धि मुझे पुस्तक प्रकाशित करने के लिए विवश करती है, इसलिए कि मेरे पंद्रह वर्षों के प्रयत्नों का जो अंत हो रहा है, वह इस दिशा में कार्यरत असंख्य विद्वानों के लिए और अधिक सम्पूर्ण और श्रेष्ठतर कार्य के लिए सम्भवतः सहायक सिद्ध हो। मैं अपनी कमज़ोरियों और पुस्तक में त्रुटियों से अनभिज्ञ नहीं हूँ। परंतु मुझे पूर्ण आशा है कि इस सम्बंध में जो अनेक विद्वान कार्य कर रहे हैं, उन्हें मेरे इन प्रयत्नों से जरूर कुछ सामग्री प्राप्त होगी।

पहाड़ी भाषा इस समय अत्यंत विचित्र स्थिति से गुज़र रही है। कुछ विद्वान इसे भाषा मानने को ही तैयार नहीं हैं। वे जानते हैं, हिमाचल की वास्तविक ग्राम्य-भाषा उन्हें समझ नहीं आती। वे आकाशवाणी शिमला द्वारा प्रसारित प्रादेशिक कार्य-क्रमों, विशेषतः पहाड़ी लोक गीतों के अधिकतर भाग को समझ भी नहीं पाते। परन्तु शहरों से बाहर हिमाचल के गाँवों की कोई भाषा है, इसे मानने को वे तैयार नहीं। ठीक इसके विपरीत ऐसे सज्जनों की बहुतायत है जो ठीक इस धारणा की प्रतिक्रिया में पहाड़ी भाषा के रूप को (कम-से-कम लिखित रूप को) ऐसा रंग देने में लगे हैं कि बाहर के पाठक तो दूर रहे स्वयं यहाँ के मूल निवासी भी पढ़ने में कठिनाई अनुभव करते हैं। यदि यही प्रवृति रही तो पहाड़ी का लिखित रूप हिन्दी से बहुत-बहुत दूर तो जाएगा ही, साथ ही अन्य समस्याएँ भी तीव्र रूप धारण करेंगी। हिन्दी जगत हमेशा अस्पृश्यता

की भावना से ग्रस्त रहा है । उन्हें हर प्रादेशिक भाषाओं के विकास में हिन्दी की शत्रुता दीखती है । उन्हें भारत के जन-मानस की बोली हर समय हर मूल्य पर बाधक नज़र आती है । हिन्दी भाषा की अपनी मौलिक प्रवृति अत्यंत विशाल-हृदय को अपनाए हुए है, परंतु हिन्दी जगत के विद्वान हिन्दी से बाहर की भाषा को न केवल हीन समझते हैं, वरन उनसे अस्पृश रहने की धारणा लिए हुए हैं । वर्तमान भाषा समस्या का यही मुख्य कारण है । अन्यथा यह नितांत स्पष्ट तथा निर्विवाद तथ्य है कि प्रादेशिक भाषाओं के अपनाने में मूल रूप में हिन्दी का अपना विकास निहित है । कम-से-कम मैं पहाड़ी भाषा के सम्बन्ध में दावे से कह सकता हूँ कि यह हिन्दी की प्रतिद्वन्दी नहीं है, न हो सकती है, वरन यह हिन्दी के शब्दकोष और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ को ऐसा मौलिक योगदान देगी कि इससे हिन्दी का खज़ाना समृद्ध और उज्जवल होगा । हिन्दी के समर्थकों की यदि हिन्दी भाषा की तरह विशाल और उदार भावना हो तो न केवल प्रादेशिक भाषाओं का सही अध्ययन और अनुशीलन होगा अपितु इन से हिन्दी को वह योगदान मिलेगा जो उसे विश्व की अद्वितीय भाषा होने के अभीष्ट लक्ष्य के लिए अत्यंत लाभदायक और सहायक सिद्ध होगा ।

मेरा मूल उद्देश्य कुलुई का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन था । उसी प्रयोजन से मैंने कार्य आरम्भ किया था । परंतु ज्यों-ज्यों अध्ययन और कार्यानुशीलन बढ़ता गया, मुझे लगा कि जब तक इस बोली के मूल उद्‌गम पर प्रकाश न डाला जाए, कुलुई का अध्ययन अधूरा रह जाएगा । कुलुई में वे सभी प्रमुख विशिष्टताएँ हैं जो पहाड़ी की मूल प्रवृतियाँ हैं । कुलुई का पहाड़ी भाषा में क्या स्थान है, इस बात का प्रमाण मैं डॉ० ग्रियर्सन के शब्दों द्वारा व्यक्त करना अधिक उचित समझता हूँ । उन्होंने कुलुई में तीन प्रमुख गुण बताएँ हैं :—

(1) कुलुई और क्योंथली-बघाटी (पश्चिमी) पहाड़ी की विशिष्ट बोलियाँ हैं और (पश्चिमी) पहाड़ी की जो प्रमुख विशेषताएँ उल्लिखित हैं, वे इन दोनों बोलियों पर आधारित हैं,

(2) मण्डियाली बोली दक्षिणी कुलुई का एक रूप है, जो आगे चल कर काँगड़ी-पंजाबी में विलीन हो जाती है, और

(3) चम्बयाली बोली कुलुई का वह रूप है जिसका बाद में जम्मू की डोगरी और भद्रवाही के साथ वियन हो जाता है ।

स्पष्ट है कि मण्डियाली, काँगड़ो, चम्बयाली बोलियों का मूलाधार कुलुई है और कुलुई में वे सब गुण हैं जो पहाड़ी को अन्य पड़ौसी भाषाओं से पृथक करते हैं । कुलुई में पहाड़ी के सभी प्रमुख गुण विद्यमान हैं और उन्हें जान लेना पहाड़ी की विशेषताओं से पूर्णतः अवगत हो जाना है । अतः पुस्तक में कुलुई के सभी शब्द-भेदों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है । संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय, शब्द-निर्माण, अर्थ-भेद आदि सभी पहलुओं पर व्यापक प्रकाश डाला गया है । यह सभी कुछ मैं पहाड़ी के बारे में नहीं कर पा सका हूँ, जिस का मुख्य कारण पुस्तक का भारी आकार का भय था । फिर भी पहाड़ी के समस्त शब्द-भेदों से सम्बंधित मुख्य विशेषताओं का पूर्ण अध्ययन किया गया है ।

मूल रूप में पुस्तक का प्रथम भाग पहाड़ी भाषा के उद्भव से सम्बंधित है, जो यथा स्थान शब्द-भेदों पर विवेचन करके अपने-आप में सम्पूर्ण बन गया है। उच्चारण, संज्ञा शब्दों का परिवर्तन, सर्वनाम, विशेषण, क्रियापद तथा अव्यय से सम्बंधित पहाड़ी की विभिन्न बोलियों की विशेषताओं को भी यथा-स्थान सोदाहरण प्रस्तुत करके मूल पहाड़ी का अध्ययन अपने-आप में अनुकूल बन पाया है। परन्तु यह विषय इतना विशाल है कि इसकी सम्पूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता। इसके लिए अधिक समय, अधिक साधन और अधिक शोध और सर्वेक्षण कार्य की अपेक्षा है। पुस्तक जैसे भी बन पाई है, पाठकों और विद्वानों के सामने प्रस्तुत है। पहाड़ी भाषा के अध्ययन में अभी बहुत कुछ किया जाना है। मुझे आशा है कि पाठक और विद्वान अपने अमूल्य सुझावों और त्रुटियों की कमी के निवारण के लिए अपने विचार दे कर मुझे कृतार्थ करेंगे। मैं ऐसे सुझावों और विचारों का हार्दिक स्वागत करूँगा।

पुस्तक की रचना में मैंने अनेक विद्वानों की पुस्तकों का अध्ययन किया है और उनसे सहायता ली है। मैंने उन पुस्तकों का यथा-स्थान पादटिप्पणी सहित उल्लेख किया है। जिनका इस प्रकार उल्लेख नहीं हो सका है, उन्हें संदर्भ-ग्रन्थ सूची में दिखाया गया है। मैं इन सभी पुस्तकों के लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किए बिना नहीं रह सकता।

अपने विषय के वैज्ञानिक अध्ययन में मुझे श्रद्धेय पद्मभूषण डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा से बहुमूल्य मार्ग-दर्शन, सहायता और प्रोत्साहन मिला है। शिमला आने से पूर्व मैं चण्डीगढ़ में उनके चरणों में भाषा विज्ञान सम्बन्धी अनेक विषयों का अध्ययन करता रहा हूँ। मुझे यह लिखते हुए हर्ष और गर्व होता है कि शिमला आने पर भी वर्मा जी 7 अप्रैल, 1970 से वर्ष भर लगातार पत्रों द्वारा मुझे शिक्षा-दीक्षा देते रहे हैं, और समय-समय पर उत्पन्न संदेहों का निवारण करते रहे हैं। उनके पत्र मेरे लिए अमूल्य निधि हैं। उनके निकट सम्पर्क, गम्भीर ज्ञान तथा मेरे प्रति वैयक्तिक रुचि और शिक्षा के लिए कृतज्ञता प्रकट करना मैं परम सौभाग्य समझता हूँ।

मुझे यह लिखते हुए हार्दिक हर्ष होता है कि मुझे साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण कराने का श्रेय आदरणीय श्री हरिचन्द पराशर को है। ग्रामीण वातावरण से निकल कर पटियाला में श्री पराशर जी ने जिस हीन-भावना से निकाल कर मुझे लिखने के लिए प्रोत्साहित किया और समय समय पर साहित्यिक अभिरुचि को उभारने में मेरी सहायता की, उसके लिए मैं उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। वर्तमान विषय के समापन में पराशर जी का बहुत बड़ा हाथ है। उनके साथ एक लम्बी अवधि का सहयोग रहा है और जब कभी मुझे अपने अध्ययन में बाधा पड़ी है, मैं सर्वदा उनसे ही मार्ग दर्शन और समाधान प्राप्त करता रहा हूँ। इन सब के लिए मैं उनका हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

कृतज्ञता-प्रकट करने का यह परम कर्तव्य तब तक पूरा न होगा, जब तक मैं अपने परम-प्रिय सहयोगी और विद्वान मित्र डॉ० बंशीराम शर्मा के प्रति आभार प्रकट न करूँ। उन्होंने न केवल सारी पाण्डुलिपि को पढ़ने का कष्ट किया है, वरन् स्थान-

स्थान पर परिवर्तन-परिवर्द्धन करके पुस्तक को वर्तमान रूप में ढाला है। डाक्टर साहिब "किन्नौरी लोक-साहित्य" पर शोध कार्य कर चुके हैं, जिसमें किन्नौरी भाषा पर उनका विशेष अध्ययन रहा है। मैंने उनके व्यक्तिगत मार्ग-दर्शन के अतिरिक्त उनके शोध-कार्य से अमूल्य सहायता ली है। उनके विद्वतापूर्ण व्यक्तित्व तथा सरल एवं स्नेहपूर्ण स्वभाव और व्यवहार से मैंने जो कुछ प्रोत्साहन एवं ज्ञान प्राप्त किया है, उसके प्रति जितना आभार प्रकट किया जाए, कम है। उनकी सहायता के बिना इस पुस्तक का प्रकाशन इतने शीघ्र सम्भव न होता।

मैं सन्मार्ग प्रकाशन तथा प्रिंट-आर्ट का भी हार्दिक आभारी हूँ। उन्हीं के प्रयत्नों से ही यह पुस्तक साकार रूप धारण कर सकी है। भाषा विज्ञान के संकेतों तथा पहाड़ी भाषा के असाधारण शब्दों के कारण प्रेस को भारी कठिनाई हुई है, मैं इसके लिए प्रकाशक तथा प्रिंटरज़ का बड़ा कृतज्ञ हूँ।

अन्त में मैं हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी और उसके अध्यक्ष माननीय लालचंद प्रार्थी, वन मंत्री, हिमाचल प्रदेश के प्रति भी कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। अकादमी प्रदेश के लेखकों और कलाकारों को प्रोत्साहित करने के पुण्य-कार्य को क्रियान्वित करने में तत्परता से तल्लीन है। अकादमी ने जो प्रोत्साहन मुझे प्रदान किया है, उसके लिए मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

मौलूराम ठाकुर

विषय-सूची

भाग-II

कुलुई

माग I

पहाड़ी भाषा का उद्भव

अध्याय—1

प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ

भारत वर्ष में भाषा का इतिहास जितना जटिल तथा पेचीदा है, उतना ही इसका अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक तथा रुचिकर भी है। ऐतिहासिक तथ्यों से अब यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि भारत में आज जो भाषाएं बोली जाती हैं, वे अधिकांशतया यहाँ के मूल निवासियों की भाषाएँ नहीं हैं, और भारत में आज जो लोग रह रहे हैं, वे अधिकांशत: यहाँ के मूल निवासी नहीं हैं। भाषा-विशेषज्ञों के अनुसार भारत में आज जो भाषाएँ बोली जाती हैं, लग-भग उन सबके मूलाधार में वह भाषा है, जो आर्य लोग विभिन्न समूहों में भारत में प्रवेश करते हुए अपने साथ लाए।

कुछ विद्वानों के अनुसार भारत में सब से पहले आने वाले विदेशी अफ्रीका के नीग्रो थे, परन्तु भारत के मूल-निवासियों से निकृष्ट होने के कारण इनकी भाषा या संस्कृति यहाँ विकसित या स्थायी न रह सकी। सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार, तत्पश्चात् भू-मध्य सागर के आस-पास से प्रॉटो-ऑस्ट्रालाइड जाति के लोग भारत में आए। संथाल, गोंड, भील, कोल और मुण्डा वर्ग की भाषाओं में इन की भाषाओं के प्रभाव अब भी विद्यमान हैं। डॉ० चटर्जी के अनुसार **लाहुल** और **किन्नौरी** आदि भाषाओं में इस जाति की भाषा की कुछ विशेषताएं विद्यमान हैं।[1] इस जाति के लोगों को बाद में आर्यों ने निषाद कहा है। इनके बाद भारत में आने वाले विदेशी भूमध्य सागर के तट के निवासी थे, जो यहाँ द्रविड़ कहलाए, और दक्षिण भारत के द्रविड़ भाषा भाषी इन्हीं की संतान मानी जाती हैं। द्रविड़ लोग नीग्रो तथा प्रॉटो-ऑस्ट्रालाइड से अधिक सुसभ्य और विकसित थे। यह बात उनके स्थायी प्रभाव से प्रकट होती है। द्रविड़ों के बाद मंगोल जाति के लोग भारत में आए, जो चीनी-तिब्बती वर्ग की भाषा बोलते थे, परन्तु इनका प्रभाव उत्तर भारत के पर्वतीय क्षेत्र तक सीमित रहा।

1. डा० सुनीति कुमार चटर्जी : इण्डो-आर्यन एण्ड हिन्दी, पृ० 40

इस प्रकार आर्यों के भारत में आने पर उन्हें भारत के मूल निवासियों के साथ-साथ उपर्युक्त बाहर से आई जातियों की भाषाओं के साथ भी सम्पर्क स्थापित करना पड़ा। परन्तु आर्यों की भाषा अत्यन्त विस्तृत और समृद्ध थी, और परिणामस्वरूप वह अन्य सभी भाषाओं पर छा गई। परन्तु आर्यभाषा के सर्वव्यापी होने के बावजूद भी भारत भर की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में हर स्थान पर कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो हमें आर्य भाषा के किसी भी प्राचीन रूप में उपलब्ध नही होतीं। द्रविड़, मुण्डा, *तिब्बती-बर्मी तथा आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की भाषाएँ तो स्पष्ट रूप में भारत की* आदिवासियों की भाषा के भण्डार के रूप में आज तक सुरक्षित, प्रचलित तथा विकसित होती चली आई हैं, जिन पर आर्य भाषा का प्रभुत्व अधिकार नहीं जमा सका है। परन्तु इन भाषाओं के अतिरिक्त, अन्य जिन आधुनिक भारतीय भाषाओं को आर्य भाषा का रूप माना जाता है उन में भी कई ऐसी ध्वन्यात्मक, व्याकरणीय तथा शब्दकोशीय विशेषताएँ हैं जो आर्य भाषा में उपलब्ध नहीं थीं।

इसका कारण स्पष्ट है। समस्त भारत में आर्यों के आगमन से पहले कई जनपद रहे होंगे। उन जन-पदों की अपनी क्या बोली या भाषा थी, उसका हमें कोई ज्ञान नहीं है। उसका रंग-रूप, नाम-संज्ञा कुछ भी हमारे सामने नहीं है। उसकी कोई कड़ी हम तक पहुँच नहीं पाई है। परन्तु इतिहास के इस लम्बे तथा अथाह समुद्र में उसका अस्तित्व नष्ट हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। निस्संदेह उन जन-पदों की स्पष्ट भाषा अथवा बोली का अभिलेख प्राप्त नहीं है। परन्तु हर आधुनिक भारतीय भाषा में कुछ ऐसी विशेषताएँ विद्यमान हैं, जिन का आधार हमें उन किसी भी प्राचीन या मध्यकालीन भाषाओं में नहीं मिलता जिन से भाषा-विशेषज्ञ वर्तमान भाषाओं का आधार ढूँढते हैं। अतः जो विशेषताएँ अत्यन्त पृथक तथा बिना आधार के लगती हैं उनका आधार स्पष्टतः उन जन-पदों की बोली है जो आर्यों से पहले यहाँ रहते थे या जो यहाँ के मूल निवासी थे। ये विशिष्टताएँ विशेष महत्त्व की हैं, और विद्वानों की एक विचार-धारा स्पष्टतः *इस सुदृढ़ निश्चय की है कि वर्तमान तथाकथित आर्य-भाषाओं का मूलाधार यही आदि* जन-पदों की भाषा है। यही कारण है कि हिन्दी जैसी परिनिष्ठित तथा परिमार्जित भाषा में इस प्रकार की ध्वन्यात्मक, व्याकरणीय तथा शाब्दिक विचित्र स्थितियों को देखते हुए ही श्री किशोरी दास तथा डॉ० रामविलास शर्मा प्रभृति विद्वानों का विचार है कि 'हिन्दी की अनेक विशेषताओं का सम्बन्ध न वैदिक संस्कृत से है, न लौकिक संस्कृत से, न अपभ्रंश से। उनका सम्बन्ध खड़ी बोली क्षेत्र की किसी प्राचीन बोली से ही हो सकता है, और ये विशेषताएँ कुरू जन-पद की किसी प्राकृत में रही होंगी'।[1]

आर्यों के भारत में आने पर उनका यहाँ के मूल निवासियों के साथ संघर्ष हुआ होगा, यह निश्चित है। आर्य विजयी हुए इस में भी कोई संदेह नहीं। परन्तु उन्होंने मूल निवासियों की हर बात—रीति-रिवाज, धर्म-कर्म, भाषा-संस्कृति, बिलकुल जड़ से उखाड़ फेंकी हो, ऐसा विचार करना महान भूल होगी। उनकी संस्कृति एवं सभ्यता मूल आदिवासियों से अधिक विकसित और परिमार्जित थी, और विजयी होने के नाते उनका

1. *डा० रामबिलास शर्मा: भाषा और समाज, पृ०* 144

हर क्षेत्र में पलड़ा भारी रहना स्वाभाविक है। परन्तु आर्यों ने यहाँ के मूल आदिवासियों और उनकी भाषा, संस्कृति एवं सभ्यता को एकदम परिसमाप्त कर दिया हो, ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता। मूल निवासियों तथा नव-आगंतुकों के बीच सम्बन्ध स्थापित हुआ और धीरे-धीरे सुदृढ़ होता गया। सभी क्षेत्र में विजयी आर्यों का बोल-बाला और अन्तिम निर्णय रहा हो, ऐसी बात नहीं है। ऐसी स्थिति में आर्य लोग स्थानीय अनार्य जातियों के प्रभाव से सर्वदा मुक्त न रह सके। समाज में दैनिक जीवन, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, धार्मिक प्रथाएं आदि परम्पराओं की तरह भाषायी क्षेत्र में भी आदान-प्रदान के आधार पर ही सामाजिक संगठन की व्यवस्था चलती रही है। विजयी होने के फलस्वरूप, निस्सन्देह अन्ततः आर्यों की ही सभ्यता और संस्कृति उभर आई परन्तु उसमें अनार्य जातियों के गुणों और विशेषताओं का असाधारण समावेश हुआ। और, यही कारण है कि आज की समस्त भारतीय भाषाओं और बोलियों में अनार्य अवशेष प्रकट होते हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएं

आर्य लोग भारत में सबसे पहले कब आए ? यद्यपि इसके बारे में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह ठीक है कि वे कई समूहों में आए। विद्वानों का विचार है कि उनके आने का समय ईसा-पूर्व दो हजार वर्ष से 1500 वर्ष ईसा-पूर्व रहा होगा। भारत आगमन पर आर्यों की संस्कृति और भाषा का यहाँ के मूल निवासियों की संस्कृति और भाषा के साथ संघर्ष स्वाभाविक था। अतः उन और उनकी संस्कृति का प्रसार सहजता और शीघ्रता से सम्पन्न न हुआ। उन्हें राजनैतिक, सामाजिक, भौगोलिक कई विरोधों का सामना करना पड़ा, और कई शताब्दियों के बाद ही स्थिरता एवं सामान्यता सम्भव हुई होगी। ऐसी परिस्थितियों में उनकी संस्कृति और भाषा का मूल रूप स्थिर न रह सका। ऐसा परिवर्तन स्वाभाविक था और अवश्य ही यह क्रमिक रूप में निष्पादित हुआ। इसी दृष्टि से प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का समय, मोटे रूप से, ईसा-पूर्व 1500 से लेकर 500 ईसा पूर्व तक माना जाता है, और विकास-क्रम के आधार पर इसे दो भागों में बाँटा जाता है :—

(क) वैदिक संस्कृत, और

(ख) लौकिक संस्कृत।

वैदिक संस्कृत का प्राचीनतम रूप 'ऋग्वेद' में मिलता है, जिसे संसार भर के विद्वान एकमत से संसार की सबसे प्राचीन रचना मानते हैं। परन्तु, वैदिक संस्कृत का साहित्य केवल ऋग्वेद तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक विस्तृत साहित्य है जिसे मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जाता है— (1) संहिता, (2) ब्राह्मण, तथा (3) उपनिषद्। संहिता भाग में **ऋग्वेद** का सर्वप्रथम स्थान है। इसमें देवताओं की पूजा के मंत्र हैं, 'जो आर्य-लोग अपने जन्म-स्थान से बहुमूल्य निधि के रूप में भारत में लाए थे और जिन्हें संगृहीत करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इस नये देश में आर्यों का अन्य देवताओं

के असंख्य उपासकों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ था'।[1] **सामवेद** में अधिकांश सूक्त ऋग्वेद से लिए गए हैं जिन्हें गेय पदों में संवारा गया है। ये पूजन-विधि से सम्बन्धित हैं। **यजुर्वेद** में यज्ञों के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित मंत्र संगृहीत हैं। जहाँ अन्य संहिताएँ प्रमुखतः पद्य में हैं, यजुः संहिता में पद्य के साथ-साथ उस समय की भाषा के गद्य रूप का भी प्रदर्शन होता है। मूलतः उक्त तीनों संहिताओं की विषय-वस्तु लगभग समान है। चौथी संहिता **अथर्वेद** में इन तीनों से कदरे भिन्न विषय-वस्तु है। इसमें जनसाधारण में प्रचलित मंत्र, तंत्र, टोने, टोटके संकलित हैं और महत्त्व की दृष्टि से यह ऋग्वेद के बाद दूसरे स्थान पर है, यद्यपि यह सबसे बाद में संकलित है, और बहुत देर तक इसे वेद के रूप में मान्यता प्राप्त न हो सकी। इस संहिता में भारत के मूल निवासियों द्वारा आर्यों से भिन्न असंख्य देवताओं की पूजन-विधि का आर्यों पर हुए प्रभाव का पूर्ण प्रमाण लक्षित होता है।

ब्राह्मण ग्रंथों में धार्मिक विधियाँ और कर्मकाण्ड का ब्यौरा है। प्रत्येक वेद का अपना अलग ब्राह्मण ग्रंथ है। ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक संस्कृत की गद्य शैली को प्रस्तुत करते हैं।

उपनिषद् भाग ब्राह्मणग्रन्थों के परिशिष्ट हैं। इनमें वैदिक ऋषियों के आध्यात्मिक चिंतन का समावेश है।

वेदों की भाषा एक होते हुए भी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सर्वदा समरूप नहीं रही है। ऋग्वेद के आरम्भिक मंत्रों तथा बाद के मंत्रों में ही कुछ अंतर देखा जाता है। इस काल की भाषा को 'छान्दस' भी कहा गया है। ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाओं की रचना भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में हुई मानी जाती है। इनकी रचना के मूल समय के बारे में निश्चय से नहीं कहा जा सकता। विद्वानों का विचार है कि वैदिक ऋचाएं लगभग तीसरी ईसवी शती तक मौखिक रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलती आई हैं। निस्सन्देह सभी वेदों की एक साथ रचना नहीं हुई है, परन्तु जो भाषा इन मंत्रों में है, वह निश्चित रूप से उस समय की या उससे भी पुरानी लोक भाषा है, जब उनका सम्पादन हुआ। परन्तु ज्यों-ज्यों लोक-भाषा मंत्रों की भाषा से अलग होती गई त्यों-त्यों इन्हें संगृहीत करने की आवश्यकता अधिक अनुभव होती गई। ऋग्वेद संहिता के सूक्तों की भाषा में ही कुछ भेद प्रकट होता है। प्रथम मण्डल के सूक्तों की भाषा कुछ बाद की लगती है। तत्पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों और सूत्रग्रन्थों की भाषा क्रमशः विकसित होती गई है।

वैदिक भाषा की विशेषताएँ

(1) वैदिक संस्कृत में **52** मूल ध्वनियाँ हैं, जिनमें से 13 स्वर तथा 39 व्यंजन हैं।

(2) स्वरों में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ नौ मूल स्वर, तथा ए, ऐ, ओ, औ चार संयुक्त स्वर या 'संध्यक्षर' कहे गए हैं। संध्यक्षरों में भी ए, ओ को 'गुण' तथा ऐ, औ को 'वृद्धि' स्वर की संज्ञा दी गई है।

---

1. S. Radhakrishnan : Indian Philosophy, p. 64.

(3) व्यंजनों में 5 कंठ्य (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) 5 तालव्य (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्), 5 मूर्धन्य (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्), 5 दन्त्य (त्, थ्, द्, ध्, न्) 5 ओष्ठ्य (प्, फ्, ब्, भ्, म्) कुल 25 स्पर्श, 6 अन्तस्थ (य्, र्, ल्, ल़्, ल़्ह्, व्), 3 अघोष ऊष्म (श्, ष्, स्), एक सघोष ऊष्म (ह), एक विसर्ग (:), एक जिह्वामूलीय (ह्), एक उपध्मानीय (ह्), और एक अनुस्वार—कुल 39 व्यंजन माने गए हैं।

(4) वैदिक में स्वराघात (accent) का विशेष महत्त्व है। स्वर प्रधान ध्वनि को उदात्त (acute), स्वरहीन को अनुदात्त कहते हैं। इनके आदि, मध्य और अन्त में होने पर आद्युदात, मध्योदात्त तथा अन्तोदात्त संज्ञा दी जाती है।

(5) पूर्व वैदिक काल में 'ऐ' और 'औ' का क्रमशः 'आइ' और 'आउ' उच्चारण था। बाद में इनका आदि दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गया—अइ, अउ। इस प्रकार वैदिक काल में ए, ऐ, और ओ, औ के बीच क्रमशः एॅ और ओॅ ध्वनि का भी संकेत मिलता है। उपरोक्त ध्वनियाँ पहाड़ी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में विद्यमान हैं।

(6) च-वर्ग की ध्वनियाँ आजकल की तरह स्पर्श-संघर्षी नहीं थीं। ये केवल स्पर्श थीं।

(7) त-वर्ग की ध्वनियाँ स्पष्टतः दन्त्य न हो कर कदाचित वर्त्स्य थीं।

(8) ल के साथ-साथ मूर्धन्य 'ल़्' की भी अलग सत्ता थी। इसका महा-प्राण रूप 'ल़्ह्' का भी प्रयोग था। दो स्वरों के बीच 'ड्' तथा 'ढ्' प्रायः ल़् तथा ल़्ह् बन जाते थे।

(9) अन्तस्थ 'व' के अतिरिक्त इस से कदरे भिन्न अन्य ध्वनि भी थी जिसका उच्चारण दन्त्योष्ठ्य था।

(10) वैदिक संस्कृत में मूर्धन्य ध्वनियों (ट, ठ, ड, ढ, ण, ल़्, ल़्ह्) की विशेष प्रधानता थी। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह प्रधानता अनार्य जाति की भाषाओं के सम्पर्क का परिणाम है। इस परिवार की अन्य भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियाँ नहीं हैं। अनार्य ध्वनियों की इस देन की इस बात से भी पुष्टि होती है कि ये ध्वनियाँ क्रमिक रूप से बढ़ती गई हैं। ऋग्वेद की पुरानी ऋचाओं में इनका प्रयोग कम था, परन्तु यजुर्वेद तक इनकी बहुलता हो गई थी।

(11) कुछ विद्वानों ने इस सम्बन्ध में ऋ, र, ल आदि के बाद आने वाले दन्त्य व्यंजनों के मूर्धन्य हो जाने के सिद्धान्त का समर्थन किया है, जैसे—विकृत से विकट, संकृत से संकट, कर्त से काट, मृद से मुण्ड आदि, परन्तु इसमें कई अपवाद होने के कारण इसे सिद्धान्त रूप से माना नहीं जाता।

(12) मूर्धन्य ध्वनियों की तरह ही महाप्राण ध्वनियों का भी विशेष महत्त्व था। वर्तमान हिन्दी 'ह' का उच्चारण प्रायः चार प्रकार का होता था—घोष 'ह', अघोष विसर्ग (:), जिह्वामूलीय 'ह' (जैसे चीनी भाषा का H'aw में H) तथा उपध्मानीय 'ह' जो 'फ़' जैसा उच्चारण देता था।

(13) वैदिक भाषा में तीन लिंग, तीन वचन और आठ कारक थे।

(14) वैदिक काल में शब्दों के रूप दो भागों में विभक्त थे—(1) **'अजन्त'**

जो स्वरान्त होते हैं, जिनमें दोनों ह्रस्व और दीर्घ स्वर होते थे, और (2) **'हलन्त'** जो व्यंजनांत होते हैं।

(15) वैदिक काल में धातु के विविध रूप देखने में आते हैं। इसमें तीन वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन), तीन पुरुष (उत्तम, मध्यम तथा अन्य पुरुष), दो पद (आत्मनेपद तथा परस्मैपद), चार काल (वर्तमान या लट्, असम्पन्न या लङ्, सामान्य या लुङ् और सम्पन्न या लिट्), तथा पाँच भाव (निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावक, अभिप्राय तथा निर्वंध) होते थे।

प्राचीन संस्कृत के दूसरे रूप **लौकिक** संस्कृत का समय मनु की धर्मसंहिताओं से माना जाता है जो लगभग ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी से आरम्भ होता है। कुछ विद्वान लौकिक संस्कृत का आरम्भ ई० पू० आठवीं शताब्दी से मानते हैं। इसे केवल 'संस्कृत', 'क्लासिकल संस्कृत', 'आदि भाषा' या 'देव भाषा' के नाम से भी पुकारा जाता है। **पाणिनि** ने इसी भाषा को लगभग ई० पू० पाँचवीं सदी में व्याकरणबद्ध किया, और सम्भवतः उसी काल से ही इस भाषा का नाम संस्कृत पड़ा।

संस्कृत संसार की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है, और जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है ऋग्वेद संसार की सबसे प्राचीन रचना मानी जाती है। इसमें सभी पाश्चात्य तथा प्राच्य विद्वान सहमत हैं। परन्तु संस्कृत लोक भाषा रही हो, इसके बारे में विद्वानों में मतभेद है। हो सकता है कि संस्कृत किसी समय किसी आर्य-जाति विशेष की मातृ-भाषा रही हो, परन्तु जिस रूप में वह लिखित साहित्य में आज तक विद्यमान है, उसी रूप में बोली जाती रही हो, इसमें भारी संदेह है। इस सन्देह को स्वयं 'संस्कृत' शब्द से भी पुष्टि मिलती है। संस्कृत का अर्थ है 'परिष्कृत' या 'संस्कार की हुई'। स्पष्ट है कि उस समय कई लोक भाषाएं प्रचलित थीं, और उनका संस्कार करके जिस भाषा को व्याकरणादि नियमों में ढाल दिया, वह 'संस्कृत' कहलाई। कम-से-कम जिस रूप में पाणिनि ने संस्कृत को ढाला, और जिन ठोस तथा कठोर नियमों में इसका प्रसारण निर्धारित किया, उस रूप में सम्भवतः कभी भी यह लोक भाषा न रही हो। पाणिनि के बाद सभी संस्कृत साहित्य उस द्वारा प्रतिपादित नियमों के अनुसार ही पूर्णतः शासित रहा। पाणिनि का समय ई० पू० चार सौ वर्ष माना जाता है।

लौकिक संस्कृत में वैदिक काल की ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों को छोड़कर शेष सभी ध्वनियाँ प्रचलित थीं। ए तथा ओ का उच्चारण मूल रूप में था, परन्तु ऐ, औ का उच्चारण अइ, अउ सा हो गया था। इसके अतिरिक्त वैदिक संस्कृत में स्वराघात का बहुत महत्त्व था। स्वराघात के परिवर्तन से अर्थभेद हो जाता है। लौकिक संस्कृत में स्वराघात पूर्णतः समाप्त हो गया था।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएं

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का काल ऋग्वेद के रचना-काल के कुछ समय पूर्व से पाणिनि के समय तक रहा है, अर्थात् 1500

ई० पू० से 500 ई० पू० तक वैदिक तथा लौकिक संस्कृत का समय माना जाता है। ई० पू० 500 वर्ष से मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं ने जन्म लेना आरम्भ किया था। पाणिनि के कठोर तथा स्थिर नियमों का सीधा प्रभाव संस्कृत भाषा पर पड़ा। इन्होंने संस्कृत के विकास को रोक दिया, और परिणाम-स्वरूप यह विद्वान-पण्डितों की रचनाओं तथा उच्च साहित्य तक सीमित हो गई। फलत: पाणिनि के नियम से स्वतंत्र लोक भाषाओं ने स्वच्छन्द रूप से विकसित होना आरम्भ किया।

प्राकृत

लोक भाषाएं अबाध गति से विकसित होती रहीं, और इस विकास के फलस्वरूप जो भाषा सामने आई उसे 'प्राकृत' कहा गया, अर्थात् ऐसी भाषा जो मौलिक (प्राकृतिक), नैसर्गिक रूप से प्रचलित रही और विकसित हुई। मोटे रूप से प्राकृतों का समय ईसा पूर्व 400-500 वर्ष से 1100—1200 ईसवी तक रहा माना जाता है, जिसे तीन कालों में बाँटा जाता है—**प्रथम प्राकृत काल, द्वितीय प्राकृत काल तथा तृतीय प्राकृत काल**। प्रथम प्राकृत का रूप ई० पू० 250 वर्ष के लगभग अशोक के शिलालेखों तथा लगभग ई० पू० 150 वर्ष के पतंजलि के ग्रन्थों में मिलता है। अशोक का समय ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित है, और पूर्णत: प्रचार के उद्देश्य से लिखी शिलालेखों की भाषा निस्सन्देह आम बोल-चाल की भाषा होगी, अन्यथा ऐसी भाषा के शिलालेखों का कोई लाभ न होता जिसे साधारण जनता न समझती। इनकी भाषा निश्चय ही व्याकरण के नियमों के आधार पर नहीं लिखी गई थीं, वरन् यह उस समय की आम बोल-चाल की भाषा थी। प्रथम प्राकृत काल आरम्भ से ईसवी सन् तक माना जाता है। इसकी दो विभाषाएं पूर्वी तथा पश्चिमी प्राकृत थीं, और इनमें से 'प्राच्य' (पूर्वी) प्राकृत को अशोक के राज्यकाल में राज-भाषा होने का सम्मान प्राप्त था। परन्तु शिलालेखों में अशोक ने केवल प्राच्य प्राकृत का प्रयोग नहीं किया, बल्कि स्थान विशेष की विभाषा का प्रयोग किया गया। उदाहरणार्थ जयपुर-वैराट की धर्माज्ञा 'प्राच्य' में, परन्तु गिरनार-काठियाबाड़ की 'सौराष्ट्री' में तथा शाहबाजगढ़ की 'उदीच्य' में हैं। गिरनार की सौराष्ट्री के बारे में विद्वानों के विभिन्न मत हैं—वररुचि के व्याकरण में इसे महाराष्ट्र की प्राकृत होने का आभास मिलता है; हार्नेल के अनुसार यह सम्पूर्ण राष्ट्र की भाषा थी, और मैक्समूलर इसे गंगा-यमुना के बीच के दोआब एवं राजस्थान की लोकभाषा मानने का संकेत करते हैं।

पालि

प्रथम प्राकृत युग की सर्व प्रसिद्ध भाषा **पालि** है। बौद्ध धर्म के अधिकांश ग्रन्थ इसी भाषा में हैं। बुद्ध की पवित्र वाणी का संकलन भी **पालि** में ही किया गया था। परन्तु कुछ विद्वानों का विचार है कि पालि बुद्ध के जीवन काल (छठी सदी ई० पू०) की भाषा नहीं है। पालि साहित्य का मुख्य सम्बन्ध भगवान बुद्ध के प्रवचनों से है, जिन में त्रिपिटक (सुत्त, विनय, अभिधम्म), अनुपिटक आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। धम्मपद

का कुछ भाग भी पालि में है। पालि की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं:—

(1) पालि भाषा अन्य प्राकृतों की अपेक्षा (संस्कृत से भी) वैदिक संस्कृत के अधिक निकट है। वैदिक काल की ळ और ळ्ह दो ध्वनियाँ संस्कृत में नहीं मिलतीं, परन्तु ये दोनों पालि में प्रचलित हैं।

(2) परन्तु फिर भी सरलता की ओर प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। वैदिक भाषा की कठिन ध्वनियाँ जैसे ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ, श, ष पालि में नहीं मिलतीं। श, ष तथा स के स्थान पर केवल स का प्रयोग होता था।

(3) वैदिक के चार प्रकार की 'ह' की ध्वनियों में से केवल घोष 'ह' ही स्थान प्राप्त किए हुए है। शेष लुप्त हो गई थीं।

(4) ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' की स्पष्टतः अलग ध्वनियाँ बन गई थीं। ऐ, औ के स्थान पर ए, ओ का ही प्रयोग होता था—ऐरावण > एरावण, गौतम > गोतम।

(5) दो स्वरों के बीच के 'ड' और 'ढ' क्रमशः 'ळ' और 'ळ्ह' में बदल जाते थे।

(6) प्रायः अघोष व्यंजनों की सघोष व्यंजनों में बदलने की प्रवृत्ति थी, जैसे 'क' 'ग' में, 'च' 'ज' में, 'थ' 'ध' में प्रायः बदल जाते थे।

(7) संयुक्त व्यंजन केवल ह्रस्व स्वर के बाद ही प्रयुक्त होता था—मार्ग > मग्ग, आर्य > अय्य, कार्य > कय्य, पूर्ण > पुन्न, चूर्ण > चुण्ण। चूँकि संयुक्त व्यंजन केवल ह्रस्व स्वर के बाद आते हैं, अतः मैत्री > मे॑त्ती, ओष्ठ > ओ॑ट्ठ जैसे उदाहरणों में स्पष्ट हो जाता है कि ए तथा ओ के ह्रस्व और दीर्घ दो-दो रूप थे।

(8) संस्कृत के हलन्त प्रातिपदिक लुप्त हो रहे थे। व्यंजनों के आगे स्वर जोड़े जाते थे, जैसे—आपद् > आपा, विद्युत > विज्जु आदि। विभिन्न कारकों और वचनों में इनके रूप स्वरान्त प्रातिपदिकों के समान निष्पन्न हुए।[1]

(9) वैदिक एवं संस्कृत के धातु रूपों की विविधता प्रायः सुरक्षित रही है। परन्तु आत्मनेपद धीरे-धीरे लुप्त हो रहा था।

द्वितीय प्राकृत

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, प्रथम प्राकृत का समय अनुमानतः पाँचवीं सदी ई० पू० से ईसवी सदी तक माना जाता है। ईसवी सदी से **दूसरा प्राकृत** काल आरम्भ हुआ माना गया है तथा यह लगभग 500—600 ईसवी सन् तक चलता रहा है। जब प्राकृत का विकास बढ़ता गया तो स्थान के आधार पर यह कई भागों में विभक्त हो गई। पश्चिमी और पूर्वी रूप में तो यह पहले ही बट चुकी थी। अब प्राकृत मुख्यतः पाँच रूपों में विकसित हुई—शौरसेनी प्राकृत, मागधी प्राकृत, अर्ध-मागधी प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत तथा पैशाची प्राकृत।

(1) शौरसेनी प्राकृत

उपर्युक्त पश्चिमी प्राकृत का प्रधान रूप 'शौरसेनी' था। जैसा कि नाम से ही

1. डा० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० 81।

स्पष्ट है यह शूरसेन प्रदेश या मथुरा के आस-पास के मध्य देश की भाषा थी और यह वह स्थान है जो वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत और **पालि** का गढ़ था। पालि के स्थानीय रूप से शौरसेनी प्राकृत विकसित हुई । और यह संस्कृत की समकक्ष परिनिष्ठित भाषा थी। व्याकरण तथा साहित्य के आधार पर यह उस समय की सबसे परिनिष्ठित भाषा मानी जाती है। इसके उदाहरण अश्वघोष नाटक, कर्पूरमंजरी के गद्यभाग हैं। भास, कालिदास आदि संस्कृत नाटककारों के मध्यवर्गीय तथा स्त्री पात्र इसी प्राकृत का प्रयोग करते हैं। कुछ जैन ग्रन्थों में भी जैन-धर्म का साहित्य शौरसेनी में सुरक्षित है। गद्य क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व है। मैक्समूलर के अनुसार जहाँ महाराष्ट्रीय प्राकृत का प्रयोग पद्य में होता था, वहाँ शौरसेनी साहित्यिक गद्य की भाषा है । इसकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) कवर्ग, चवर्ग तथा तवर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण (क, ग, च, ज, त, द) प्राय: स्वर में बदल जाते हैं, या लुप्त हो जाते हैं—लोक>लोअ, नगर>णअर, रजत>रअद, भोजन>भोअण, रसातल>रसाअल, हृदय>हिअअ आदि।

(2) 'न' प्राय: 'ण' में बदल जाता है—जानाति>जाणादि, नाथ>णाध, नयन>णअण, निद्रा>णिद्धा ।

(3) दो स्वरों के बीच 'त' वर्ण 'द' में तथा 'थ' वर्ण 'ध' में बदल जाते हैं, जबकि द और ध ध्वनियों में कोई परिवर्तन नहीं आता—गच्छति>गच्छदि, आगत:>आगदो, कृत>कद, रजत>रअद, कथय>कधोहि, नाथ>णाध आदि।

(4) य को ज में बदलने की प्रवृत्ति है—यथा>जधा, योग्य>जोग्ग, यम> जम, यात्रा>जात्रा।

(5) 'श' तथा 'ष' प्राय: 'स' में बदल जाते हैं—शब्द>सद्द, पाषाण>पासाण, शिक्षित>सिक्खित, सशंक>ससंक ।

(6) स्वरों के मध्य में कवर्ग, तवर्ग, तथा पवर्ग के महा-प्राण वर्ण (ख, घ, थ, ध, फ, भ) प्राय: 'ह' में बदल जाते हैं—मुख>मुह, मेघ>मेह, रुधिर>रुहिर, नभ>नह, दधि>दहि, भवति>होदि ।

(7) प, ब तथा व का कभी कभी लोप हो जाता है—भवति>होदि, रूप> रूअ, दिवस>दिअह ।

(8) 'क्ष' को 'क्ख' में बदलने की प्रवृत्ति है—कुक्षि>कुक्खि, इक्षु>इक्खु, अक्षि>अक्खि, शिक्षित>सिक्खित।

(9) स्वरों के मध्य में ट तथा ठ प्राय: ड तथा ढ में बदल जाते हैं—पट>पड, पठन>पढण ।

(10) ष्ट और ष्ठ वर्ण ट्ठ में बदल जाते हैं—दृष्टि>दिट्ठि, सुष्ठ>सुट्ठु ।

(11) स्त, स्थ प्राय: त्थ में बदलते हैं—अस्ति>अत्थि, हस्त>हत्थ ।

(12) तवर्ग को चवर्ग या टवर्ग हो जाने की प्रवृत्ति है—तिष्ठिति>चिट्ठदि, सत्य>सच्च, अद्य>अज्ज, मध्य>मज्झ, मृत्तिका>मिट्टिअ, वृद्ध>बुड्ढ, पतित> पडिद, प्रथम>पढम ।

(2) मागधी प्राकृत

पूर्व कथित प्रथम पूर्वी प्राकृत की प्रमुख भाषा 'मागधी' थी। यह बिहार के दक्षिण में मूलतः मगध प्रदेश और उसके आस-पास के क्षेत्र की भाषा थी। प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण वररुचि तथा हेमचन्द्र के अनुसार मागधी प्राकृत शौरसेनी का परिवर्तित रूप है। पालि भाषा इसी का प्राचीन रूप है। भगवान बुद्ध ने मागधी में ही अपने उपदेश दिए। पूर्वी तथा उत्तरी भारत के शिलालेखों की भाषा प्रायः मागधी ही है। संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्रों की भाषा शौरसेनी की तरह मागधी भी है। मृच्छकटिक संस्कृत नाटक में निम्न पात्रों की भाषा में इसी का प्रयोग हुआ है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) ष और स प्रायः 'श' में बदल जाते हैं—शुष्क >शुश्क, समर >शमल, सप्त >शंत, पुरुष >पुलिश आदि।

(2) र के स्थान पर सर्वत्र ल का प्रयोग होता है—राजा >लाजा, पुरुष > पुलिश, समर >शमल।

(3) कहीं-कहीं शौरसेनी के उलट 'ज' को 'य' हो जाता है—जानाति >याणादि, जनपद >यणवद।

(4) 'झ' को 'य्ह' हो जाता है—झटिति >य्हति।

(5) स्थ और र्थ के स्थान पर प्रायः 'स्त' प्रयुक्त होता है—उपस्थित > उवस्तिद, अर्थवती >अस्तवदी।

(6) क्ष >श्क; जैसे—पक्ष >पश्क, प्रेक्षते >प्रेश्कदि।

(6) प्रथम कर्त्ताकारक एक वचन पुल्लिग तथा नपुंसक में संस्कृत विसर्ग (:) की जगह 'ए' का प्रयोग मिलता है—देवः >देवे, सः >शे।

(7) ण्य, न्य, ज्ञ या ञ्ज इन सबके स्थान पर ञ्ञ हो जाता है—पुण्य >पुञ्ञ, अन्य >अञ्ञ, राज्ञः >लञ्ञो, अञ्जलि >अञ्ञलि।

(8) र्ज, र्य, द्य के स्थान पर प्रायः य्य का प्रयोग मिलता है—अर्जुन >अय्युण, आर्य >अय्य, अद्य >अय्य कार्य >कय्य।

(9) कर्त्ता-कारक पुल्लिग की 'ए' विभक्ति चिह्न तथा 'र' के 'ल' में बदलने की प्रवृत्ति आरम्भ में मागधी को पहचानने के लिए पर्याप्त समझी जाती थी, परन्तु इसमें कुछ अपवाद भी हैं।

(10) च्छ प्रायः श्च में बदल जाता है—गच्छ >गश्च, पृच्छ >पुश्च।

(11) अधिकरण एक वचन में 'आहि' तथा सम्बन्ध कारक एक वचन में 'अह' (आह) प्रत्यय लगते हैं—प्रवहणे >पवहणाहि, चारुदत्तस्य >चालुदत्ताह।

(3) अर्ध-मागधी

शूरसेन और मगध प्रदेश के मध्य में तठस्थ क्षेत्र की भाषा 'अर्ध-मागधी' थी। अर्थात् शौरसेनी तथा मागधी प्राकृतों के बीच के भाग में दोनों की मिश्रित भाषा प्रचलित

थी, परन्तु जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है इसका अधिक झुकाव मागधी की ओर था। इसकी पश्चिमी सीमा वर्तमान इलाहाबाद के निकट थी, परन्तु पूर्वी सीमा के बारे में निश्चय से कहा नहीं जा सकता। जैन-धर्म के प्रवर्तक भगवान् महावीर ने अर्ध-मागधी में ही अपने उपदेश दिए थे। जैन ग्रन्थों की अधिकतर अर्ध-मागधी भाषा है। इसका प्राचीनतम रूप 'अश्वघोष' में मिलता है। मुद्राराक्षस में भी इसका प्रयोग मिलता है। इसकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) श तथा ष के स्थान पर 'स' मिलता है—राजेश्वर > रातीसर, श्रावक > सावक।

(2) स्वरों के बीच स्पर्श का अन्य प्राकृतों में लोप मिलता है, परन्तु अर्ध-मागधी में इसका लोप न होकर यह 'य' में बदल जाता है—सागर > सायर, स्थित > ठिय, कृत > कय। इसको 'य' श्रुति कहते हैं।

(3) अन्त तथा मध्य में कवर्ग प्रायः तवर्ग में बदलने की प्रवृत्ति रखता है—आराधक > आराहत, नरकात > नरतातो, अतिग > अतित, सामयिक > सामातित।

(4) इसी तरह मध्य तथा अन्त में चवर्ग को भी तवर्ग में बदलने की प्रवृति है—प्रवचन > पावतण, पूजा > पूता, राजेश्वर > रातीसर, चिकित्सा > तेइच्छा।

(5) शौरसेनी और मागधी की मिश्रित भाषा होने का प्रमाण दो बातों से स्पष्टतः मिल जाता है—प्रथम, इसमें 'ल' तथा 'र' दोनों ही ध्वनियां प्रचलित हैं, दूसरे कर्त्ताकारक एक वचन का रूप कहीं शौरसेनी की तरह ओकारान्त होता है और कहीं मागधी की तरह एकारान्त।

(6) पूर्वकालीन (जैसे पालि) प्राकृतों के संयुक्ताक्षरों की प्रधानता कम होती जा रही थी। अर्ध-मागधी में संयुक्ताक्षर से पूर्व का स्वर जो ह्रस्व होता था, दीर्घ हो जाता है और संयुक्ताक्षर असंयुक्ताक्षर हो जाता है। जैसे—वर्ष > वस्स > वास, कर्तुम > काउँ।

(4) महाराष्ट्री प्राकृत

प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने प्राकृतों में महाराष्ट्रीय को सबसे परिनिष्ठित बताया है। जैसाकि पहले भी संकेत किया गया है, इसके मूलस्थान तथा सीमाक्षेत्र के बारे में मतभेद है, परन्तु इसे प्रायः महाराष्ट्र की भाषा ही अधिकतया माना जाता है। साहित्यिक प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत ही सबसे उत्कृष्ट, अप्रतिम तथा सर्वाधिक विकसित भाषा थी। गाथासप्तशती (गाहासत्तसई), रावणवहो, वज्जालग्ग, गउडवहो आदि ग्रन्थ इसकी महान रचनाएँ हैं। डा० ग्रियर्सन इसे अर्ध-मागधी के निकट की मानते हैं, परन्तु डा० मनमोहन घोष इसे शौरसेनी की उत्तर-कालीन शाखा मानते हैं। यह आरम्भ से ही पद्य की भाषा रही है, और इसमें काव्य के सभी रूप रचे मिलते हैं। कालिदास तथा हर्ष आदि के नाटकों के गीतों की भाषा प्रायः महाराष्ट्री ही है। पाँचवी और छटी सदी में इसमें गद्य भी अधिक मात्रा में लिखा मिलता है। इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) दो स्वरों के बीच आने वाला अल्पप्राण स्पर्श (क, त, प, ग, द, ब) प्रायः

लुप्त हो जाता है अथवा स्वर में बदल जाता है—प्राकृत > पाउअ, गच्छति > गच्छई, लोकस्मिन > लोअस्मि ।

(2) इसी तरह दो स्वरों के बीच यदि महाप्राण स्पर्श हों (ख, घ, थ, ध, फ, भ) तो उनका 'ह' हो जाता है—क्रोध > कोहो, कथयति > कहेइ, प्राभृत > पाहुइ ।

(3) ऊष्म ध्वनियाँ (श, ष, स) प्रायः 'ह' में बदल जाती हैं—पाषाण > पाहाण, तस्य > ताह, अनुदिवसं > अनुदिअहं ।

(4) अपादान एकवचन में प्रायः 'अहि' प्रत्यय लगता है—दुरात > दूराहि ।

(5) क्रिया के कर्मवाच्य का 'य' प्रत्यय 'इज्ज' में बदलता है—गम्यते > गमिज्जइ, पृच्छयते > पुच्छिज्जइ ।

(6) अधिकरण एक वचन के रूप 'म्मि' या 'ए' से बनते हैं— लोकस्मिन > लोअम्मि ।

(7) 'आत्मन्' का प्रतिरूप महाराष्ट्री में 'अप्प' हुआ है ।

(5) पैशाची प्राकृत

डा० ग्रियर्सन के अनुसार पैशाची अविभाजित भारत के पश्चिम-उत्तर प्रदेश में अफगानिस्तान तथा बलोचिस्तान के निकट ईरानी भाषाओं की सीमा के साथ-साथ बोली जाती थी । वे इसे सिन्धु नदी के तट पर बोली जाने वाली प्राचीन संस्कृत से विकसित हुई मानते हैं । यह पिशाच जाति की भाषा थी । पिशाच जाति को महाभारत काल से ही समाज में निकृष्ट स्थान प्राप्त है । महाभारत के शान्ति पर्व में उन्हें म्लेच्छ कहा गया है । इन्हें राक्षस, भूत, प्रेत का दर्जा दिया जाता था । इसीलिए भाम्मट जैसे विद्वानों ने इस भाषा को भूतभाषा या भूतवचन, भूतभाषित भी कहा है । वररुचि इसका आधार संस्कृत मानते हैं, तथा शौरसेनी को पैशाची का मूल कहते हैं । पुरुषोत्तम देव इसे संस्कृत तथा शौरसेनी का विकृत रूप मानते हैं । हार्नेल के अनुसार यह एक द्रविड भाषा है । मैक्समूलर के अनुसार पैशाची वास्तव में कोई भाषा नहीं है बल्कि बर्बर जातियों के अशुद्ध उच्चारण के कारण प्राकृत का ही एक अपभ्रष्ट रूप है । इस भाषा का सर्वोत्तम रूप महाकवि गुणाढ्य (बिक्रमी दूसरी शती के आस-पास) की बृहत्कथा (बड्डु कहा) में मिलता है । 'हम्मीरमर्दन', 'मोहराज पराजय' आदि नाटकों के कुछ पात्र पैशाची प्राकृत का ही प्रयोग करते हैं । इसकी मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं :—

(1) पैशाच में स्वरों के बीच स्पर्श घोष व्यंजन प्रायः अघोष में बदल जाते हैं—नगर > नकर, राजा > राच, गगन > गकन, मेघः > मेखो, माधवः > माथवो ।

(2) लकार को ळकार हो जाता है, विशेषतः स्वरों के मध्य में—शील > सीळ, कुल > कुळ, जल > जळ ।

(3) बहुत से प्राकृतों में 'न' का लोप हो जाता है या, कम से कम, 'ण' की अपेक्षा इसका प्रयोग बहुत कम होता है, परन्तु पैशाची में 'न' सुरक्षित है, तथा इसका प्रयोग भी अधिक है, बल्कि 'ण' को 'न' में बदलने की प्रवृत्ति है—गुण > गुन, तरुणी > तलुनी आदि ।

(4) 'द' के स्थान पर अधिकतः 'त' का प्रयोग होता है—दामोदर > तामोतर, कन्दर्प > कंतप्प, सद् > सत, मदन > मतन, वदनं > वतनं।

(5) 'श' प्रायः स में तथा 'ष' प्रायः 'श' या 'स' में बदल जाता है—विषम > विसमो,तिष्ठति > चिश्तदि, केषु>केसु, परिहृतेषु > परिहितेसु।

(6) एक अन्य दृष्टि से भी पैशाची दूसरी प्राकृतों से बिल्कुल भिन्न है। कई प्राकृतों में, जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, स्वरों के बीच स्पर्श व्यंजन लुप्त होते हैं, ऐसी प्रवृत्ति पैशाची में देखने को नहीं मिलती।

(7) 'ल' प्रायः अपना स्थान 'र' या 'ड़' में बदलता है—अंगुलि > आंगुड़, बिडाल > बराड़।

(8) 'ष्ट' प्रायः 'ट्ठ' या 'सट' में बदलता है—'दृष्ट—तिट्ठ, नष्टव > नट्ठुना; परन्तु, नष्ट>नसट।

(9) पूर्वकालिक प्राकृत भाषाओं में संयुक्त अक्षरों की बहुलता है। जब संयुक्त अक्षर साधारण हो जाते हैं तो प्रायः उनसे पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है। परन्तु पैशाची में इस तरह का दीर्घीकरण प्रायः नहीं होता (यद्यपि उदाहरण मिल सकते हैं), जैसे—उष्ट्र> उट, कुक्कुट > कुकुड़,अष्ट > अठ, सप्त > सत आदि।

(10) 'स्न' प्रायः 'सन' बन जाता है— स्नात 7 सिनात।

(11) पैशाची की बहुत सी बोलियों में मूर्धन्य और दन्त्य स्पर्श व्यंजनों में स्पष्ट भेद नहीं होता। लिखित साहित्य में एक ही शब्द को विभिन्न लेखक कभी दन्त्य में लिखते हैं और कभी मूर्धन्य व्यंजन में।[1] वास्तव में मूल ध्वनि दोनों के बीच की है। यह स्थिति किसी हद तक चीनी भाषा में भी है।

(12) पैशाची में 'ज्ञ', ण्य, तथा न्य प्रायः ञ्ञ में बदल जाते हैं, जैसे प्रज्ञा> पञ्ञा, संज्ञा>सञ्ञा, सर्वज्ञ >सव्वञ्ञ, ज्ञान >ञान, पुण्य>पुञ्ञ, कन्यका>कञ्ञका।

(13) दरद पैशाची में सघोष महाप्राण (घ, झ, ढ, ध, भ) व्यंजन नहीं है।[2] (परन्तु हेमचन्द्र ने जिस चूलिका पैशाची का वर्णन किया है, उसमें उन्होंने इन व्यंजनों का उल्लेख किया है)।

(14) दूसरी प्राकृतों में 'य' प्रायः 'ज' में बदलता है, परन्तु पैशाची में 'य' व्यंजन 'ज' में नहीं बदलता— यदि>यति, हृदय>हितयक।

अन्तिम चरण की प्राकृतें जो मूल प्राकृतों अर्थात् प्रथम तथा दूसरे काल की प्राकृतों से बहुत भिन्न थीं, अपभ्रंश कहलाई थीं। उन पर विचार करने से पूर्व प्रथम दो चरणों के मुख्य तथा समान गुणों की ओर संकेत करना उचित होगा। चाहे प्राकृतों का आरम्भ, जैसा कि विभिन्न विद्वानों में मतभेद है, 600 ई० पू० से हो या 500 ई० पू०, 300 ई० पू० या कुछ विद्वानों के अनुसार एक सदी ई० पूर्व से, एक बात स्पष्ट है कि इनका आरम्भ आकस्मिक नहीं हुआ। जब वैदिक तथा पाणिनीय संस्कृत का बोल-बाला था, तब भी प्राकृतकों का कोई न कोई रूप स्थान-विशेष पर अवश्य था। चाहे केन्द्रीय

1. डा० ग्रियर्सन : पिशाच लैंग्वेजिज आफ नार्थ-वेस्टर्न इण्डिया, पृ० 18.
2. वहीं, पृ० 17

स्थानों पर तथा शिक्षित वर्ग में वैदिक और पाणिनीय संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, परन्तु केन्द्र से दूर साधारण जनता में आम बोलचाल की भाषा वैदिक तथा पाणिनीय संस्कृत से भिन्न थी, वे धीरे-धीरे पनप रही थीं, और अपना वास्तविक रूप उन्होंने तभी दिखाया जब पाणिनि ने संस्कृत को व्याकरण के सिद्धान्तों में जकड़कर इसकी प्रगति को रोक दिया, इसे आम जनता से अलग कर दिया और केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित कर दिया।

यह स्थिति ठीक ऐसी ही थी जो वर्तमान हिमाचल प्रदेश की है। शहरों में (या तथा-कथित शहरों में) हिन्दी का आम प्रयोग है, और यदि शहरों तक की भाषा का रूप निर्धारण सीमित हो तो हिन्दी हिमाचल की भाषा मानने में कठिनाई नहीं। परन्तु वास्तविक स्थिति बिल्कुल भिन्न है। ज्योंही शहरों से कदम छोड़कर देहातों में प्रवेश करें उन्हीं हिन्दी भाषा-भाषियों को अपना मुँह बदलना पड़ता है, और उन लोगों की भाषा का सहारा लेना पड़ता है जिनके साथ सम्बन्ध पड़ता है। इस बात पर आगे उचित स्थान पर विचार किया जाएगा। यहां केवल इतना स्पष्ट करने का उद्देश्य है कि प्राकृतों के विकास को समझने में हिमाचल की उपभाषाओं से स्पष्ट सहायता मिलती है।

सभी प्राकृतों की विभेदक विशेषताओं के अतिरिक्त इनमें कुछ सामान्य लक्षण थे, जिन्हें संक्षेप में नीचे प्रस्तुत किया जाता है :—

(1) सभी प्राकृतों में तीन प्रकार के शब्दों का मिश्रण मिलता है। इस सम्बन्ध में भरत-नाट्यशास्त्र में लिखा है "समान शब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च"। समान से अभिप्राय यहाँ तत्सम तथा विभ्रष्ट से तद्भव शब्दों से है। इस प्रकार प्राकृतों में संस्कृत तत्सम, तद्भव तथा देशी शब्दों का प्रयोग है।

(2) आरम्भिक अवस्था में प्राकृत भाषाएं संश्लिष्ट थीं और कठोर संयुक्त व्यंजनों की इन में प्रधानता थी। दूसरे चरण में भाषा संश्लिष्ट ही रही परन्तु सन्ध्यक्षरों तथा कठोर संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग कम था। अन्तिम अवस्था में स्वरों की अधिकता थी, कठोर संयुक्त अक्षरों का अभाव हो गया। इस अवस्था तक प्राकृतें केवल स्वरों का संग्रह-मात्र रह गई थीं।

(3) एक बार फिर संश्लिष्ट से विश्लिष्ट की ओर प्रवाह हुआ। संयुक्त अक्षर पुनः प्रयोग में आए, परन्तु अब यह निर्माण इतना कठोर नहीं था।

(4) प्राकृतिक काल से वैदिक तथा लौकिक संस्कृत की संयोगात्मक विशेषता वियोगात्मक में बदल गई। संस्कृत की विभक्तियों के स्थान पर कारक चिह्नों और प्रत्ययों का प्रयोग होने लगा। इन कारक चिह्नों की अलग सत्ता बन गई।

(5) संस्कृत में क्रियाओं की अधिकता थी, परन्तु प्राकृत में सहायक क्रियाओं का प्रयोग आ गया, और यह सहायक क्रियाओं की प्रवृति आधुनिक भाषाओं तक तेजी से बढ़ती गई।

(6) धातु रूपों में आत्मनेपद धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

(7) लकारों की संख्या कम होती जा रही थी। लङ्, लिट् तथा लुङ् के रूप समाप्त हो गए।

(8) वचन केवल दो रह गए। द्विवचन का प्राय: लोप हो गया।

(9) चतुर्थी विभक्ति का प्राय: लोप हो गया। वररुचि का कहना है "चतुर्थ्याः सर्वशब्देषु षष्ठ्यादेशः प्रयुज्यते"—इस प्रकार चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग होने लगा और वर्तमान समय तक (जैसे हिन्दी में) चौथी तथा दूसरी विभक्तियाँ साधारणतः समान हो गई। पहाड़ी की विभाषाओं में तो प्राय: दोनों के लिए एक ही प्रत्यय हैं।

(10) प्राकृत युग में श्रुति का विशेष महत्त्व हो गया। उच्चारण की तीव्रता के कारण प्राकृत के अन्तिम काल में दो स्वरों के बीच य—व श्रुतियों का समावेश हो गया। प्राकृतों में दो स्वरों के बीच स्पर्श व्यंजनों का लोप इसी का संकेत है। पहाड़ी भाषा में यह प्रवृत्ति और बल पकड़ गई है। इसे आगे 'कुलुई' के अन्तर्गत श्रुति के अधीन देखा जाएगा।

(11) भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में उल्लिखितहै कि प्राकृत में ऐ,औ,विसर्ग(:), श, ष, ङ, ञ तथा न लुप्त हैं। परन्तु इसमें कुछ अपवाद हैं। प्राकृतों में ऐ, औ. विसर्ग (:), प्राय: लुप्त हैं, परन्तु जैसा कि पिछले पृष्ठों से स्पष्ट है श, ष सभी प्राकृतों में लुप्त नहीं हैं, ञ का प्रयोग भी मिलता है। पैशाची प्राकृत में 'न' का प्रयोग भी बहुलता से होता है।

(12) प्राकृतों में ऋ, ॠ, लृ, का प्रयोग नहीं मिलता। इसी तरह 'क्ष' का भी लोप हो गया था।

(13) य, र, ल के प्रयोग में भी समान सिद्धान्त नहीं है। ये आपस में बदलते रहते हैं। 'य' प्राय: सभी प्राकृतों में 'ज' में बदल जाता है।

(14) प्राकृतों में ऊपर का र् (रेफ) नहीं होता।

(15) महाप्राण स्पर्श प्राय: 'ह' में बदल जाते हैं।

(16) मध्य भारतीय आर्य भाषा के संक्रान्तिकाल (२०० ई० पू० से ३०० ई) में **स्वरमध्यग** अघोष स्पर्श व्यंजन सघोष होने लगे थे। तब क—ख, ट—ठ, त—थ, प—फ क्रमशः ग—घ, ड—ढ, द—ध, ब—भ में बदलने लगे। यह प्रवृत्ति बढ़ती गई और यही बदले हुए सघोष व्यंजन धीरे-धीरे प्राण-ध्वनि में बदल गए, यद्यपि लिखित रूप में इनका अलग चिह्न न था, परन्तु ये ऊष्म ध्वनि की ओर तेज़ी से बदलते गए, और इनमें इतनी शिथिलता आ गई कि वे प्राय: लुप्त हो गए या स्वर में बदल गए :—

[1]शुक = सुग = सुग़ = सुअ
मुख = मुघ = मुघ़ = मुह
हित = हिद = हिद़ = हिअ
कथा = कधा = कधा़ = कहा
अपर = अबर = अब़र = अअर

1. मैक्समूलर : भाषा विज्ञान, अनु० —डा० उदयनारायण तिवारी, पृ० 429.

(17) इसी तरह व्यंजनों के समान ही धातु-रूपों में भी सरलीकरण हो गया। संस्कृत में अ-कारान्त, इ-कारान्त, ई-कारान्त, उ-कारान्त आदि स्त्रीलिंग, पुल्लिग, नपुंसकलिंग के भिन्न-भिन्न विभक्ति रूप बनते थे। शब्दरूपों की ये विभिन्नताएं धीरे-धीरे समाप्त होती गईं, और प्राकृतों के उत्तरकाल में सभी शब्दों के रूप प्रायः अकारान्त शब्द के समान निष्पन्न होने लगे।

(3) तृतीय प्राकृत अर्थात् अपभ्रंश

प्राकृतों का आरम्भ बड़े स्वाभाविक तथा प्राकृतिक रूप से हुआ था, और यह क्रमिक विकास आम जनता की बोल-चाल में प्रवाहित हुआ था, परन्तु ज्यों ही यह भाषा आम बोल-चाल से लेखनी के अधीन आयी और इस में साहित्य लिखा जाने लगा, तो प्राकृतों को भी वैदिक एवं पणिनीय संस्कृत के भाग्य का सामना करना पड़ा। वे भी अपनी पूर्वजों की तरह व्याकरण के सिद्धान्तों में जकड़ने लगीं। परिणामस्वरूप उन्हीं का एक अलग रूप साहित्यिक तथा व्याकरणीय धारणाओं से दूर पनपता रहा, जिसके संरक्षक थे अशिक्षित वर्ग। उनकी भाषा प्राकृत से भिन्न **'अपभ्रंश'** कहलाने लगी। इसे अपभ्रंश का नाम भी शिक्षितों की ही देन थी जो इसे व्याकरणीय सिद्धान्तों से पथभ्रष्ट अर्थात् अपभ्रष्ट कहने लगे। अपभ्रंश का शाब्दिक अर्थ 'बिगड़ा हुआ', 'गिरा हुआ' है, और भाषाई क्षेत्र में इसका तात्पर्य असाधु भाषा से है। वास्तव में अपभ्रंश शब्द वही हैं जो संस्कृत, प्राकृत आदि से आए हैं, परन्तु उनका रूप बिगड़ गया है। महाभाष्य में एक स्थान पर लिखा है—**'एकैकस्य गोशब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवं बहवोऽपभ्रंशा"** अर्थात् एक ही 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि बहुत से अपभ्रंश शब्द हैं। इस दृष्टि से संस्कृत शब्द का बिगड़ा रूप अपभ्रंश कहलाया। सम्भवतः चण्ड पहला वैयाकरण था जिस ने भाषा के रूप में अपभ्रंश का प्रयोग किया। परन्तु सर्वप्रथम हेमचन्द्र ने ी इसे व्याकरण के नियमों में ढाला। हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृतों के अतिरिक्त एक और भाषा भी थी जो भारत के विभिन्न अंचलों में बोली जाती थी, जिसे उसने अपभ्रंश नाम दिया। इन बोलियों में उल्लेखनीय थीं—आभीरी, बाहलिका, पंजाबी, शौरसेनी, पश्चिमी हिन्दी, मागधी या प्राच्य, पूर्वी हिन्दी, औड्री, गोड़ी, दाक्षिणत्य अथवा वैदर्भिका तथा पैप्पाली। चूंकि इस सूची में शौरसेनी आदि का नाम है, इस लिए यह स्पष्ट है कि प्राकृतों के ही बोल-चाल के रूप में भारी परिवर्तन आने पर वही अपभ्रंश कहलाई। हेमचन्द्र का समय बारहवीं शती ईसवी का माना जाता है। उसके समय तक यह भाषा मृतक हो चुकी थी या हो रही थी। उसने अपने व्याकरण के लिए 'आभीरी' को मानक बनाया जो गुजरात तथा राजस्थान में मुख्यतः बोली जाती थी। चण्ड के लिए भी यही भाषा अपभ्रंश रूप की थी, उसने इसे 'आभीरादिगीरः' कहा है। अपभ्रंश का समय 500/600 ईसवी से 1100/1200 ई० तक माना जाता है। अपभ्रंश का साहित्यिक रूप **नागर** अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है। भरत के नाट्य शास्त्र में अपभ्रंश के कुछ रूप मिलते हैं। कालिदासकृत 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के कुछ दोहों में अपभ्रंश के रूप मिलते हैं।

विद्वानों ने अपभ्रंश के कई भेद गिनाए हैं। **नमि** साधु ने उपनागर, आभीर, और ग्राम्य तीन भेद बताए हैं। मार्कण्डेय भी तीन भेद मानते हैं, परन्तु उनका नामकरण अलग है—नागर, ब्राचड़ और उपनागर। मार्कण्डेय का ही कहना है कि लोग अपभ्रंश के ब्राचड़, लाट, नागर, उपनागर, पाँचाल, टाक्क, गोर्जर, आभीर आदि 27 रूप मानते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने क्षेत्र की दृष्टि से अपभ्रंश के पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी भेद भी किए हैं। कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि प्राकृतों के बाद अपभ्रंश कई रूपों में विकसित हुई, और इन्हीं विभिन्न रूपों से आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म हुआ। वास्तव में अपभ्रंश भाषा प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बीच सेतु का काम करती है। यदि द्वितीय प्राकृत काल में उल्लिखित पाँच प्राकृतों के बाद के अर्थात् तृतीय काल के रूपों को अपभ्रंश माना जाए, जैसा कि प्रायः माना जाता है, तो उनसे तथा कुछ आँचलिक अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय आर्य भाष'ओं का जन्म प्रकट हो जाता है। सभी अपभ्रंशों में से केवल नागर अपभ्रंश में साहित्यिक रचना हुई है। परन्तु प्राकृत वैयाकरणों में विभिन्न अपभ्रंशों के नमूने मिलते हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने अपने भाषा सर्वेक्षण में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जन्म जिन अपभ्रंशों से माना है, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है :—

(1) **ब्राचड़**—सिन्धु नदी के निचले प्रदेश की अपभ्रंश। इससे **सिन्धी** और **लहंदी** निकलीं; परन्तु इन पर दरदीय भाषा का प्रभाव है;

(2) **वैदर्भ** या दाक्षिणात्य—नर्मदा नदी के दक्षिण में अरबसागर से उड़ीसा तक की विभिन्न विभाषाएं। विदर्भ प्रदेश (आधुनिक बरार) इन का केन्द्र था, और इन से इस प्रकार आधुनिक भाषाएं उत्पन्न हुईं :—

(क) महाराष्ट्री से मराठी

(ख) औड्र या औत्कल से **उड़िया**

(3) **मागधी**—औड्र के उत्तर में वर्तमान छोटानागपुर तथा बिहार से बनारस तक। **बिहारी** भाषाओं का प्रादुर्भाव इसी से हुआ।

(4) **गौड** या प्राच्य—मागधी के पूर्व में वर्तमान मालदा के आस-पास। इसकी दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्वी शाखा ने **बंगला** को और उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी शाखा ने आसामी को जन्म दिया।

(5) **अर्धमागधी**—पूर्वी तथा पश्चिमी प्राकृतों के बीच मध्यवर्ती प्राकृत का अपभ्रंश रूप। इस से अवध, बघेलखण्ड, छत्तीसगढ़ क्षेत्र में पूर्व में बनारस तथा पश्चिम में इलाहाबाद तक बोली जाने वाली **पूर्वी हिन्दी** का जन्म हुआ।

(6) **नागर अपभ्रंश**—मूल रूप में गुजरात तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र की भाषा थी जहाँ अब भी नागर ब्राह्मणों का समाज में मुख्य स्थान है। परन्तु इसकी दूरस्थ क्षेत्रों तक कई विभाषाएं रही हैं :—

(क) शौरसेनी—गंगा के मध्य दोआब की अपभ्रंश जो **पश्चिमी** हिन्दी की जननी है।

(ख) **टक्क** एवं उपनागर—पंजाब की विभिन्न बोलियों की जननी।

(ग) आवन्त्य—उज्जैन के आस पास की अपभ्रंश। इस से **राजस्थानी** का जन्म हुआ

(घ) गार्जर—वर्तमान **गुजराती** की जननी।

इनके अतिरिक्त डॉ० ग्रियर्सन पहाड़ी भाषाओं का विकास भी इसी नागर अपभ्रंश की किसी शाखा से हुआ मानते हैं, और विशेष रूप से इनकी उत्पत्ति आवन्त्य अपभ्रंश से जोड़ते हैं।

अपभ्रंश की विशेषताएं

अपभ्रंश की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(1) वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत संयोगात्मक भाषाएं थीं। प्राकृत में वियोगात्मकता की ओर लक्षण दिखाई देते थे, परन्तु अपभ्रंश में भाषा पूर्णतः वियोगात्मक हुई।

(2) वियोगात्मकता के मुख्य लक्षणों के अन्तर्गत संस्कृत की विभक्तियों का लोप था। अब विभक्तियों के स्थान पर कारक परसर्गों का प्रयोग आम हो गया। 'मज्झ' (में, बीच में), सहुं (से), केर, कर (का, के आदि) कारक चिह्नों की अलग सत्ता अस्तित्व में आई और यह प्रवृत्ति आगे बढ़ती गई।

(3) यही नहीं कुछ विभक्तियों का लोप ही हो गया। उनका काम अन्य साझे कारक चिह्नों से ही चलने लगा। इस तरह कारकों की संख्या कम हो गई। कर्म कारक तथा सम्प्रदान के लिए एक से कारक चिह्न प्रयुक्त हो गए जैसा कि आज भी 'को' और 'के लिए' प्रायः एक-दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह षष्ठी विभक्ति का भी लोप हो गया। कर्त्ता और कर्म के एक वचन और बहुवचन की विभक्तियां नष्ट हो गईं। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र लिखता हैं "स्याम्जस शसां लुक।" विभक्तियों के केवल तीन समूह बन गए—(1) तृतीय-सप्तमी, (2) चतुर्थी-पंचमी-षष्ठी, और (3) प्रथम-द्वितीय और सम्बोधन।

(4) सहायक क्रियाओं का प्रयोग, जो प्राकृत में आरम्भ हो गया था, अपभ्रंश में पूरा ज़ोर पकड़ गया। भाषा क्रिया-विषयक (Verbal) से नाम-विषयक (nominal) की ओर आने लगी। क्रियाएं कम तथा संज्ञा शब्द अधिक प्रयुक्त होने लगे। संज्ञा शब्दों के साथ सहायक क्रिया लगाकर मूल क्रियाओं का ह्रास हो गया।

(5) संस्कृत के लिंग सम्बन्धी कठोर नियम प्रायः शिथिल हो गए। नपुंसक लिंग प्रायः समाप्त हो गया।

(6) उकार शब्दों का प्रयोग अधिक हो गया। यही कारण है कि अपभ्रंश को 'उकार बहुला भाषा' कहा जाता है।

(7) तत्सम, तद्भव तथा देश्य शब्दों में से अन्तिम श्रेणी के शब्दों की प्रधानता हो गई। यद्यपि देश्य शब्द भी संस्कृत-प्राकृत से ही आए थे, परन्तु इनका रूप इतना विकृत हो गया था कि इनका तत्सम्बन्धी संस्कृत शब्दों से रूप जोड़ना आसान न था।

(8) जो स्वर प्राकृत में लुप्त थे, वे अपभ्रंश में भी लुप्त रहे—ऋ, ॠ, लृ, ॡ

का लोप हो गया ।

(9) ए और ओ की ह्रस्व-रूप ध्वनियां स्थापित हो चुकीं थीं, परन्तु लिखित रूप में उनके लिए अलग अक्षर नहीं था। कहीं इनका प्रयोग ए, ओ से कहीं इ, उ से और कहीं ऐ, औ से होता पाया गया है।

(10) श तथा ष के स्थान पर प्रायः केवल 'स' का प्रयोग होता था।

(11) प्राकृत 'ल़' का प्रयोग अब कुछ सीमित हो गया। केवल महाराष्ट्री में ही इसका पूर्ववत प्रयोग रहा।

(12) मूर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग अधिक होने लगा। इनमें से भी 'ड' विशेषतः अग्रसर था और इसीसे मिलती दूसरी ध्वनि 'ड़' भी अस्तित्व में आई।

(13) संस्कृत एवं प्राकृत से प्राप्त अन्त्य स्वरों का लोप हो गया। शब्द का अन्तिम स्वर प्राकृत में ही शिथिल हो रहा था। अपभ्रंश में आकर इसका ह्रास ही हो गया—जैसे सं० उत्पद्यते > प्रा० उपज्जई > अप० उपज्ज > हिन्दी उपज, सं० अवश्या > प्रा० ओस्सा > अप० ओस, सं० मसूरिका > प्रा० मसूर > अप० मसूर, सं० लाला > प्रा० लाला > अप० लार > कु० लाल़ (मुंह की लार), सं० वरयात्रा > प्रा० वरआत > अप० बरात।

(14) अपभ्रंश में 'म' प्रायः 'व' में बदलता है—कमल > कंवल, चमर > चंवर।

(15) संयुक्त रेफ का लोप हो गया।

(16) संस्कृत 'क्ष' प्रायः 'क्ख' में बदल जाता है—चौक्ष > चोक्खा; पक्षी > पक्खी।

(17) उपान्त्य स्वरों की मात्रा सुरक्षित रही—गंभीर > गहिर, अन्धकार > अन्धअर आदि।

(18) आद्य अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण द्वारा द्वित्वव्यंजन के स्थान पर एक व्यंजन का प्रयोग हो गया।

(19) अपभ्रंश की व्यंजन ध्वनियों की मुख्य विशेषता स्वर-मध्यम व्यंजनों का लोप है, जिनमें प्रमुखतः महाप्राण व्यंजनों का 'ह' में बदलना है, जैसे—परकीया > पराइया, योगिन > जोगी > जोई, सखि > सहि, कथा > कहा, दीर्घ > दीह, दधि > दही आदि।

अध्याय 2

भारत की आधुनिक भाषाएँ

आर्यों के भारत में आगमन के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि ये लोग भारत में कम से कम मुख्य दो दलों में आए। एक दल ईरान और काबुल से होता हुआ सिन्धु घाटी में पहुंचा, और दूसरे दल ने गिलगित और चित्राल होते हुए मध्यदेश में प्रवेश किया। प्रथम दल ने स्वत: अथवा दूसरे दल के प्रभाव से मध्यदेश से बाहर-बाहर ही क्रमश: पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की ओर फैलना आरम्भ किया और वे इस तरह पहले पंजाब, सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र और फिर उड़ीसा, बंगाल तथा आसाम तक फैल गए। दूसरा दल मध्यदेश के विभिन्न भागों में फैल गया, जिसकी सीमाएं प्राय: उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण में विंध्य-पर्वत, पश्चिम में सरहिंद तथा पूर्व में गंगा-यमुना के अन्तिम क्षेत्र थे।

आर्यों के इस दो दलीय प्रवेश एवं फैलाव के आधार पर डॉ० हार्नले ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के मुख्यत: दो भाग माने, (1) बाहरी और (2) भीतरी शाखा। बाद में डॉ० ग्रियर्सन ने डॉ० हार्नले के साथ सहमति प्रकट करते हुए इसकी पुष्टि में अनेक सिद्धान्त, प्रमाण और तर्क प्रस्तुत किए। इस धारणा को आधार मानते हुए डॉ० ग्रियर्सन ने समस्त भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण किया, और अपने परिणाम 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' में प्रकाशित किए। इस भाषा सर्वेक्षण में डॉ० ग्रियर्सन ने भारत की 179 भाषाओं तथा 544 बोलियों का उल्लेख किया है, परन्तु इनमें मद्रास तथा बर्मा के प्रदेश और उस समय के हैदराबाद एवं मैसूर राज्य की भाषाओं और बोलियों का ब्यौरा शामिल नहीं है, क्योंकि उनके अनुसार ये उनके कार्यक्षेत्र से बाहर पड़ती थीं। सर्वेक्षण में डॉ० ग्रियर्सन ने हार्नले के उपर्युक्त दो वर्गों के अतिरिक्त एक मध्यवर्ती भाग भी माना, और इस तरह आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत किया :—

(क) बाहरी उप-शाखा

(i) उत्तर-पश्चिम श्रेणी—

1. लहंदा,
2. सिंधी,

(ii) दक्षिणी श्रेणी—

3. मराठी,

(iii) पूर्वी श्रेणी—

4. उड़िया,
5. बिहारी,
6. बंगला,
7. असमिया,

(ख) मध्यवर्ती उप-शाखा

8. पूर्वी हिन्दी

(ग) भीतरी उप-शाखा

(i) केन्द्रीय श्रेणी—

9. पश्चिमी हिन्दी
10. पंजाबी
11. राजस्थानी
12. गुजराती
13. भीली
14. खानदेशी

(ii) पहाड़ी श्रेणी—

15. पूर्वी पहाड़ी या नेपाली
16. मध्य पहाड़ी
17. पश्चिमी पहाड़ी

डॉ० ग्रियर्सन ने उपर्युक्त वर्गीकरण का मुख्य आधार व्याकरण की भिन्नताएं बताया है। परन्तु प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने व्याकरण के हर पहलु को लेकर डॉ० ग्रियर्सन के उक्त वर्गीकरण की आलोचना की, और भाषा-शास्त्रीय आधार पर इसका खण्डन करते हुए इसे अवैज्ञानिक सिद्ध किया। उन्हें बाहरी और भीतरी शाखाओं में वर्गीकरण पर आपत्ति थी। डॉ० ग्रियर्सन के सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए डॉ० चटर्जी ने भाषाओं की विकास परम्पराओं को दृष्टि में रखते हुए आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का निम्नलिखित रूप से वर्गीकरण किया:—

(क) उदीच्य (उत्तरी)

1. सिन्धी 2. लहंदी 3. पूर्वी पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी)

4. गुजराती 5. राजस्थानी

(ग) मध्यदेशीय

6. पश्चिमी हिन्दी

(घ) प्राच्य (पूर्वी)

7. पूर्वी हिन्दी 8. बिहारी 9. उड़िया

10. बंगला 11. असमिया

(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी)

12. मराठी

डॉ० चटर्जी कश्मीरी को दरदीय भाषा मानते हैं और पूर्वी, मध्य तथा पश्चिमी पहाड़ी को खस अथवा दरदी से प्रसूत मानते हैं। इस विवरण से स्पष्ट है कि डॉ० चटर्जी मूलतः वर्गीकरण के आधार से सहमत नहीं हुए हैं। उदाहरणों सहित उन्होंने ग्रियर्सन के वर्गीकरण को पूर्णतः खण्डित किया है। हां, भाषाओं के बारे में उनके विचार डॉ० ग्रियर्सन से अधिक भिन्न नहीं हैं।

नीचे भारत की आधुनिक सभी भाषाओं (आर्य एवं अनार्य) का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है:—

1. द्रविड़ परिवार

द्रविड़ भाषाओं का मूल स्थान दक्षिण भारत है। उत्तर में इसकी सीमा मध्यप्रदेश का चांदा जिला है और पश्चिम में कोल्हापुर के दक्षिण-पश्चिम से दक्षिण का भाग द्रविड़ भाषाओं का क्षेत्र है। मैसूर, आन्ध्र, तामिल-नाडू और केरल द्रविड़ भाषाओं के केन्द्र हैं। कन्नड़, तेलुगू, तमिल और मलयालम इस परिवार की मुख्य भाषाएं हैं। कुर्ग की कोडगु, नीलगिरि के जंगली कबीलों की 'तोडा' और 'कोटा' बोलियां भी द्रविड़ परिवार से ही हैं। इनके अतिरिक्त, मध्यप्रदेश एवं बरार की 'गोंडी', बिहार की 'ओराँव', उड़ीसा की 'कन्धी' भी इस परिवार की उल्लेखनीय बोलियाँ हैं।

द्रविड़ भाषाओं में **तमिल** का मुख्य स्थान है। यह तमिल-नाडु राज्य तथा लंका के उत्तरी भाग में बोली जाती है। शेन और कोडुन इसकी मुख्य बोलियाँ हैं।

मलयालम को तमिल की शाखा माना जाता है। भारत के सुदूर दक्षिणी-पश्चिमी कोना, जिसमें मुख्यतः केरल राज्य है, मलयालम का क्षेत्र है।

कन्नड़ मैसूर राज्य की भाषा है। इसकी कई बोलियाँ हैं, जिनमें से बडग, कुरुम्ब, तथा गोलरी प्रधान हैं। कन्नड, भाषा में तमिल से और लिपि में तेलुगू से मिलती है।

तेलुगू आंध्र प्रदेश की भाषा है, द्रविड़ भाषाओं में तेलुगू बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है। यह अत्यन्त श्रुति मधुर और सुरीली भाषा है। रोमटाउ, सालेवारी, बेरडी, बडरी, कामाठी इसकी मुख्य बोलियाँ हैं।

(1) द्रविड़ भाषाओं की मुख्य विशेषता इनका संयोगात्मक स्वरूप है। मूल शब्द में एक के बाद दूसरे प्रत्यय लगते जाते हैं।

(2) द्रविड़ भाषाओं में प्रायः तीन लिंग हैं। परन्तु पुल्लिग और स्त्रीलिंग का भेद केवल प्राणिवाचक संज्ञा और सर्वनाम तक सीमित है। यहाँ भी यदि सजीव संज्ञा में तर्क से पुल्लिग और स्त्रीलिंग का भेद स्पष्टतः प्रकट न होता हो, तो निर्जीव संज्ञाओं की भावना रहती है जो सभी नपुंसक लिंग हैं।

(3) वचन दो होते हैं—एक-वचन, बहु-वचन। परन्तु नपुंसक संज्ञापदों के बहु-

वचन के रूप बहुत कम मिलते हैं ।

(4) द्रविड़ भाषाओं में हिन्दी भाषा के ए-ऐ और ओ-औ के बीच की ध्वनियाँ भी विद्यमान हैं। इन ह्रस्व ए और ओ की ध्वनि हमारी पहाड़ी भाषा के एँ और ओँ से बहुत मिलती जुलती है ।

(5) द्रविड़ भाषाओं में टवर्गीय ध्वनियों की प्रधानता है ।

(6) दन्त्य 'ल' के साथ-साथ मूर्धन्य ल़ बहुप्रचलित वर्ण है ।

(7) अघोष वर्ण शब्द के आदि में नहीं आते या वे आदि में द्वित्त रूप में होते हैं या अनुस्वार के पश्चात होते हैं। परन्तु अन्यत्र वे सघोष हो जाते हैं ।

(8) द्रविड़ में व्यंजनांत शब्दों के स्वरांत होने की प्रवृत्ति है, ऐसे ही जैसे हिमाचल की शिमला के उत्तर की विभाषाओं में ये औकारान्त हो जाते हैं।

(9) संस्कृत में संज्ञा शब्दों की तरह विशेषण शब्दों के रूप भी सम्पन्न होते हैं, परन्तु द्रविड़ भाषाओं में विशेषणों के कारक-सम्बन्धी रूप नहीं होते ।

(10) द्रविड़ भाषाओं में भाव-वाचक संज्ञा अथवा विशेषण के बदले में क्रिया के सम्बन्धवाची कृदन्तीय पदों का प्रयोग होता है ।

2. आस्ट्रिक परिवार

भारत की भाषाओं का दूसरा वर्ग आस्ट्रिक परिवार है। इस परिवार की भाषाओं के मुख्य तीन वर्ग हैं :—

(क) कोल या मुंडा—मध्य प्रदेश मुंडा भाषाओं का केन्द्र है और छोटा नागपुर में यह विशेष रूप से बोली जाती है । वैसे पश्चिमी बंगाल, बिहार की दक्षिणी पहाड़ियों, उड़ीसा के कुछ जंगली क्षेत्र, तथा मद्रास के गंजाम ज़िले की भाषा भी यही है। इसे पहले **कोल** भाषा कहा जाता था। मक्समूलर ने सर्वप्रथम इन्हें मुण्डा नाम दिया। खेरवारी इस भाषा की प्रतिनिधि है, इसका मुख्य स्थान मध्य-भारत पठार का उत्तर-पूर्वी छोर, विन्ध्याचल का पूर्वी भाग है। इसमें भी अधिक महत्वपूर्ण बोलियाँ 'संताली', 'मुंडारी' तथा 'हो' हैं। संताली (या संथाली) बोली बिहार, उड़ीसा और असम के कुछ भागों में बोली जाती है । मुंडारी मुख्यतः बिहार में राँची के आस-पास बोली जाती है, और 'हो' का क्षेत्र सिंहभूमि ज़िला है। इनके अतिरिक्त मध्य प्रदेश के पश्चिमी ज़िलों, मालवा के आस-पास तथा मेवाड़ की भाषा भी मुंडा है। इसे स्थानीय भाषा में कुर्कू कहते हैं। खेरवारी क्षेत्र के आस-पास खड़िया (छोटा नागपुर का रांची क्षेत्र), जुआंग (उड़ीसा में भूतपूर्व केंवझर तथा धोंकानाल रियासतों के जुआंग लोग) सवर और गदवा (उत्तर-पूर्वी मद्रास आंध्र की सीमा पर) बोलियों में मुण्डा के सभी गुण समाविष्ट हैं।

(ख) खासी—इस उप-परिवार में मौनख्मेर, पलांग, वा, खासी आदि प्रमुख भाषाएं आती हैं। इनमें मौन-ख्मेर, पलांग, वा बर्मा तथा हिन्द-चीन की भाषाएं हैं। भारतवर्ष में इस भाषा का क्षेत्र असम प्रदेश के खासी एवं जयन्तिया के पर्वत हैं । अपने सीमान्त बर्मी भाषा से यह कदरे भिन्न है। पास-पड़ौस की तिब्बती-बर्मी तथा भारतीय

मुंडा-भाषाओं से भी यह अछूती रही है। लिंगम, सिंटेंग तथा वार इसकी स्थानीय उप-भाषाओं के नाम हैं। इस भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि हिन्दी की तरह इसमें भी व्याकरणीय लिंग-भेद वर्तमान है।

(ग) नीकोबारी—नीकोबार द्वीप में बोली जाने वाली भाषा भी इसी परिवार में आती है।

भारत में आस्ट्रिक परिवार की भाषाओं में मुंडा भाषा की ही अधिक प्रधानता है। मुंडा भाषा के मुख्य गुण निम्नलिखित हैं :—

(1) मुंडा भाषाएं योगात्मक परिवार से हैं और इस दिशा में वे तुर्की भाषा के बहुत निकट हैं। तुर्की की भाँति इनका योग भी बड़ा सरल और स्पष्ट है। शब्द निर्माण में प्रत्यय पर प्रत्यय जुड़ते रहते हैं और इस तरह शब्द के असाधारण बड़े आकार को देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

(2) तिब्बती-चीनी भाषाओं की कतिपय विशेषताएँ, मुण्डा भाषा में भी विद्यमान हैं। तिब्बती-चीनी में शब्द का अन्तिम व्यंजन उच्चरित नहीं होता, या उसका उच्चारण बहुत धीमा होता है—जैसे दुग (है) के लिए दुः। यह प्रवृति मुण्डा भाषाओं में भी है। इस भाषा की मौन-ख्मेर और खासी बोलियों में यह लक्षण तिब्बती-हिन्द-चीनी भाषाओं का गहरा सम्पर्क होगा।

(3) इसी तरह चीनी की तरह ही इस भाषा में भी एक ही शब्द एक ही रूप में संज्ञा, क्रिया और विशेषण आदि का काम देता है। विभिन्न स्थितियों में प्रयोग होने के लिए मूल शब्दाकार में परिवर्तन नहीं आता।

(4) संस्कृत की तरह इस भाषा में भी वचन तीन होते हैं—एक वचन, द्विवचन तथा बहुवचन। संज्ञा में अन्य पुरुष सर्वनाम के द्विवचन तथा बहुवचन के रूप जोड़ने से द्विवचन और बहुवचन बन जाते हैं—जैसे, हाड़=आदमी, हाड़कीन=दो आदमी, हाड़को=कई आदमी।

(5) उत्तम पुरुष सर्वनाम के द्विवचन तथा बहुवचन के दो-दो रूप होते हैं—अले और अबोन। 'अले' का अर्थ केवल कहने वालों के लिए 'हम' से है। जब 'अबोन' कहा जाएगा तो कहने वाले के साथ सुनने वाला भी शामिल होगा। "हम (अले) पढ़ेंगे" का अर्थ है कि केवल हम पढ़ेंगे, परन्तु 'हम (अबोन) पढ़ेंगे' का भाव है कि हमारे साथ सुनने वाला/ले भी पढ़ेंगे।

(6) सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के स्थान पर क्रिया के कृदन्तीय रूपों का ही प्रयोग होता है—"सेब जिसे तुमने खाया, कच्चा था" के स्थान पर "तुम्हारे द्वारा खाया हुआ सेब कच्चा था" होगा। पहाड़ी भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है "सेऊ जो तें खाऊ, काचा थी" की बजाय 'तें खाऊ हुँदा सेउ काचा थी' ही कहा जाता है।

(7) इन भाषाओं में संख्या केवल बीस तक या दस तक गिनी जाती हैं। उसके बाद दस-और एक (ग्यारह), दस-और-दो (अर्थात् बारह) इस तरह गिना जाता है। उदाहरणार्थ दस के लिए "गैल" तथा चार के लिए 'पोनेआ' शब्द है—गैल-खन-पोनेआ

का अर्थ हुआ दस-और-चार अर्थात् चौदह। या घटा कर अभिव्यक्ति की जाती है—जैसे 'इसी' बीस के लिए शब्द है, 'बारेआ' दो के लिए, अतएव 'बारेआ कम इसी' का अर्थ 20 कम 2 (20—2) अर्थात् अठारह हुआ।

(8) ज़ोर देने के लिए शब्द की पुनरावृत्ति की जाती है, उदाहरणार्थ दल = मारना, दल-दल = बार-बार मारना, ददल = खूब मारना।

(9) प्रेरणार्थक क्रियाएँ बनाने का बड़ा सहज ढंग है। मूल धातु में 'ओची' जोड़ने से प्रेरणार्थक क्रिया बन जाती है।

(10) लिंग दो होते हैं। स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक शब्द जोड़ने से लिंग भेद प्रकट होते हैं—जैसे, आडिया-कूल 'बाघ' और एंगा-कूल 'बाघिन'। कुछ अवस्थाओं में हिन्दी की तरह 'आ' और 'ई' जोड़ कर भी लिंग भेद होता है।

(11) महाप्राण ध्वनियों में हिन्दी की अपेक्षा महाप्राणत्त्व अधिक होता है।

3. करेन तथा मन परिवार

तीसरा परिवार करेन तथा मन भाषाओं का है। वैसे ये दोनों भाषाएं वर्तमान भारत से बाहर की हैं। करेन दक्षिणी बर्मा तथा स्याम के समीपवर्ती भागों में बोली जाती है। कुछ विद्वान इसे चीनी की पूर्ववर्ती भाषा मानते हैं। चीनी भाषा में 'मन' का अर्थ 'दक्षिण' के लोग है, और यह शब्द प्रायः हिन्द-चीन के क्षेत्र के लिए प्रयुक्त होता है। इन भाषाओं का भारत से कुछ भी सम्बन्ध नहीं बताया गया है। परन्तु ऐसा संकेत है कि हिमाचल के किन्नौर जिले की किराती भाषा से इसका कुछ साम्य हो, परन्तु सामग्री के अभाव में अभी इस सम्बन्ध में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता।

4. तिब्बती-चीनी परिवार

भारत की भाषाओं में तिब्बती-चीनी परिवार का भी विशेष महत्त्व है। ये भाषाएं भारत के उत्तर में हिमालय के अंदरूनी तथा दामन में पश्चिम से पूर्व की ओर स्याम तक बोली जाती हैं। इन भाषाओं के मुख्य दो उप-परिवार हैं—(क) तिब्बती-बर्मी भाषाएं, तथा (ख) स्यामी-चीनी भाषाएं।

सभी स्यामी-चीनी भाषाएं लगभग भारतवर्ष से बाहर बोली जाती हैं। तिब्बती-बर्मी उप-परिवार की भी दो मुख्य शाखाएं मानी गई हैं—(i)तिब्बती-हिमालयवर्ती तथा (ii) असम-बर्मी। तिब्बती-हिमालय-शाखा की सर्वाधिक प्रतिनिधि भाषा 'तिब्बती' है, और असम-बर्मी की प्रतिनिधि 'बर्मी' है। बीच में तिब्बती-बर्मी की विभिन्न उप-भाषाएं आती हैं। मूल तिब्बती तथा मूल बर्मी भाषा का वर्तमान भारत से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि मूल रूप में ये दोनों भारत के किसी भाग में नहीं बोली जातीं।

भारत में बोली जाने वाली उपर्युक्त **तिब्बती-हिमालयवर्ती** वर्ग की भाषाओं को 'भोटिया' या 'भोटी' कहा जाता है। इसकी भी दो शाखाएं हैं:—

(1) पूर्वी शाखा—इसमें भूटान की ल्होके, सिक्किम की डां-जोंगका, नेपाल की शर्पा एवं कागते, तथा कुमाऊं और गढ़वाल में बोली जाने वाली छोटी-छोटी बोलियां हैं;

(2) पश्चिमा शाखा —इसका क्षेत्र बाल्तिस्तान तथा लद्दाख से आरम्भ होता है। ज़िला किन्नौर के सीमावर्ती क्षेत्र की किन्नौरी, स्पिति की स्पितियन, लाहुल की मंचाटी, चम्बा लाहुली, बुनन तथा रंगोली इसी शाखा की बोलियाँ हैं। मलाणा की कनाशी बोली भी इसी शाखा से सम्बन्धित है।

हिमालयवर्ती वर्ग की भाषाएं **असम-बर्मी** भाषाओं से एक दृष्टि से विशेष रूप में भिन्न हैं। यह भिन्नता हिमालयवर्ती भाषाओं का मुंडा भाषा से पूर्ण साम्य है। इन भाषाओं की मुंडा भाषा से इतनी समानता है कि विद्वानों का विचार है कि इन दोनों भाषाओं के पूर्वज किसी समय एक जगह रहते थे और सम्भवत: मुंडा भाषी लोग हिमालय प्रदेश से दक्षिण की ओर गए हों।

तिब्बती-बर्मी उप-परिवार की दूसरी शाखा **असम-बर्मी** के अन्तर्गत बोडो, नागा, काचिन, कुकिचिन, बर्मा, लोलोमोसो तथा सक या लूई बोलियां आती हैं। इनमें से केवल बोडो और नागा बोलियाँ ही भारत से सम्बन्धित हैं। बोडो असम की अनार्य जातियों बोडो तया बड़ की भाषा है। नागा भाषा नागा क्षेत्र तथा मनीपुर के कुछ भागों में बोली जाती है।

5. अवर्गीकृत भाषाएँ

एक अन्य वर्ग में डॉ० ग्रियर्सन ने उन भाषाओं को रखा है, जो भारत की अन्य भाषाओं के किसी परिवार में नहीं आतीं। इस वर्ग में मुख्य तीन भाषाओं को रखा गया है और उनमें कुल मिलाकर लगभग बीस बोलियाँ या उप-भाषाएं हैं:—

(1) **जिप्सी**—इसके अन्तर्गत तमिल की 'कोख' और 'कैंकाडी' विभाषाएं, कन्नड की 'कुरुम्बा' विभाषा, तथा तेलुगु की 'बडरी' विभाषा दिखाई गई हैं। इनके अतिरिक्त राजस्थानी को लभानी, ककेरी, बहुरुपिया विभाषाएं, गुजराती की तारीभूकी और घिसाडी तथा भीली की बाओरी, चारणी, हबूड़ा, पारधी और सियालगिरी बोलियाँ भी इसी वर्ग में बताई गई हैं। परन्तु इन सब भाषाओं में पिंडारियों की भाषा '**पेंढारी**' को प्रतिनिधि के रूप में लिया गया है। यह न किसी जाति विशेष की भाषा है और न प्रचलित धर्म की। पिंडारी डाकुओं के गिरोह थे जिसमें हर जाति और हर धर्म के लोग शामिल थे, परन्तु इनकी भाषा अपने पास-पड़ौस तथा अन्य भाषाओं से नितान्त भिन्न है। मध्य भारत इनका मुख्य केन्द्र है और ये ऐसी भाषा बोलते हैं जो किसी और की समझ में नहीं आती। इसी तरह एक अपराधी जाति भाम्टा की '**भाम्टी**' (मध्य भारत), भूमि खोदने वाले बेलदारों (जैसलमेर, मध्य प्रान्त) की '**बेलदारी**' तथा '**ओडकी**', पान, सुपारी, तम्बाकू, भाँग आदि बेचने वाली लाड जाति की '**लाडी**', सिन्ध से निष्कासित कपूरथला (पंजाब) में बसे चिड़ीमार जाति के लोगों की '**मछरिया**', अपराधियों तथा कुख्यात लोगों की 'गुप्त जिप्सी बोलियाँ' (जैसे योरुप में Thieves Latin 'चोरों की लेटिन' है), 'साँसी', 'कोल्हाटी', 'गारोडी', 'कंजरी', 'नटी', 'डोम' आदि इसी तरह के गिरोहों की भाषाओं को भी जिप्सी में ही गिनाया गया है।

(2) **बूरुशास्की**—यह सुदूर पश्चिमोत्तर प्रान्त के समीपवर्ती प्रदेश तथा

हुंजानगर के निवासी युद्धप्रिय लोगों की भाषा है। इस भाषा को समझना तो दरकिनार, विद्वान भाषाविद् भी इस भाषा के अध्ययन करने तथा किसी वर्ग विशेष में लाने में सफल नहीं हुए हैं। स्वयं डा० ग्रियर्सन ने इस भाषा की सभी ज्ञात एशियाई भाषाओं से तुलना की है, परन्तु वे किसी निर्णय पर न पहुँच सके। ग्रियर्सन के अनुसार, हो सकता है कि इसका मुंडा भाषा से कुछ सम्बन्ध हो, परन्तु निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। बरुशासकी के कई नाम हैं। 'खजुना', 'यश्कुन' इसके स्थानीय नाम हैं। यारकंदी इसे 'कुंजूती' कहते हैं। यासिन की बोली को 'बरशिकवार' कहते हैं। कुछ विद्वानों ने इन भाषाओं को द्रविड़ तथा आस्ट्रिक परिवारों से मिलाने की भी असफल कोशिश की है।

(3) **अंडमानी**—यह अंडमन द्वीप समूह की भाषा है। डॉ० ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण क्षेत्र से बाहर होने के कारण इस भाषा पर विस्तार से विचार नहीं किया गया है। बाद के विद्वानों के अध्ययन के अनुसार अंडमानी के प्रमुख दो भाग हैं—(1) **बड़ी अंडमानी** जिसमें वा, चारी, कोरा, येरू, जुवोई, केदे, कोल, पुचिकबर, बले, वेआ आदि बोलियाँ आती हैं, तथा (2) **छोटी अंडमानी** जिसमें ओंगे और यारवा दो मुख्य उपभाषाएं हैं। ये सभी संयोगात्मक भाषाएं हैं, जिनमें उपसर्गों का अधिक प्रयोग होता है। इनमें संघर्षी ध्वनियों स, ज़, फ़, व आदि का अभाव है।

इस परिवार की भाषाओं के सम्बन्ध में अन्य भाषाविदों की राय डॉ० ग्रियर्सन से भिन्न है। केवल अन्तिम दो भाषाओं अर्थात् बुरुशासकी तथा अंडमानी को ही इस वर्ग में निश्चय से रखा जा सकता है। शेष सभी भाषाएं अन्य चार परिवारों की निकटवर्ती भाषाओं के मिश्रण से बनी हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने स्वयं इस बात का संकेत किया है। कोरव तथा कैंकाडी अपने निकटवर्ती अन्य तमिल उपभाषाओं से प्रभावित हैं, कुरुम्बा बोली कन्नड तथा बडरी बोली तेलुगु से सम्बन्धित हैं। स्वयं ग्रियर्सन के अनुसार "ये सब आदि से अन्त तक द्रविड़ भाषाएं हैं।" इसी तरह लभानी, ककेरी तथा बहुरुपिया को राजस्थानी का ही एक रूप माना जाता है। और यही बात इस परिवार में दिखाई अन्य बोलियों के बारे में सिद्ध है और इस तरह केवल बरुशासकी और अंडमानी विशुद्ध अवर्गीकृत भाषाएँ मानी जाती हैं।

5. भारोपीय परिवार

भारत की भाषाओं में सब से बड़ा परिवार भारोपीय (Indo-European) भाषाओं का है। यह नाम भौगोलिक आधार पर इन भाषाओं को दिया गया है, क्योंकि इस परिवार की भाषाएं भारत से लेकर यूरोप तक फैली हुई हैं और इस परिवार की भाषाओं को बोलने वालों की संख्या संसार में सबसे अधिक है। इसे **भारत हित्ती** नाम से भी पुकारा जाता है। इस परिवार को सर्वप्रथम मुख्य दो भागों में विभक्त किया गया है:—

(1) **केन्तुम्** (या कतम अथवा केण्टुम)—यह भारोपीय परिवार की पश्चिमी शाखा है, जिसमें मुख्यत: लैटिन, ग्रीक, केल्टिक, इटेलियन, फ्रेंच, ब्रीटन, गेलिक, तोखारी,

ट्यूटानिक अथवा जर्मन भाषाएं शामिल हैं;

(2) **सतम्** (या शतम अथवा सतेम) यह भारोपीय परिवार की पूर्वी शाखा है। इस वर्ग की मुख्य भाषाएं अवेस्ता, संस्कृत, फारसी, हिन्दी, रूसी, बल्गेरियन, लिथुआनियन आदि हैं।

इन वर्गों का नामकरण वस्तुतः सौ (100 अंक) के लिए कहे जाने वाले शब्द के आधार पर हुआ है। 'सतम्' वर्ग की विभिन्न भाषाओं में इसके रूप शतम् (संस्कृत), सतम्(अवेस्ता), सदर (फारसी) स्तो (रूसी), सौ (हिन्दी) हैं, तथा 'केन्तुम्' वर्ग में केन्तुम (लैटिन), केन्तो (इटेलियन) केन्त (फ्रेंच), कन्ध (तोखारी), कैण्ट (ब्रिटेन), हैक्टोन (ग्रीक) रूप प्रचलित हैं।

पूर्वी शाखा अर्थात् सतम् पुनः पांच भागों में विभक्त है :—

(1) इलीरियन—एड्रियाटिक सागर से इटली के दक्षिणी-पूर्वी भाग तक;
(2) बाल्टिक—बाल्टिक तट पर विश्चुला और नीमेन नदियों के बीच का प्रदेश, आगे उत्तर-पूर्वी क्षेत्र, तथा लेटिबिया राज्य;
(3) स्लैवोनिक—पूर्वी यूरोप के कुछ क्षेत्र;
(4) अर्मेनीय—इसमें यूरोप और एशिया की सीमा पर बोली जाने वाली फ्रिजीय भाषा भी है;
(5) आर्य।

इनमें से भी पूर्वोक्त चार परिवारों की भाषाओं का भारत से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। अन्तिम 'आर्य' परिवार की भाषाओं के पुनः तीन मुख्य वर्ग हैं :—

(क) ईरानी,
(ख) दरद,
(ग) भारतीय,

(क) ईरानी

इसका मूल क्षेत्र ईरान है। इसका प्राचीन साहित्य 'अवेस्ता' के रूप में मिलता है। ईरानी भाषा की पूर्वी सीमा सिन्धु नदी को माना जाता है। ईरानी की दो प्राचीन शाखाएं हैं—**अवेस्ता** और **प्राचीन फारसी**। प्राचीन फारसी ने मध्यकालीन फारसी या **पहलवी** को जन्म दिया। पहलवी से आधुनिक फ़ारसी निकली। आधुनिक फारसी की दो मुख्य भाषाएं—बिलोचिस्तान की **बिलोची** तथा अफगानिस्तान की अफगानी या **पश्तो** हैं। बिलोची की पूर्वी सीमा सिन्धु नदी है। डेरा गाज़ीखां में इस ओर की प्रतिनिधि बिलोची है। अविभाजित भारत में पश्तो सिन्धु नदी के उभयतटवर्ती जिलों में दक्षिण की ओर डेरा इस्माइलखां तक बोली जाती थी। यूसुफज़ई, पेशावरी, बुनेर, बजौर, स्वात इसकी प्रमुख बोलियां हैं।

(ख) दरद या पैशाच

दरद भाषाओं का मूल क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में है।

पामीर में गल्च: भाषाएं बोली जाती हैं जो मूल ईरानी हैं। इस ओर अर्ध-ईरानी दरदीय भाषाएं बोली जाती हैं। कोह-हिन्दुकुश दोनों भाषाओं को अलग-अलग करता है। दरद भाषाओं के क्षेत्र को दरदिस्तान कहते हैं। भारत के अन्य निवासी दरद भाषा-भाषी लोगों को बर्बर और नष्ट आर्य कहते थे। इन्हें क्रूर और मानवभक्षी मानते थे और इन्हें पिशाच (राक्षस) कहते थे। अतः इस भाषा को **पैशाची, दरद पैशाची** या **पैशाची प्राकृत** भी कहते हैं। वर्तमान दरद-पैशाची के मुख्य स्थान गिलगित, कश्मीर, सिन्ध, स्वात कोहिस्तान, चित्राल और काफिरिस्तान हैं। इस प्रकार पैशाची भाषा के तीन वर्ग हैं—(1) खोबार, (2) काफिर और (3) दरद। दरद विशेष के पुनः तीन भाग हैं :—

(1) शीना—गिलगित क्षेत्र, तथा बाल्तिस्तान से तंगीर नदी तक की सिन्धु घाटी;
(2) कश्मीरी—कश्मीर की घाटी और उसके दक्षिण-पूर्व का निकटवर्ती क्षेत्र। कश्मीरी विशेष तथा कष्टवारी इसकी दो बोलियां हैं;
(3) कोहिस्तानी—मैयां, गार्वी और तोरवाली इसकी बोलियां हैं। कडिया नदी, स्वात, पंजकोर तथा कुनार नदियों के क्षेत्र इसके मूल स्थान हैं।

गठन की दृष्टि से जहां पश्तो ईरानी की ओर झुकी है, वहां दरद भाषा का झुकाव भारत की ओर है। मराठी, सिंधी, पंजाबी से यह प्रभावित है, और इसका इन पर प्रभाव है। डा० ग्रियर्सन के अनुसार चम्बा से लेकर नेपाल तक हिमालय के तिराई प्रदेश की भारतीय आर्य भाषाओ में स्पष्ट रूप से दरद भाषा के अवशेष मिलते हैं। उनके अनुसार खश लोग दरद वंशीय थे, और इस क्षेत्र में खश लोगों की आबादी अधिक है।

(ग) भारतीय

आर्य परिवार की भारतीय वर्ग की भाषाएँ भारतीय-आर्य-शाखा में आती हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का उल्लेख इस से पूर्व अध्याय (अध्याय 1) में किया गया है। यहाँ केवल आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्णन किया जाएगा। इन भाषाओं को मुख्यतः तीन उप-शाखाओं में बाँटा जाता है—

(i) बाहरी उप-शाखा,
(ii) मध्य उप-शाखा,
(iii) भीतरी उप-शाखा।

(i) बाहरी उप-शाखा

इस उप-शाखा के अन्तर्गत पश्चिमी पंजाब तथा सिन्ध के क्षेत्र से द्रविड़ भाषा की उत्तरी सीमा से आसाम तक की भारतीय आर्य-भाषाएँ आती हैं। यह आर्य भाषाओं का बाहरी भाग है। इस उप-शाखा में मुख्यतः निम्नलिखित भाषाएँ हैं :—

(1) लहँदी—डॉ० ग्रियर्सन ने इसका नाम लहँदा रखा था। लहँदा का अर्थ पश्चिम है। यह पूर्वी-पंजाब के पश्चिम की ओर पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी-पश्चिमोत्तर

(दोनों अब पाकिस्तान में) प्रदेश की भाषा है। इसके अन्य नाम पश्चिमी पंजाबी, जटकी, उच्ची, डिलाही, हिंदकी भी हैं। डॉ० ग्रियर्सन के सर्वेक्षण में इसकी प्रायः **बाईस विभाषाओं** का वर्णन है, जिन में मुख्य लहंदा विशेष, मुलतानी, खेतरानी, जाफिरी, थली, पोठवारी (पोठोहारी) चिभाली और पूंछी हैं। इसकी अपनी लिपि लंडा है परन्तु यह फारसी में भी लिखी जाती रही है।

(2) **सिन्धी**—यह भारत विभाजन से पूर्व सिन्ध प्रदेश की भाषा है। अब यह पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त, भारत के कच्छ, अजमेर, बम्बई तथा दिल्ली के कुछ क्षेत्रों में बोली जाती है। इसकी विचोली, सिराइकी, थरेली, लासी, लाड़ी तथा कच्छी (गुजराती) छः बोलियाँ हैं। इसकी अपनी लिपि लंडा है, परन्तु यह फारसी, देवनागरी तथा गुरुमुखी में भी लिखी जाती रही है। इसमें 'त' से 'ट' तथा 'द' से 'ड' बदलने की मुख्य विशेषता है।

(3) **मराठी**—यह महाराष्ट्र की भाषा है। सर्वेक्षण में मराठी की **उन्तालीस** बोलियों का उल्लेख है। परन्तु इसकी कोंकणी (डमन तथा रत्नागिरी के उत्तरी भाग तथा गोआ के निकटवर्ती क्षेत्र), देशी मराठी (पूना के आस पास), बाँकोटी (मुसलमानों की), कुणवी (जाति विशेष), कोली (बम्बई शहर, थाना, कोलाबा, जंजीरा के कोली लोगों की), बरारी (बरार, मध्य प्रदेश, निजाम क्षेत्र), नागपुरी, और हलबी मुख्य उपभाषाएँ हैं। इन विभाषाओं में च और ज की दो-दो ध्वनियाँ हैं। इनमें से कोंकणी को कुछ विद्वान बिल्कुल अलग भाषा मानने लगे हैं। मराठी के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग होता है।

(4) **उड़िया**—वर्तमान उड़ीसा प्रान्त की भाषा है, तथा पड़ौसी प्रान्तों के सीमावर्ती क्षेत्रों में भी बोली जाती है। इस की कई बोलियां हैं परन्तु मुख्य बोली एक ही है 'भत्री'। परिनिष्ठित उड़िया कटक के आस-पास की है, जिसे कटकी कहा जाता है। आंध्र सीमा पर इस की एक बोली का नाम गंजामी है। उड़िया पर अन्य पड़ौसी भाषाओं की अपेक्षा बंगला का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इसकी अनेक मिश्रित बोलियाँ आधी उड़िया और आधी बंगला हैं। उड़िया को बंगला की भगिनी माना जाता है, पुत्री नहीं। उड़िया की अपनी लिपि है जो ब्राह्मी पर आधारित है, परन्तु इस पर तेलुगु लिपि का भी प्रभाव है।

(5) **बिहारी**—यह प्रमुखतः बिहार प्रदेश की भाषा है, परन्तु उत्तर प्रदेश के बलिया, गाज़ीपुर, पूर्वी फैजाबाद, पूर्वी जौनपुर, आज़मगढ़, बनारस, देवरिया गोरखपुर आदि ज़िलों की भाषा भी प्रायः बिहारी है। बिहारी का झुकाव उत्तर प्रदेश की ओर अधिक रहा है, बंगाल की ओर कम; फिर भी डॉ० ग्रियर्सन बिहारी को बंगला की बहिन मानते हैं। मूल रूप में बिहारी तीन भाषाओं—मैथिली, मगही और भोजपूरी—का मिश्रण है, जिन्हें बिहारी की मुख्य बोलियाँ माना जाता है। प्रत्येक की फिर कई बोलियाँ हैं। मैथिली अपने शुद्ध रूप में दरभंगा जिले की बोली है, परन्तु इसका क्षेत्र पूर्वी मुंगेर, भागलपुर भी है। मगही विभाषा दक्षिणी बिहार तथा हज़ारीबाग क्षेत्र में बोली जाती है, तथा भोजपूरी मुख्यतः भोजपुर की भाषा है। बिहारी 'कैथी' लिपि में लिखी जाती है।

(6) **बंगला**—प्रमुखतः बंगाल (पूर्वी और पश्चिमी) की भाषा है। इसका प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य बहुत धनी है। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार दैनिक तथा साहित्यिक बंगला भाषा में इतना अधिक अन्तर है जितना किसी और भारतीय भाषा में नहीं। इस लिए इसकी बोलियाँ असंख्य हैं। यह भाषा अत्यन्त ध्वनिमधुर है। बंगला मागधी प्राकृत से निकली है। इसमें 'स' को 'श' में और 'अ' को 'औ' में बदलने की प्रवृति है। इसी तरह 'क्ष' को 'छ' या 'क्ख' में तथा 'ह्य' को 'ज्झ' में आम परिवर्तन है। इसकी अपनी लिपि है जो नागरी का ही उप-रूप है। बँगला में 'व' का कोई चिह्न नहीं है।

(7) **आसामी**— डॉ० ग्रियर्सन के विभाजन के अनुसार आसामी (असमियाँ) भारतीय आर्य भाषा की बाहरी शाखा की अन्तिम भाषा है। यह मुख्यातः असम घाटी तथा उसके आस-पास के क्षेत्र की भाषा है। पश्चिमी भाग को छोड़ कर यह शेष तीनों ओर से हिन्द-चीनी तथा आस्ट्रिक भाषाओं से घिरी है, फिर भी इसका भारतीय-आर्य रूप पूर्णतः सुरक्षित है। मनीपुर तथा सिलहट और कछार की बोली 'मयाँग' या 'विश्नपुरिया' इसकी उपभाषा है, परन्तु यह बंगला के भी इतने ही निकट है। गारो पर्वत माला की तलहटी में 'झरवी' नाम की एक और बोली है जो बंगला, गारो तथा आसामी का मिश्रण है। उड़िया की तरह आसामी को भी बंगला की बहन माना गया है। आसामी में 'अ' को 'ओ' और 'औ' में बदलने की प्रवृति है। च, छ, ज की ध्वनियाँ दो तरह से मिलती हैं। आसामी लिपि बंगलालिपि से मेल खाते हुए भी स्पष्टतः इससे अलग है यद्यपि यह भी नागरी से विकसित हुई है।

(ii) मध्य उप-शाखा

बाहरी और भीतरी उप-शाखाओं के बीच मध्य उप-शाखा की भारतीय आर्य भाषाएं आती हैं।

पूर्वी हिन्दी—इस शाखा की मुख्यतः एक ही प्रमुख भाषा है, जिसे पूर्वी हिन्दी कहा जाता है। यह अर्द्ध मागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है। इसका मूल क्षेत्र पश्चिमी हिन्दी, नेपाली, बिहारी, उड़िया, तेलुगु, मराठी, तथा राजस्थानी के बीच में है, जिस में मुख्यतः उत्तर प्रदेश, बघेलखण्ड, छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश के कुछ भाग आते हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने इसकी तीन विभाषाएं मानी हैं—**अवधी, बघेली** तथा **छत्तीसगढ़ी**। परन्तु वास्तव में बघेली तथा अवधी में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अवधी-बघेली का मूल क्षेत्र उत्तर प्रदेश, बघेलखण्ड, चंगभकार, मंडला जिला तथा जबलपुर है। शेष भागों में विशेषतः उदयपुर, कोरिया, सरगुजा क्षेत्र, जयपुर तथा छत्तीसगढ़ के अधिकाँश भाग में छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। साहित्यिक दृष्टि से इन तीनों विभाषाओं में केवल अवधी को ही विशेष महत्त्व प्राप्त है। पूर्वी हिन्दी क्षेत्र में प्रधानतः नागरी लिपि का प्रयोग होता है।

(iii) भीतरी उप-शाखा

भारतीय आर्य भाषाओं की भीतरी उप-शाखा की भाषाएं प्रधानतः दो समुदायों

में विभक्त हैं—**केन्द्रीय तथा पहाड़ी**। केन्द्रीय समुदाय के अन्तर्गत पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, भीली और खान-देशी तथा पहाड़ी के अधीन पूर्वी, मध्य तथा पश्चिमी पहाड़ी भाषाएँ आती हैं।

(1) **पश्चिमी हिन्दी**—यह पंजाब में सरहिंद तथा उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के मध्यवर्ती क्षेत्र की भाषा है। शौरसेनी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। इसकी कई स्वीकृत बोलिया हैं, जिनमें पाँच मुख्य हैं—(क) **ब्रज**—मथुरा इसका केन्द्र है। यमुना के दक्षिण तथा पश्चिम में यह गुड़गाँव, भरतपुर, आगरा, अलीगढ़ एवं ग्वालियार में भी बोली जाती है; (ख) **कनौजी** इटावा, फरूखाबाद, शाहजहाँपुर, हरदोई, पीलीभीत तथा कानपुर के कुछ भागों में बोली जाती है। व्याकरण की तुलना से यह स्वतंत्र भाषा नहीं लगती और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा इसे ब्रजभाषा का ही रूप मानते हैं; (ग) **बुन्देली** बुन्देलखण्ड तथा उसके आस-पास के क्षेत्र में बोली जाती है। पंवारी, लोधाती, खटोला, भदावरी, सहेरिया और किनारकी इसकी उप-बोलियाँ हैं; (घ) **बाँगरू** हरियाणा की मुख्य बोलियों में से है जो रोहतक, हिसार, जीन्द, तथा पंजाब के पटियाला और नाभा के कुछ क्षेत्र में बोली जाती है। इसे हरियानी, जाटू नाम से भी पुकारा जाता है, (ङ) **खड़ी बोली** मुख्यत: दिल्ली-मेरठ के आप-पास बिजनौर, मुरादाबाद, रामपुर, मुज़फ्फरनगर, सहारनपुर में बोली जाती है। इसे कौरवी, हिन्दुस्तानी, या सरहिन्दी नाम से भी पुकारा जाता रहा है।

(2) **पंजाबी**—ग्रियर्सन के अनुसार इसका क्षेत्र राजस्थान की भूतपूर्व बीकानीर रियासत के उत्तरी भाग से भूतपूर्व जम्मू रियासत के दक्षिण भाग तक है। वर्तमान काल में इसका मूल क्षेत्र पंजाब राज्य है, यद्यपि यह इसके समीपवर्ती भागों में भी बोली जाती है; तथा पश्चिमी पहाड़ी, बांगरू, बागड़ी, **बीकानीरी** तथा लहँदी से घिरी है। डॉ० ग्रियर्सन ने इसकी मुख्य केवल एक बोली मानी है 'डोगरी' जो जम्मू क्षेत्र में बोली जाती है। सम्प्रति डोगरी ने साहित्य अकादमी से अलग मान्यता प्राप्त कर ली है। डोरी देवनारी लिपि में लिखी जाती है, जबकि पंजाबी की अपनी लिपि गुरुमुखी है।

(3) **राजस्थानी**—मुख्यत: राजस्थान की भाषा है, परन्तु इस का क्षेत्र मध्य प्रदेश के पश्चिमी भाग, सिन्ध तथा हरियाणा के निकटवर्ती भागों तक फैला है। राजस्थानी की कई बोलियाँ हैं। ग्रियर्सन के अनुसार केवल भूतपूर्व जयपुर राज्य में ही इस की कम से कम पन्द्रह बोलियाँ हैं। परन्तु साधारण स्थानीय भेदों को छोड़ भी दिया जाए तो भी इसकी बीस वास्तविक विभाषाएँ हैं। डा० ग्रियर्सन के अनुसार इन में से मुख्य विभाषाएँ इस प्रकार हैं—**मारवाड़ी** (पश्चिमी राजस्थानी—मारवाड़, मेवाड़, बीकानेर तथा जैसलमेर), **जयपुरी** (मध्यपूर्वीय—जयपुर, बूँदी तथा कोटा की हाड़ौती), **पूर्वोत्तरी** (अलवर की मेवाती, दिल्ली के दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम की बोली अहीरवाटी) **मालवी** (इन्दौर तथा उसके आस-पास), **निमाड़ी** (निमाड़ तथा उसके आस-पास)। डॉ० चटर्जी ग्रियर्सन के उपर्युक्त वर्गीकरण से सहमत नहीं। वे पश्चिमी राजस्थानी (प्रमुखत: मारवाड़ी) और मध्य-पूर्वी राजस्थानी (जयपुरी, किशनगढ़ी, हाड़ती, अजमेरी) को ही मुख्य राजस्थानी मानते हैं। मेवाड़ी, मालवी, अहीरवाटी, मेवाती को वे निश्चिय

रूप से राजस्थानी नहीं मानते। परन्तु डा० भोलानाथ तिवारी के अनुसार ये विभाषाएँ पश्चिमी हिन्दी के निकट होते हुए भी राजस्थानी ही हैं।

(4) **गुजराती**—मूलत: गुजरात राज्य की भाषा है, जो शौरसेनी अपभ्रंश के दक्षिण-पश्चिम रूप से विकसित हुई मानी जाती है, और आरम्भ में यह गूजर लोगों की बोली थी। अत: इसे गूजरी भी कहते थे। यह सिन्धी, मराठी तथा राजस्थानी भाषाओं से घिरी हुई है, परन्तु राजस्थानी से इसका बड़ा निकट सम्बन्ध है। गुजराती के उच्चारण में सबसे बड़ी विशेषता 'स' को 'ह' में बदलना है। सिन्धी और राजस्थानी की भाँति गुजराती में दन्त्य वर्णों की अपेक्षा मूर्धन्य वर्णों की अधिक प्रधानता है—दन्त्य प्राय: मूर्धन्य में ही बदल जाते हैं। गुजराती की कई उपबोलियाँ हैं, जिनमें से नागरी, चरोतरी, बंबइया, गामडिया, सुरती, अनावला, पाटीदादी, बड़ोदरी, सोरठी, हालादी आदि हैं। गुजराती की अपनी लिपि है, जो प्राचीन नागरी लिपि से विकसित हुई है। इस में देवनागरी के अन्य अक्षरों के साथ-साथ मूर्धन्य 'ळ' भी है।

(5) **भीली** तथा खानदेशी—अजमेर तथा आबू की पहाड़ियों के मध्य भाग में बोली जाने वाली **भीली** और खानदेश तथा उसके आस-पास की **खानदेशी** को डॉ० ग्रियर्सन ने अलग भाषाएं माना है, परन्तु डा० चटर्जी भीली को गुजराती की एक बोली मानते हैं। यह भीली जाति के लोगों की भाषा है। खानदेशी प्राय: नैकी, ढोड़िया, गामटी, चौधरी जातियों के लोगों की भाषा है। इन दोनों पर द्रविड़ और मुंडा भाषाओं का भी प्रभाव है।

(6) **पहाड़ी**—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है हिमालय की निचली पर्वत-मालाओं में पूर्व में नेपाल से लेकर पश्चिम में भद्रवाह तक बोली जाने वाली भाषाओं को पहाड़ी का नाम दिया गया है। पहाड़ों में बोली जाने के कारण ही उसे ऐसा नाम दिया गया है। डा० ग्रियर्सन के अनुसार पहाड़ के आदिम-निवासी तथा आधुनिक मुण्डा भाषी लोगों के पूर्वज एक ही परिवार से थे और समान भाषा का प्रयोग करते थे। डॉ० चटर्जी भी पहाड़ी भाषाओं का मूलाधार पैशाची, दरद या खश प्राकृत मानते हैं। परन्तु बहुत से अन्य विद्वानों का विचार है कि पहाड़ी भाषाओं का मूल स्रोत शौरसेनी प्राकृत है। भौगोलिक आधार पर पहाड़ी भाषाओं के मुख्य तीन वर्ग हैं :—

(क) **पूर्वी पहाड़ी**—सुदूर पूर्व में पूर्वी पहाड़ी है जिसमें नेपाली की प्रधानता है, इसी कारण इसे केवल नेपाली के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इसे 'खसकूरा', 'गोरखाली' या 'खसकुश' भी कहते हैं।

(ख) **मध्य पहाड़ी**—नेपाली से पश्चिम की ओर कुमाऊँ और गढ़वाल का क्षेत्र है, जहाँ की भाषा को मध्यपहाड़ी का नाम दिया गया है। इसमें मुख्य दो बोलियाँ हैं—कुमाउँनी तथा गढ़वाली।

(ग) **पश्चिमी पहाड़ी**—उत्तर प्रदेश के जौनसर-बावर से लेकर जम्मू-कश्मीर के भद्रवाह तक की बोलियों को सामूहिक रूप से पश्चिमी पहाड़ी का नाम दिया गया है।

अध्याय—3

पहाड़ी भाषा—उद्भव और स्वरूप

जैसा कि हम पिछले दो अध्यायों में देख चुके हैं, भारत में भाषा विकास का क्रम, विश्व की अन्य सभी भाषाओं की तरह, एक बहुत लम्बे समय से चलता रहा है, और इस लम्बी अवधि में भाषा-विकास-क्रम को कई परिस्थितियों से गुज़रना पड़ा है। आन्तरिक, भौगोलिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विभिन्नताओं के सह-सम्बन्धों के अतिरिक्त बाहरी आक्रमण-कर्त्ताओं की भाषाओं की रेल-पेल के परिणाम-स्वरूप भारतीय भाषाओं के रूप और स्वभाव में समय की गति के साथ-साथ क्रमिक परिवर्तन आता रहा है। भाषा विकास के इस लम्बे इतिहास में दो धारणाओं का स्पष्टतः लगातार संघर्ष लक्षित होता है। यह संघर्ष एक ओर साहित्यिक भाषा तथा दूसरी ओर आम बोल-चाल की भाषा के बीच था। जब आरम्भिक काल में वेदों की रचना की भाषा वैदिक संस्कृत थी, तो आम लोगों में लौकिक संस्कृत प्रचलित थी। जनता की शक्ति का रूप चाहे कुछ भी हो, अन्ततोगत्वा यह विजयी रहती है। वैदिक संस्कृत पर लौकिक संस्कृत प्रभुत्व-सम्पन्न हुई। प्रभावी होनेके कारण इसमें भी साहित्य रचना आरम्भ हुई और जब लौकिक संस्कृत के विकसित साहित्यिक रूप को पाणिनि ने व्याकरण के कड़े और कठोर नियमों में जकड़ दिया, तो इस वैयाकरणिक तथा साहित्यिक भाषा का उसीके आम बोल-चाल के रूप से संघर्ष रहा, जो प्राकृत कहलाया। संस्कार किए रूप से स्वाभाविक प्राकृत रूप जूझता रहा, और विजयी होकर प्राकृत का बोल बाला हो गया। जब प्राकृत ने भी साहित्यिक रूप धारण किया तो आम लोगों की बोली अपभ्रंश अर्थात् असाधु भाषा कहलाई, परन्तु असाधु भाषा ने साधु भाषा को किनारे लगा कर जनता में प्रभुत्व जमाया। वैदिक, लौकिक संस्कृत का काल लगभग 1500 ई० पू० से 500 ई० पू० तक रहा। लगभग 500 ई० पू० से 500 ईसवी सदी तक प्राकृत भाषाओं का समय माना जाता है, तथा 500 ईसवी से लगभग 1000 तक अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग रहा। कुछ विद्वान इसका समय 1100 या 1200 ई० तक भी मानते हैं।

इस समय में आकर साहित्यिक तथा बोल-चाल की भाषा के संघर्ष में एक तीसरी भाषा ने पदार्पण किया। वह कोर्ट भाषा थी। इसे दरबारी भाषा या प्रशासनिक भाषा भी कह सकते हैं। चाहे यह भाषा फारसी रही हो या अंग्रेजी, भाषा के विकास

में इसका विशेष महत्त्व रहा है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में "समस्त मुसलमान शासकों ने, चाहे वे किसी भी वर्ग के क्यों न हों फारसी को ही दरबारी तथा साहित्यिक भाषा की तरह अपना रखा था।"[1] दरबारी या प्रशासनिक भाषा को राज-सत्ता का प्राधिकार तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। ऐसी भाषा द्वारा अन्य भाषा को दबाने के प्रायः प्रयत्न रहते हैं। परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी आम लोगों की बोल-चाल की भाषा फलती-फूलती रहती है। भाषा के क्षेत्र में कितने ही गतिरोध हों इन से भाषा के रूप-रंग में अन्तर तो अवश्य आता है, पर जनता की बोल-चाल की भाषा प्राकृतिक-प्रवाह से आगे बढ़ती है। बाहरी प्रभाव को वह केवल उसी सीमा तक अपनाती है जिसे वह मुख-साध्य के अनुसार अपने-आप में आत्मसात कर लेती है। कुछ भी हो जब फारसी, अंग्रेज़ी आदि दरबारी एवं प्रशासनिक भाषाएँ थीं तो भी जनसमुदाय की अपनी भाषा ब्रज, अवधि, उड़िया, तेलुगू, मराठी, राजस्थानी, गुजराती, बिहारी, बंगाली अबाध रूप से विकसित होती रहीं, और अपने स्वाभाविक रूप में हम तक पहुँची।

परन्तु एक बात अवश्य है कि जो भाषा आज हम विभिन्न क्षेत्रों में बोलते हैं, उसका रूप इस कदर बदल चुका है कि आज आसानी से यह कहना कठिन है कि अमुक भाषा किस प्राचीन भाषा से प्रसूत हुई है, इसके शब्द किसी एक भाषा परिवार से हैं और ध्वनि किसी दूसरे परिवार से। शब्द का एक अक्षर किसी अन्य भाषा का है तथा दूसरा अक्षर दूसरी ही भाषा का पदार्पण कर चुका है। परिणामस्वरूप आज कितने ही शब्दों की व्युत्पत्ति निश्चित करना अत्यन्त कठिन कार्य है। चाहे विद्वान कितनी ही घसीटा-तानी क्यों न करें, कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति के बार में सन्देह बना रहता है, अन्य कितने ही शब्दों का स्रोत ढूंढना आज असम्भव सा लगता है। विशेषतः पहाड़ी भाषा के बारे में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जो भाषा आदि काल से आज तक अनन्त दौरों से गुजरी हो और साथ ही एक संरक्षण-शील समाज की थाती हो, उसके मूल रूप को पहचानना अत्यन्त कठिन है। ऐसे सभी शब्दों की सूची यहाँ देना सम्भव नहीं है, परन्तु यदि हम उदाहरण के लिए केवल मानव शरीर के अंगों के नाम ही लें तो आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जाता कि आखिर ये शब्द कहाँ से आए हैं और कैसे बने हैं—यथा, टेंडा (आँख), चोढ़ा (सिर के बाल), खाख (मुँह, गाल) मुथू (गर्दन), टुंड्ड (हाथ), थोथर (गाल), ठुह्‌डा (पैर), फौफ़ू (कंधा) ढार (टाँग का घुटने से नीचे का भाग) आदि। ऐसी परिस्थितियों में तथा भाषा के वर्तमान रूप की दृष्टि में विकास-दिशा-निर्धारण का कार्य निस्सन्देह बहुत कठिन है। परन्तु फिर भी भाषा-विज्ञान में ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर भाषा का अध्ययन किया जाता है, और यह कार्य इतना कठिन नहीं जितना प्रायः साधारण रूप में समझा जाता है।

उद्भव सम्बन्धी मतभेद

पहाड़ी भाषाओं की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में मतभेद है। मुख्यतः इसके सम्बन्ध में विद्वानों की दो धारणाएँ हैं—कुछ विद्वान पहाड़ी भाषाओं का सम्बन्ध दरद-

1. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० 71-72.

पैशाची से मानते हैं, अन्य इनकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से मानते हैं। प्रथम धारणा के विद्वानों में प्रमुख स्थान डॉ० ग्रियर्सन का है। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार यद्यपि पहाड़ी भाषाओं के ठीक दक्षिण में पंजाबी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी का क्षेत्र है, परन्तु पहाड़ी भाषाओं का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] वे पहाड़ी भाषाओं का आधार दरद-पैशाची भाषाएँ मानते हैं। ऐसी स्थापना वे इस आधार पर करते हैं कि वर्तमान पहाड़ी भाषा क्षेत्र में सर्वप्रथम आने वाले विदेशी खश थे जो मध्य एशिया से भारत के उत्तरी भाग में आए, और इनके कुछ समय बाद गुर्जर जाति के लोग विदेश से इन्हीं क्षेत्रों में पहुँचे। खश और गुर्जर आर्य भाषा बोलते थे परन्तु यह भारतीय आर्य भाषा नहीं थी। उत्तरी भारत के वर्तमान कनैत और खश लोग इन्हीं खशों की सन्तान हैं, तथा राव राजपूत और वर्तमान गूजर उस समय की आगंतुक गुर्जर जाति से सम्बन्धित हैं। और खश-भाषा को वे उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के निवासी पिशाचों की भाषा 'पैशाची' से सम्बन्धित मानते हैं।[2] इसके साथ ही, पैशाची को वे 'शीना' (अर्थात् दरद) जाति की भाषा भी मानते हैं, जिनका मूल केन्द्र स्थान कश्मीर के उत्तर में गिलगित है।[3] इस प्रकार डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार पहाड़ी भाषाओं का मूलाधार दरद-पैशाची है।

डॉ० ग्रियर्सन के भारतीय आर्य भाषा के वर्गीकरण से प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी सहमत नहीं हुए। उन्होंने बाद में भारतीय आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण अपने ढंग से किया। परन्तु पहाड़ी भाषाओं के बारे में उनका मत डॉ० ग्रियर्सन के विचार से अधिक भिन्न नहीं था। उन्होंने उदीच्य, प्रतीच्य, मध्यदेशीय, दाक्षिणात्य और प्राच्य नाम से किए भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण में पहाड़ी भाषाओं को कोई स्थान नहीं दिया, बल्कि उनका अलग से हवाला दे कर खश अथवा दरद-पैशाची को मूलाधार बताया और उस पर राजस्थानी का प्रभाव लक्षित करते हुए उसकी शाखा बताया। उनके अनुसार पहाड़ी बोलियाँ पैशाची, दरद, या खश अपभ्रंश से सम्बन्धित हैं और प्रायः राजस्थानी के रूपान्तर हैं।

डॉ० ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के बाद हिन्दी के विद्वानों का भारतीय भाषाओं के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान गया है, परन्तु पहाड़ी बोलियों के बारे में विद्वानों में स्पष्ट एकमत या पर्याप्त सहमति नहीं है। इसके कारण स्पष्ट हैं। प्रथम तो इन बोलियों पर अधिक शोध-कार्य नहीं हुआ है, और दूसरे इनमें पर्याप्त लिखित साहित्य और भाषा के रूप उपलब्ध नहीं हैं, जिन पर अध्ययन कार्य आधारित होता। फिर भी जिन विद्वानों ने अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन करते समय पहाड़ी बोलियों के बारे में उल्लेख किया है, उनके विचार विशेष महत्त्व के हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० उदय नारायण तिवारी, डॉ० भोलानाथ तिवारी, डॉ० हरदेव बाहरी, डॉ० गोविन्द चातक और डॉ० कृष्णलाल हंस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

1. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, खण्ड 9 भाग 4, पृ०, 2.
2. वही पृ०, 14.
3. डा० ग्रियर्सन : पिशाच लैंग्वेजिज आफ नार्थ वेस्टर्न इण्डिया, पृ० 2-3.

डॉ० चटर्जी के भौगोलिक वर्गीकरण के आधार पर ही भारतीय आर्य भाषाओं का श्रेणीकरण करते हैं, जिसमें वे पहाड़ी भाषाओं को स्पष्टत: किसी वर्ग में नहीं रखते, परन्तु उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा का इतिहास' में पहाड़ी भाषाओं का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से स्थापित किया है। इसी तरह 'ब्रजभाषा' के अध्ययन में भी उन्होंने ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। डॉ० उदय नारायण तिवारी ने भी भोजपुरी भाषा का अध्ययन करते हुए पहाड़ी बोलियों को शौरसेनी से प्रसूत माना है।[1] डॉ० भोला नाथ तिवारी पहाड़ी को पश्चिमी पहाड़ी और माध्यमिक पहाड़ी दो वर्गों में रखकर इसे हिन्दी की पांच उप-भाषाओं में से एक उपभाषा मानते हैं, परन्तु उत्पत्ति के आधार पर पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती के साथ शौरसेनी से प्रसूत मानते हैं।[2] डॉ० हरदेव बाहरी को डॉ० ग्रियर्सन और डॉ० चटर्जी, दोनों के भाषा वर्गीकरण पर आपत्ति है। वे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को 'हिन्दी' और 'अहिन्दी' दो वर्गों में रखकर उनका विभाजन करते हैं। इस विभाजन में वे पूर्वी पहाड़ी अर्थात् नेपाली को स्पष्टत: अहिन्दी वर्ग में रखते हैं, और मध्य पहाड़ी को हिन्दी वर्ग में। मध्यपहाड़ी का विशेष रूप से उल्लेख करके वे इसे हिन्दी की पाँच उप-भाषाओं में से एक उप-भाषा मानते हैं। लेकिन पश्चिमी पहाड़ी का कहीं उल्लेख नहीं करते।[3] इस प्रकार वे हिमालय की तराई की भाषाओं के पूर्वी, मध्य तथा पश्चिमी वर्ग को तो मानते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु इनमें से केवल दो का वर्णन करके पश्चिमी वर्ग का हवाला नहीं देते। जब वे समस्त भारतीय भाषाओं के हिन्दी और अहिन्दी में विभाजन करते हैं और पश्चिमी पहाड़ी को इनमें कहीं नहीं रखते, तो सम्भवत: वे इसे भारतीय नहीं समझते। इस विचार-धारा के समर्थकों में डॉ० गोविन्द चातक का नाम भी उल्लेखनीय है। 'मध्य पहाड़ी का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन' के नाम पर उन्होंने "गढ़वाली बोली" का विशेष अध्ययन किया है। डॉ० ग्रियर्सन और डॉ० चटर्जी की धारणा का विरोध करते हुए वे पहाड़ी भाषाओं का मूलाधार दरद, खश या पैशाची प्राकृत होने का खण्डन करते हैं। वे मध्य पहाड़ी क्षेत्र का शक, गुर्जर तथा आभीरादि जातियों से सम्बन्ध मानते हैं और पहाड़ी भाषाओं पर दरद या पैशाची के प्रभाव को पूर्णत: अस्वीकार भी नहीं करते तथा साथ ही इन बोलियों के उकार बहुलता के साक्ष्य को ध्यान में रखते हुए मध्य पहाड़ी का सम्बन्ध अपभ्रंश से भी मानते हैं, परन्तु यह अपभ्रंश व्राचड या पैशाची रही होगी, वे यह स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार मध्य पहाड़ी (गढ़वाली) का अगर किसी के साथ सीधा सम्बन्ध प्रकट होता है, तो वह शौरसेनी अपभ्रंश से है।[4] उनके अनुसार उत्तर भारत की सभी भाषाओं और बोलियों का उद्‌गम स्थल **मध्यदेश** ही है। इस प्रकार डॉ० चातक पहाड़ी भाषाओं का मूलाधार खश या दरदपैशाची न मानकर शौरसेनी अपभ्रंश मानते हैं वास्तव में वे शौरसेनी का क्षेत्र बहुत विस्तृत मानते हैं, और लिखते हैं कि शौरसेनी-पैशाची की तरह ही शौरसेनी का कोई और पर्वतीय रूप भी रहा होगा, जो पहाड़ी बोलियों का मूलाधार हो।

1. डा० उदय नारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० 17.
2. डा० भोलानाथ तिवारी : भाषा विज्ञान कोश, पृ० 736 तथा 89.
3. डा० हरदेव बाहरी : हिन्दी : उद्‌भव, विकास और रूप, पृ० 85 और आगे।
4. डा० गोविन्द चातक : मध्य पहाड़ी का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 37, 34.

पहाड़ी भाषाओं के बारे में सभी विद्वान एक बात पर सहमत हैं कि उनका सीधा सम्बन्ध राजस्थानी से है। इस बात को उपर्युक्त दोनों धारणाओं के समर्थक एक मत से स्वीकार करते हैं, और इसका मूल कारण दोनों भाषा-भाषी निवासियों के खश तथा गुर्जर समान पूर्वज होने की धारणा है। इसी साम्य को दृष्टि में रखते हुए डॉ० चातक का विचार है कि वास्तव में राजस्थानी का उद्‌गम जिस शौरसेनी में खोजा जाता है, उसी का एक पर्वतीय रूप मध्य पहाड़ी का स्रोत भी है। इसी बात का समर्थन डॉ० कृष्णलाल हंस के विचारों से होता है। वे लिखते हैं "शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का विकास हुआ। इनमें राजस्थानी, गुजराती तथा पहाड़ी भाषाएं नागर अपभ्रंश से सम्बन्धित है।"[1] इन भाषाओं का एक बार शौरसेनी अपभ्रंश से विकास तथा दूसरी बार नागर अपभ्रंश से सम्बन्ध जतलाने का अर्थ सम्भवतः यह है कि वे एक को दूसरे की उप-शाखा मानते हैं, और यह ठीक भी है।

वास्तव में पहाड़ी बोलियों के आधार और उद्‌भव के बारे में इस कदर अनिश्चितता और भिन्नता का मुख्य कारण इन भाषाओं में विद्यमान भिन्न और, किसी सीमा तक, विपरीत भाषा-तत्त्वों की उपस्थिति है, जिनका विभिन्न आधार की भाषाओं से सम्बन्ध स्थापित होता है। पहाड़ी भाषा का शौरसेनी अपभ्रंश से सम्बन्ध तो स्वयं डॉ० ग्रियर्सन भी मानते हैं, परन्तु वे शौरसेनी को इसका मूलाधार नहीं मानते। भारतीय आधुनिक आर्य भाषाओं का मध्यकालीन आर्य भाषाओं से सम्बन्ध जोड़ते हुए डॉ० ग्रियर्सन पहाड़ी भाषाओं को नागर अपभ्रंश की आवन्त्य शाखा से व्युत्पन्न होने का संकेत करते हैं। परन्तु वे इस निर्णय पर उस निश्चय से नहीं पहुँचते जिससे वे अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के जन्म के बारे में अपना मत व्यक्त करते हैं। वे स्वयं लिखते हैं कि 'इस क्षेत्र की किसी विशिष्ट प्राकृत अथवा अपभ्रंश का पता नहीं हैं। उनके विचार में पंजाब के उत्तर में टक्क अपभ्रंश ने उन पर अवश्य प्रभाव डाला था। दरदीय-मूल की भाषाएं बोलने वाली खश तथा अन्य जातियों के इधर कई आक्रमण हुए और मध्य एशिया से आने वाली गुर्जर जाति भी सम्भवतः अपने साथ आर्य-भाषा ले आई थी। अन्ततः यहां राजपूताने से भी निष्क्रमणकारी आये और इनकी भाषा पूर्वागत लोगों की भाषा से मिश्रित हो गई और मोटे तौर पर यही भाषा प्रसारित भी हुई।[2] पहाड़ी भाषाओं के मूलाधार के बारे में ग्रियर्सन की संदिग्धता यहीं समाप्त नहीं होती। वे इन भाषाओं में विभिन्न तत्त्वों के मिश्रण का हवाला देते हुए राजपुताने में बोली जाने वाली भाषाओं से इनका सम्बन्ध जोड़ते हैं, और अन्ततः इस निर्णय पर पहुँचने पर विवश होते हैं कि हो सकता है इनकी उत्पत्ति **आवन्त्य** अपभ्रंश से हुई हो।

और आवन्त्य को वे नागर अपभ्रंश की एक शाखा मानते हैं। नागर अपभ्रंश गुजरात तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों की अपभ्रंश थी, जहां आज भी नागर ब्राह्मणों की बोलचाल की भाषा है। नागर अपभ्रंश से प्रसूत वे कुछ अन्य शाखाएं भी मानते हैं—

---

1. डा० कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, पृ० 21.
2. 'भारत का भाषा सर्वेक्षण'—डा० उदयनारायण तिवारी का अनुवाद, पृ० 249.

जैसे उत्तरी मध्य पंजाब की टक्क, दक्षिणी पंजाब की उपनागर, गुजरात की गोर्जर तथा पश्चिमी हिन्दी की जननी शौरसेनी। इस प्रकार डॉ० ग्रियर्सन शौरसेनी तथा पहाड़ी के बीच दूर का रिश्ता मानने के लिए विवश होते प्रतीत होते हैं। परन्तु मूलरूप में वे पहाड़ी भाषाओं को दरद-पैशाची से प्रसूत समझते हैं, और मध्यकाल में इन्हें किसी समय राजस्थान की प्राकृत अथवा अपभ्रंश से प्रभावित मानते हैं।

पहाड़ी से अभिप्राय

इस विषय को कुछ देर के लिए यहां स्थगित करना समीचीन होगा। पहाड़ी से क्या अभिप्राय है, इस बात पर पहले अनुशीलन करना अधिक जरूरी होगा और इसके लिए यह उचित स्थान भी है। पहाड़ी का शाब्दिक अर्थ 'पहाड़ों से सम्बन्धित' है। इस अर्थ में यह दो तरह से प्रयुक्त होता है—प्रथम, पहाड़ का रहने वाला अथवा पहाड़ का निवासी 'पहाड़ी', तथा दूसरे, पहाड़ी क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषा 'पहाड़ी'। जहां भाषा के रूप में भारत के उत्तर में हिमालय की तराई में पश्चिम में जम्मू-कश्मीर के भद्रवाह क्षेत्र से पूर्व में नेपाल तक की भाषा को भाषाई अध्ययन में 'पहाड़ी' कहा गया है, वहाँ इस क्षेत्र के सभी निवासियों को 'पहाड़ी' नाम से प्रायः पुकारा नहीं जाता। सुदूर पूर्व नेपाल के निवासी को नेपाली कहा जाता है या गोरखा। उन्हें पहाड़ी नाम से कभी सम्बोधित नहीं किया जाता। भारत के किसी भाग में वे जाएं वे नेपाली हैं या गोरखा कहे जाते हैं। इसी तरह मध्य भाग के निवासी को प्रायः गढ़वाली ही कहा जाता है। चाहे वे कुमाऊं से हों या गढ़वाल से, उन्हें एक ही नाम 'गढ़वाली' से जाना और सम्बोधित किया जाता है। परन्तु पश्चिम पहाड़ों के निवासियों के लिए ऐसा कोई नाम नहीं। उन्हें मैदानों में हिमाचली, शिमलवी, कांगड़ी या कुलुई नहीं कहा जाता। ज्यों ही इन पहाड़ियों का निवासी पहाड़ी क्षेत्र से नीचे मैदानों में उतरता है, उसकी वेशभूषा या बोली से तुरन्त उसे 'पहाड़ी' या पहाड़िया कहते हैं। आज की बात नहीं, आज तो पठानकोट, जालन्धर, अम्बाला में पहुंचते ही वह पहाड़ी है, अविभाजित भारत में लाहौर में भी वह पहाड़ी था। अतः स्पष्टतया निवासी के रूप में पहाड़ी से अभिप्राय वे निवासी हैं जो पश्चिमी हिमालय की तराई में रहते हैं, अथवा जो वर्तमान हिमाचल प्रदेश के निवासी हैं। चाहे वे कुल्लू के हैं, सिरमौर, शिमला, मण्डी, कांगड़ा, चम्बा या बिलासपुर के, आपस में वे एक दूसरे के लिए भले ही मण्डयाल, सिरमौरी, कांगड़ी, चम्बयाल जरूर हों, परन्तु अपने हिमाचल से बाहर उन सब के लिए केवल एक ही नाम सम्बोधित है और वह 'पहाड़ी' है। इस दृष्टि से जहाँ हिमालय के अन्दरूनी भाग के पूर्वी क्षेत्र के निवासी नेपाली या गोरखा हैं, और मध्य भाग के गढ़वाली हैं, वहाँ पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र के निवासी 'पहाड़ी' ही कहे जाते हैं, और उनके लिए यही नाम निर्धारित है।

जहां तक भाषा के रूप में 'पहाड़ी' शब्द का सम्बन्ध है, हिमालय की पहाड़ियों में पश्चिम में कश्मीर के पूर्वी भाग भद्रवाह से लेकर नेपाल के पूर्व भाग तक की समस्त भाषा-समूह को 'पहाड़ी' कहा गया है। ठीक भाषा के रूप में इस तरह का नाम सम्भवतः सर्वप्रथम डॉ० ग्रियर्सन ने दिया है। और तत्पश्चात् अन्य भाषा-वैज्ञानिकों ने भी इसी
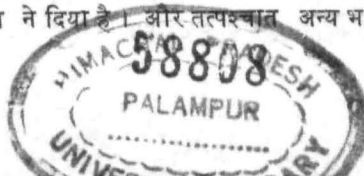
नाम को प्रचलित रखा और प्रयुक्त किया है। परन्तु डॉ० ग्रियसन ने किसी एक भाषा विशेष को 'पहाड़ी' नाम नहीं दिया था। वे उपर्युक्त क्षेत्र में बोली जाने वाली विभिन्न भाषाओं के समूह को 'पहाड़ी' कहते हैं। उनकी दृष्टि में 'पहाड़ी' कोई भाषा विशेष नहीं है, बल्कि वे हिमालय के दामन के साथ-साथ पूर्व से पश्चिम की ओर बोली जानेवाली भाषाओं के वर्ग को 'पहाड़ी' कहते हैं। यहाँ उनके शब्दों को ही उद्धृत करना अधिक उचित होगा, जो उनके भाषा-सर्वेक्षण के खण्ड 9 भाग 4 के प्रथम शब्द अथवा पंक्तियां हैं:—

> "The word 'Pahari' means 'of or belonging to the mountains', and is specially applied to the groups of languages spoken in the sub-Himalayan hills extending fıom the Bhadrawah, north of the Punjab to the eastern parts of Nepal."

स्पष्ट है कि 'पहाड़ी' से उनका अभिप्राय 'भाषा-समूह' से है 'भाषा विशेष' से नहीं। और, उनका यह नाम भौगोलिक है, तथा भाषा के वर्गीकरण के लिए प्रयुक्त हुआ है। भाषा के भौगोलिक दृष्टि से वर्गीकरण को भाषा-वैज्ञानिक अधिक युक्तिसंगत भी नहीं समझते।[1] परन्तु फिर भी यदि भाषा के वर्गीकरण के लिए ऐसे नाम अपना भी लिए जाएं, वे भाषा विशेष के लिए उचित नहीं हो सकते। भाषा के वर्गीकरण के लिए तो प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने उदीच्य, प्रतीच्य, मध्यदेशीय, प्राच्य, दाक्षिणात्य नाम भी दिए हैं, और उनके ये नाम सर्वमानीय हैं, और कई अन्य विद्वानों ने इन नामों को अपनाया है। परन्तु इन नामों से किसी एक भाषा को सम्बोधित नहीं किया जाता है। उदाहरणार्थ **प्राच्य** के अन्तर्गत पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, असमिया और बंगला में से किसी एक को प्राच्य नाम नहीं दिया जाता। उन सब का अपना-अपना नाम है, परन्तु सामूहिक रूप में वे सब प्राच्य हैं। अतः स्पष्ट है कि भाषा का नाम भौगोलिक होते हुए भी उसमें भाषा की मूलभूत विशेषताएं भी अन्तर्निहित होनी चाहिए।

वर्गीकरण रूप में भी स्वयं डॉ० ग्रियर्सन ने पूर्वी पहाड़ी को नेपाली तथा मध्य पहाड़ी को कुमाउँनी-गढ़वाली कहा है, परन्तु पश्चिमी पहाड़ी के लिये उन्होंने कोई ऐसा नाम नहीं अपनाया है। और उनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी पूर्वी पहाड़ी को 'नेपाली' तथा मध्य पहाड़ी को 'गढ़वाली' के नाम से ही सम्बोधित किया है। सुदूर पूर्व में नेपाली का ही प्रभुत्व है अतः इस क्षेत्र की भाषाओं को 'नेपाली' कहना उचित है, और इसी नाम से इसका प्रयोग प्रचलित भी है। यही बात मध्य पहाड़ी के सम्बन्ध में भी उपयुक्त सिद्ध होती है, वहां गढ़वाली प्रमुख भाषा है और इसी नाम से मध्य पहाड़ी को समझा तथा जाना जाता है। यह बात डॉ० गोविन्द चातक के शोध-कार्य से भी स्पष्ट है। वे अपनी पुस्तक का नाम तो निस्सन्देह 'मध्य-पहाड़ी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन' देते हैं, परन्तु उसके अन्तर्गत अध्ययन पूर्णतः गढ़वाली भाषा का है। इस नाम

1. डा० भोलानाथ तिवारी : भाषा विज्ञान कोश, पृ० 89.

के प्रयोग के कारण को व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं "इसलिए 'मध्य पहाड़ी' का भाषा शास्त्रीय अध्ययन होते हुए भी इसे गढ़वाली बोली से ही सम्बद्ध अध्ययन माना जाना चाहिए। 'मध्य पहाड़ी' शब्द का प्रयोग हमने भाषा वैज्ञानिक सुविधा के कारण किया है। इसके साथ ही गढ़वाली और कुमाउँनी दोनों बोलियों की मौलिक एकता भी हमारे ध्यान में रही है।[1] भाषा की दृष्टि से उपर्युक्त विवेचन से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि 'पहाड़ी' शब्द किसी भाषा विशेष के लिए नहीं, परन्तु भाषाओं के समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसमें पूर्वी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी तथा पश्चिमी पहाड़ी भाषाओं का समावेश है। दूसरे यह कि पूर्वी पहाड़ी प्रायः अब नेपाली नाम से पुकारी तथा समझी जाती है, और मध्य पहाड़ी गढ़वाली के नाम से। अतः 'पहाड़ी' शब्द अब केवल पश्चिमी पहाड़ी के लिए सुरक्षित तथा सीमित रहा है।

पश्चिमी पहाड़ की बोलियों को 'पहाड़ी' नाम आज नहीं दिया गया है। उनके लिए यह नाम प्राचीन काल से चला आ रहा है और लिखित रूप में उन्हें यह नाम तब दिया गया है, जब अभी भाषाओं का अध्ययन उस दृष्टि से नहीं किया जाता था जिस ढंग से आज हुआ है। 1881 की जनगणना में डोगरी और कश्मीरी के साथ-साथ पहाड़ी का भी अलग भाषा के रूप में नाम आया है। उस समय की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार 'डोगरी विशेष जम्मू के डोगरा या राजपूत निवासियों की भाषा है और केवल जम्मू में बोली जाती है,' तथा 'पहाड़ी कांगड़ा, कुल्लू, मण्डी, सुकेत और शिमला पहाड़ी रियासतों की भाषा है, जबकि कश्मीरी जेलम नदी की अपर वैली तक सीमित है।' इससे स्पष्ट है कि 1881 तक भाषा के रूप में 'पहाड़ी' नाम यदि कहीं प्रयुक्त होता था, तो केवल उन बोलियों के लिए जो उन क्षेत्रों में बोली जाती थीं, जो आजकल हिमाचल प्रदेश का प्रमुख भाग है। और यह नाम किसी भाषा-वैज्ञानिक ने नहीं बल्कि उन लोगों ने अपनी बोली को दिया है, जो इन्हें बोलते थे, या जिनकी यह मातृ-भाषा थी। सम्भव है, इसी नाम के आधार पर डॉ० ग्रियर्सन ने उत्तरी भारत की पश्चिम से पूर्व तक की भाषाओं को पहाड़ी नाम दिया हो। डॉ० ग्रियर्सन के सामने वर्गीकरण के लिए भौगोलिक स्थिति तो अवश्य ही थी, और तभी वे समस्त भाषाओं को प्रमुखतः बाहरी, मध्य और भीतरी उपशाखाओं में बांटते हैं। उप-हिमालय पहाड़ी भाषा समूह की किसी अन्य बोली को 1881 की जनगणना में 'पहाड़ी' नाम नहीं दिया गया है। डॉ० ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के लिए प्रमुखतः 1881 की जनगणना की संख्याएं मूल रूप से सामने थीं। हो सकता है, कुल्लू, कांगड़ा, मण्डी, सुकेत और शिमला पहाड़ी रियासतों की 1881 जनगणना की भाषा के 'पहाड़ी' नाम ने डा० ग्रियर्सन को प्रभावित किया हो और उन्होंने इसका क्षेत्र समस्त उप-हिमालय पहाड़ी क्षेत्र तक बढ़ा दिया हो। कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि इस भू-खण्ड की भाषा का नाम सन् 1881 से पहले से ही 'पहाड़ी' था और उस जनगणना में 'पहाड़ी' भाषा बोलने वालों की संख्या 6, 19, 468 थी।

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—प्रथम यह कि वर्तमान हिमाचल प्रदेश के निवासियों को 'पहाड़ी' समझा और कहा जाता है। दूसरे यह कि

1. डा० गोविन्द चातक : मध्य पहाड़ी का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 7

इसी क्षेत्र की भाषा को 'पहाड़ी' कहते हैं और यह नाम आज का नहीं पुराना है। चूंकि यहां के निवासियों को पहाड़ी कहा जाता है, और उनकी भाषा का नाम पहाड़ी चला आता है, अतः **'पहाड़ी'** भाषा से अभिप्राय हिमाचल प्रदेश और उसके साथ लगते क्षेत्रों की आधुनिक भारतीय आर्य भाषा से है, जिसे डॉ० ग्रियर्सन ने पश्चिमी पहाड़ी का नाम दिया था।

भाषाओं के नामकरण की पद्धति से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। भाषा विशेष के लिए वही नाम निश्चित होता है, जिस नाम से उसके बोलने वाले इसे समझते हैं या जो उसका स्वरूप है, जैसे—संस्कृत, प्राकृत, पालि, मलयालम आदि। परन्तु जिस भाषा समूह का भाषा-वैज्ञानिकों ने 'पहाड़ी' नाम दिया है, उसमें ऐसा कोई गुण नहीं हैं। कश्मीर के पश्चिम से लेकर नेपाल के पश्चिम तक के सभी लोग अपनी भाषा को 'पहाड़ी' नहीं कहते। पूर्वी भाग वाले अपनी भाषा को नेपाली तथा मध्य भाग वाले गढ़वाली कहते हैं। केवल पश्चिमी भाग वाले अपनी भाषा को पहाड़ी कहते हैं। या, भाषा का नाम सम्प्रदाय अथवा जाति विशेष के नाम पर सम्बोधित होता है, जैसे—अंग्रेजों की अंग्रेजी, आर्य लोगों की आर्य; इस दृष्टि से भी चूंकि मैदानों में पश्चिमी भाग के लोगों को पहाड़ी कहते हैं, अतः केवल उनकी भाषा ही पहाड़ी **कहलानी** चाहिए। या फिर, भाषाएं देश विशेष के नाम पर जानी जाती हैं, जैसे—जापान की जापानी, चीन की चीनी, बंगाल की बंगला, पंजाब की पंजाबी आदि। परन्तु इस स्थिति में भी भाषायी तथा सांस्कृतिक समता का होना अनिवार्य हैं। इस दृष्टि से भी कश्मीर से नेपाल तक का क्षेत्र भाषिक, सांस्कृतिक तथा प्रशासनिक इकाई नहीं है। वास्तव में किसी भी विद्वान ने पूर्व से पश्चिम तक की हिमालय की तराई की भाषाओं को भाषायी इकाई के रूप में नहीं माना है। उन्होंने केवल वर्गीकरण की सुविधा और उद्देश्य से इन सभी भाषाओं को 'पहाड़ी' शाखा के अन्तर्गत रखा है, अन्यथा वे इन्हें अलग-अलग भाषाएं मानते है।

इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध **भाषा शास्त्री डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी** के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और निर्णायक हैं। उन्होंने 1958 में मद्रास से प्रकाशित 'लेंग्वेजिज़ आफ इण्डिया' में हिन्दी भाषा की व्याख्या और क्षेत्र का वर्णन करते हुए 'हिन्दी' नाम केवल ग्रियर्सन की 'पश्चिमी हिन्दी' की बोलियों के समूह को दिया है। शेष हिन्दी प्रदेश में उन्होंने निम्नलिखित स्वतंत्र भाषाएं मानी हैं—(1) मैथिली, (2) गायत्री, (3) भोजपुरी, (4) कोसली अर्थात् ग्रियर्सन की पूर्वी हिन्दी, (5) राजस्थानी, (६) भीली, (7) मध्य पहाड़ी, (8) पश्चिमी पहाड़ी, (9) हलवी अर्थात् बस्तर की भाषा।[1] यहां उन्होंने 'पूर्वी पहाड़ी' को हिन्दी प्रदेश से निकाल दिया है, और मध्य पहाड़ी तथा 'पश्चिमी पहाड़ी' को नितान्त अलग-अलग भाषाएँ बताया है, बोलियां नहीं। स्पष्ट है कि उन्होंने 'पश्चिमी पहाड़ी' को पूर्वी पहाड़ी और मध्य पहाड़ी से स्वतंत्र भाषा माना है, भले ही उन्होंने इसका अलग नामकरण नहीं किया। और यह नामकरण क्षेत्र

1. डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास', द्वितीय भाग, हिन्दी साहित्य का विकास पृ० 24 पर उद्धृत।

विशेष के भाषा-भाषियों ने स्वयं कर दिया है, जब पूर्वी पहाड़ी वाले अपनी भाषा को नेपाली, मध्य पहाड़ी वाले गढ़वाली और पश्चिमी पहाड़ी वाले पहाड़ी कहते हैं।

इन सभी मान्यताओं तथा धारणाओं के अन्तर्गत केवल वर्तमान हिमाचल प्रदेश तथा उसके साथ लगते क्षेत्र की भाषा को ही 'पहाड़ी' कहना युक्तिसंगत तथा उचित होगा। इसी दृष्टि से वर्तमान पुस्तक की 'पहाड़ी' से अभिप्रायः इसी भाषा से है।

पहाड़ी का स्वरूप

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, पहाड़ी भाषा की उत्पत्ति के बारे में भाषा-विद्वानों में मत-भेद है। विद्वानों का एक वर्ग इसकी उत्पत्ति खश, दरद-पैशाची से मानता है, और दूसरा वर्ग इसे शौरसेनी अपभ्रंश से प्रसूत समझता है। खशों का भारतीय साहित्य में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। विष्णु-पुराण के अनुसार उन्हें कश्यप की संतान माना जाता है। कश्मीर उससे सम्बन्धित माना जाता है। उसकी एक पत्नी खशा से यक्ष और राक्षस पैदा हुए। उनकी संतान खश ही कहलाई, और दूसरी पत्नी क्रोधवश से शिशिताशी या पिशाच पैदा हुए। इस तरह खश और पिशाच दो भाई हुए। महाभारत के अनुसार वे शैलोदा नदी के आस पास के क्षेत्र के शासक थे और उन्होंने युधिष्ठिर को योगदान दिया था। शतद्रु (सतलुज,), विपाशा (व्यास), ईरावती (रावी), चन्द्रभागा (चनाब), वितस्ता (जेहलम), और सिन्धु नदियों के क्षेत्र के राजाओं में बाहिक लोग विपाशा नदी क्षेत्र के पिशाचों में से थे। भगवत्-पुराण में खशों का नाम उत्तर-पश्चिमी भारत के निवासियों में यवनों के साथ आया है। मार्कण्डेय-पुराण में उनका नाम शक जातियों के साथ पर्वतीय निवासियों के रूप में आया है। इन सभी संदर्भों में उन्हें म्लेच्छ बताया गया है, जिन्हें वेद-ज्ञान न था और ये प्रायः मानव-भक्षी थे। इसके अतिरिक्त खशों का हवाला भरत के नाट्यशास्त्र, वराहमिहर की बृहत्संहिता, कल्हण की राजतरंगिणी में व्यापक रूप से आता है। इन सब संदर्भों से स्पष्ट होता है कि भारत का नितान्त उत्तर पश्चिमी क्षेत्र खशों का निवास-स्थान था जो प्रायः हिन्दुकुश पर्वत के निकट माना जाता है। वे आर्य जाति के क्षत्रिय थे, परन्तु खान-पान और रहन-सहन में आर्य नियमों के त्यागनें के कारण वे म्लेच्छ या भ्रष्ट कहलाए और इसी लिए उन्हें पिशाच भी कहा जाता है।

खशों के लिए ही दूसरा नाम दरद है। 'दरद' संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ 'पर्वत' है। निवास के आधार पर एक ही परिवार के खश वर्ग को कश्मीर (खशमीर) से तथा दूसरे वर्ग दरद को दरदिस्तान से सम्बन्धित माना जा सकता है। आजकल कश्मीर के उत्तर के प्रदेश को खशों का निवास स्थान माना जाता है। गिलगित इस प्रदेश का केन्द्र स्थान है। जहां शिन (शीना, शिणा) लोग रहतेहैं। और काफिरिस्तान, चित्राल, कोहिस्तान स्वात, सिन्ध, कश्मीर तथा गिलगित इसके सीमा-क्षेत्र में आते हैं।[1] काफिर, खोवार, दरद इनकी भाषाओं के मूल वर्ग हैं। शीना, कश्मीरी, कोहिस्तानी दरद पैशाची की मुख्य भाषाएं हैं, और लहंदा तथा सिन्धी स्पष्टतः इन पर आधारित हैं। यहीं से खश

1. जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन : पिशाच लेंग्वेजिज आफ नार्थ-वैस्टर्न इण्डिया, पृष्ठ 2.

लोग भारत के विभिन्न भागों में फैले, परन्तु उनका प्रसार अधिकतर उत्तर में हिमालय के साथ-साथ पश्चिम से पूर्व की ओर अधिक माना जाता है। सामीप्य की दृष्टि से दरद पैशाची का प्रभाव पूर्व की अपेक्षा पश्चिमी भाग में अधिक माना जाना युक्ति-संगत होगा, परन्तु पहाड़ी भाषा का आधार दरद-पैशाची हो, ऐसा मानना कठिन है। वास्तव में पहाड़ी भाषा की प्रकृति इस प्रकार की है कि इसके आधार के बारे में किसी निश्चित निर्णय पर पहुंचना बड़ा कठिन है। इसके ध्वनि-तत्वों, वैयाकरणिक-रूपों तथा शब्दावली में विभिन्न प्रकार की भाषाओं के गुण छुपे हैं, और इनमें इतने विचित्र लक्षण विद्यमान हैं कि जहां एक ओर ठीक शौरसेनी प्राकृत की ध्वनियाँ देखने में आती हैं, वहाँ दूसरी ओर ऐसी ध्वनियाँ भी हैं जो केवल पैशाची से ही सम्बन्धित हैं और साथ ही ऐसी ध्वनियों की भी कमी नहीं जिनका सम्बन्ध तिब्बती-बर्मन भाषा से ही जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार जहां एक ओर वैदिक तथा संस्कृत तत्सम एवं तद्भव शब्दों की बहुलता है वहाँ दूसरी ओर ऐसे शब्दों की भी कमी नहीं जिन्हें किसी भी प्राकृत या अपभ्रंश में ढूंढा नहीं जा सकता। वास्तव में, पहाड़ी भाषा में इस तरह की भिन्नता तथा विषमता का मुख्य कारण यह है कि यह विभिन्न आधारों की भाषाओं से घिरी हुई है। जहाँ यह पूर्व में एक ओर गढ़वाली से सम्बद्ध है, वहाँ उसके आगे दक्षिण की ओर पश्चिमी हिन्दी इसकी पड़ौसिन है, ठीक उससे आगे दक्षिण में पंजाबी भाषा-भाषी क्षेत्र पड़ता है और इसी क्रम में पश्चिम में यह डोगरी तथा कश्मीरी भाषा से घिरी है जो दरद-पैशाची भाषा-भाषी क्षेत्र है और उत्तर में तिब्बती-बर्मन भाषाएं इससे सम्बद्ध हैं। इस प्रकार विभिन्न आधार की भाषाओं से घिरी होने के कारण उनके प्रभाव से पहाड़ी भाषा की प्रकृति में विभिन्नता तथा विचित्रता का होना स्वाभाविक है। परन्तु, इन सभी प्रभावों के होते हुए भी पहाड़ी भाषा में कुछ ऐसे गुण हैं, जो पूर्णत: उसके अपने मौलिक लक्षण हैं और जिनका प्रभुत्व इसका आधार निश्चित करने में अधिक सहायक सिद्ध होता है।

पहाड़ी और दरद पैशाची

पहाड़ी भाषा में सबसे अधिक विशिष्टता ध्वनि-समूह के क्षेत्र में है। इसमें कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं, जिनका स्पष्ट सम्बन्ध किसी प्राकृत-अपभ्रंश भाषा से जोड़ना कठिन है। इन ध्वनियों में मुख्यत: तालव्य च-वर्ग (च, छ, ज, झ) ध्वनियों के साथ-साथ च़, छ़, ज़, झ़ ध्वनियाँ हैं। इनमें से 'ज़' ध्वनि भारत की कई भाषाओं में विद्यमान है। च़, छ़ आदि राजस्थानी में भी पाए जाते हैं परन्तु वहाँ ये स्वतंत्र ध्वनियाँ न होकर केवल च, छ, ज के विकृत उच्चारण लगते हैं; स्वतंत्र ध्वनियाँ नहीं हैं। परन्तु पहाड़ी भाषा में इनका अपना अलग अस्तित्त्व है। चाम्बड़ा (पतीला) परन्तु च़ांबड़ा (चमड़ा), मौछी (मक्खी) परन्तु मौछ़ी (मछली), जाया (संतान) परन्तु ज़ाया (जाए), झौड़ (एक लम्बा परन्तु तंग खेत) परन्तु झ़ौड़ (गिर जा) आदि शब्दों द्वारा तालव्य चवर्ग से च़वर्ग ध्वनि की अलग सत्ता स्पष्ट हो जाती है। च़, छ़, ज़, झ़ क्रमश: च, छ, ज, झ की संध्वनियाँ नहीं हैं, परन्तु ये स्वतंत्र अलग ध्वनियाँ हैं। इस तरह की अलग स्वतंत्र ध्वनियाँ दरद-पैशाची

भाषा में विद्यमान हैं। ग्रियर्सन ने पैशाची में इन्हें तालव्य ही माना है। इस सम्बन्ध में वे जर्मन विद्वानों के विपरीत 'ग्रे' का अनुसरण करते हैं। इनमें तथा मूल चवर्ग ध्वनियों में अन्तर वे केवल यह मानते हैं कि च, छ, ज क्रमशः च, छ, ज के स्पर्श-संघर्षी के रूप हैं। परन्तु पहाड़ी भाषा की बोलियों में इन्हें चवर्ग के स्पर्श-संघर्षी रूप नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इनका उच्चारण स्थान-विशेष में भिन्न है और कहीं ये मूर्धन्य और कहीं वर्त्स्य लगती हैं, परन्तु अधिक झुकाव वर्त्स की ओर है और इन्हें वर्त्स्य ही माना जाना चाहिए। पैशाची की अपेक्षा इनका उच्चारण तिब्बती भाषा के अधिक निकट है। तिब्बती में चवर्ग और चवर्ग अलग-अलग ध्वनि-समूह हैं, और पहाड़ी की चवर्ग ध्वनियों का उच्चारण तिब्बती-बर्मी की इन ध्वनियों के अधिक निकट है।

एक अन्य ध्वनि जिसमें तिब्बती बर्मी का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है, अनुनासिक के सम्बन्ध में है। पहाड़ी भाषाओं में अनुनासिक्य तथा मौखिक नासिक्य दोनों रूप मिलते हैं, और यही तिब्बती-बर्मी का अधिक प्रभाव है—पहाड़ी भाषाओं पर तिब्बती-बर्मी का प्रभाव तो डा० ग्रियर्सन भी मानते हैं, जिसके कारण के रूप में वे लिखते हैं कि 'इनके बोलने वालों की अधिकांश जनसंख्या का आधार तिब्बती-बर्मी जातियां थीं, जो बाद के युगों में आर्यों से मिश्रित हो गईं।

परन्तु चवर्ग की ध्वनियों में से सघोष महाप्राण 'झ' तिब्बती में नहीं है। वहां सघोष महाप्राण किसी भी वर्ग का विद्यमान नहीं है। यह ध्वनि दरद-पैशाची में अवश्य है और डा० ग्रियर्सन इसे इसकी अन्य वर्गीय ध्वनियों की तरह स्पर्श संघर्षी मानते हैं। दरद पैशाची के कुछ और प्रभाव भी मिलते हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र के अनुसार पैशाची में संस्कृत 'ऋ' प्रायः 'इ' में बदल जाता है। यह प्रवृत्ति पहाड़ी भाषा में भी है, जैसे—घृत>घिउ, शृंगाल>शियाल (या सियाल), शृंग>शिंग (या सिंग) आदि। इसी तरह पैशाची की 'श' को 'स' में बदलने की प्रवृत्ति पहाड़ी (विशेषतः बाहरी पहाड़ी) में प्रचलित है—शंका > संका, शंख > संख, श्राद्ध > सराध, शुभ > सुभ आदि। इसी प्रकार 'ष्ट' को 'सट' (कष्ट>कसट, नष्ट > नसट), 'स्न' को 'सन' (स्नान >असनान), 'ल' को 'ल़' (चावल > चौल़, नारियल > नरेल़, दाल > दाल़) तथा 'च' को 'च़' में बदलने की प्रवृत्तियाँ सभी पैशाची प्रभाव के कारण हैं। मण्डियाली में 'ल' का 'ड़' में बदलने का स्वभाव भी पैशाची का प्रभाव प्रकट करता है। हिमालय की तराई में खश आर्यों के प्रभाव का उल्लेख करते हुए श्री लालचन्द प्रार्थी इस बात का संकेत करते है कि 'पति' के लिए 'खसम', 'जेब' के लिए 'खीसा', 'धोती' के लिए 'खेशड़ी', 'खुरदुरा' के लिए खशखशा (या खसरा) आदि शब्द न केवल दरद भाषा का प्रभाव प्रकट करते हैं बल्कि खश जाति की सभ्यता पर भी प्रकाश डालते हैं।[1] परन्तु इन सबके होते हुए भी पहाड़ी भाषा को न तो तिब्बती-बर्मी भाषा पर आधारित किया जा सकता है, और न ही दरद पैशाची को इस का मूलाधार माना जा सकता है। तिब्बती-बर्मी भाषा का उच्चारण के अतिरिक्त और कोई प्रभाव स्पष्टतः दिखाई नहीं देता। जहां तक दरद-पैशाची का सम्बन्ध है, कुछ ऐसे मौलिक लक्षण हैं जिनके आधार पर पहाड़ी भाषा को दरद या पैशाची से प्रसूत नहीं

1. श्री लालचन्द प्रार्थी : कुलूत देश की कहानी, पृ० 197—202.

माना जा सकता ।

दरद-पैशाची परिवार की किसी भी भाषा में सघोष महाप्राण (घ, झ, ढ, ध, भ) व्यंजनों में से कोई भी ध्वनि नहीं है। दूसरी भाषाओं से आए शब्दों में भी ऐसे व्यंजन सर्वदा अल्पप्राण हो जाते हैं और उन का घोषत्व पूर्णतः समाप्त हो जाता है।[1] परन्तु पहाड़ी भाषा की सभी बोलियों में सघोष-महाप्राण ध्वनियों की प्रधानता है, और ये इनकी मौलिक ध्वनियों में से हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, पैशाची में 'ल' को 'ल़' उच्चरित किया जाता है परन्तु यह केवल प्रवृत्ति है और 'ल़' केवल 'ल' का विकृत उच्चारण है। परन्तु ठीक इसके विपरीत पहाड़ी में 'ल़' और 'ल' बिलकुल अलग अलग ध्वनियां हैं। यह ठीक है कि यहां भी प्रायः 'ल' को 'ल़' में बदलने की प्रवृति भी है। परन्तु यह स्थिति प्रवृत्ति तक सीमित नहीं है, पहाड़ी में 'ल' और 'ल़' संध्वनियां(allophone) न होकर स्वतंत्र ध्वनियां (phonemes) हैं। काली (काली माता) परन्तु काल़ी (काला रंग की), लाला परन्तु लाल़ा (राल), शौल (आंवल) परन्तु शौल़ (दराड़) आदि शब्द-युग्मों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्पष्ट है कि जिस भाषा में इस कदर पहाड़ी की मौलिक ध्वनियों (घ, झ, ढ, ध, भ, ल़) का पूर्णतः अभाव हो वह उसकी जननी नहीं हो सकती।

दरद-पैशाची में जहां एक ओर पहाड़ी की मौलिक ध्वनियां नहीं हैं वहां दूसरी और इसमें कुछ ऐसी ध्वनियां हैं जो पहाड़ी में प्रायः प्रचलित नहीं है। इनमें फारसी की ख़ (ख़े), ग़ (ग़ैन), फ़ (फ़े) ध्वनियाँ हैं। पहाड़ी में ख़, ग़, और फ़ ध्वनियां किसी भी बोली में विद्यमान नहीं हैं और न ही ऐसी ध्वनियां उसकी प्रकृति के अनुकूल है। दूसरी भाषाओं से आए शब्दों में भी ख़, ग़, फ़ पहाड़ी में क्रमशः ख, ग, फ बन जाते हैं— ख़रगोश>खरगोश, ग़ौर>गौर, फ़र्ज़>फरज़ आदि। स्पष्टः है कि दरद-पैशाची और पहाड़ी की आधार-भूत मूल ध्वनियों में ही बहुत अन्तर है।

अब जरा प्रवृत्ति की बात लीजिए। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है दरद-पैशाची में सघोष महाप्राण तो हैं ही नहीं, साथ ही अन्य सघोष व्यंजन भी अघोष में बदल जाते हैं।[2] पहाड़ी में सघोष व्यंजन सुरक्षित हैं। जहाँ तक प्रवृत्ति का सम्बन्ध है कांगड़ी, मण्डियाली, सिरमौरी और कहलूरी को छोड़ कर जहाँ सघोष महाप्राण किसी हद तक सघोष अल्पप्राण की ओर झुकता है शेष सभी बोलियों में ये पूर्णतः मूल रूप में उच्चरित होते हैं। कांगड़ी सिरमौरी और कहलूरी में भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ पंजाबी और डोगरी में सघोष-महाप्राण अघोष-अल्पप्राण की ओर प्रवृत होता है, (जैसे घर=कहर, ढोल=टहोल) वहाँ पहाड़ी की इन बोलियों में सघोष-महाप्राण प्रायः अघोष-अल्पाण की ओर नहीं वरन् सघोष-अल्पप्राण की ओर झुकता है— घर=गहर, झगड़ा=जहगड़ा, धोती=दहोती आदि।[3] देखने की बात है कि पहाड़ी में घोषत्त्व को हानि नहीं पहुँचती, केवल प्राणत्व को क्षति पहुँचती है।

1. ग्रियर्सनः पिशाच लेंग्वेजिज आफ नार्थवेस्टर्न इण्डिया, पृ० 2.
2. उदाहरण के लिए देखिए इसी पुस्तक में 'प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के अन्तर्गत "पैशाची प्राकृत" भाषा।
3. शिक्षा विभाग, हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित 'शोध पत्रावली' पृष्ठ 59-60.

स्पष्टत: पहाड़ी में यह तो प्राणत्व के बदलने की प्रवृत्ति है, घोषत्व की नहीं। घोषत्व तो पहाड़ी में स्थिर रहता है, जबकि पैशाची अघोष व्यंजनों को अधिमानता देती है और दो स्वरों के बीच तो क्या आदि में भी इस अधिमानता के अधीन सघोष प्राय: अघोष में बदल जाता है—दामोदर>तामोतर। परन्तु पहाड़ी में इसके विपरीत प्राय: अघोष व्यंजन सघोष में बदलते हैं।[1] जैसे दन्त >दाँद या दंद, पंचम्>पाँज या पंज, पोंज़, कंटक: >कंडा, कांडा, बाप >बाब, शुक >शुगा। यहाँ कठोर व्यंजन क, च, ट, त, प क्रमश: कोमल व्यंजन ग, ज, ड, द, ब में बदल गए हैं, जबकि पैशाची में कोमल व्यंजन कठोर हो जाते हैं।

पैशाची में 'ण' की अपेक्षा 'न' की प्रधानता है। इसी प्रधानता प्रयोग के कारण मूर्धन्य 'ण' सर्वदा दन्त्य 'न' में बदलता है, जैसे गुण >गुन, तरुणी >तलूनी। यह सम्भवत: इसलिए भी है कि पैशाची में मूर्धन्य और दन्त्य में स्पष्ट भेद नहीं है। परन्तु यह प्रवृत्ति पहाड़ी से बिलकुल उलट है। यहाँ 'न' की बजाय 'ण' की प्रधानता है। 'ण' की पहाड़ी में अत्यधिक प्रधानता है।

पैशाची में 'ज्ञ, ण्य और न्य को ञ्ञ हो जाता है—प्रज्ञा >पञ्ञा, पुण्य <पुञ्ञ, कन्यका >कञ्ञका आदि। परन्तु पहाड़ी में इस तरह के परिवर्तन का भी नियम नहीं है। यहाँ 'ज्ञ' प्राय: 'गिय' का उच्चारण देता है—ज्ञान >गियान, और ण्य तथा न्य प्राय: न का—पुण्य >पुन या पून।

पैशाची में 'य' सुरक्षित रहता है। प्राकृत भाषाओं में संस्कृत 'य' प्राय: 'ज' में बदल गया था। यह प्रवृति पहाड़ी की सभी बोलियों में विद्यमान है—योगी >जोगी, यजमान>जजमान, यज्ञ >जग आदि। पैशाची में 'य' का 'ज' में न बदलना मुख्य विशेषताओं में से एक है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पैशाची की बहुत सी प्रवृतियाँ पहाड़ी के अनुकूल नहीं हैं बल्कि कई प्रवृत्तियाँ इसके बिलकुल प्रतिकूल हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पहाड़ी भाषा में दरद-पैशाची के साथ कुछ साम्य है, और इस तरह इस पर तिब्बती-बर्मी, दरद या पैशाची के प्रभाव को सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु ये प्रभाव इतने निर्णायक नहीं हैं कि पहाड़ी भाष को आर्य-भाषा परिवार से अलग किया जा सके। वास्तव में प्रभाव भी इतने कम हैं कि इनकी बिना पर दरद-पैशाची या तिब्बती-बर्मी में इसका आधार नहीं खोजा जा सकता। जिन भाषाओं में पहाड़ी की मूल ध्वनियाँ भी पूर्णत: विद्यमान न हों और साथ ही जिनमें ऐसी ध्वनियाँ मौलिक तथा प्रधान रूप से प्रचलित हों जो पहाड़ी में विद्यमान नहीं हैं, वे पहाड़ी की जननी नहीं हो सकती।

पहाड़ी तथा प्राकृतें

विपरीत इसके पहाड़ी में ध्वनियां तथा शब्दावली की अपनी मौलिक विशेषताएं हैं, जिनको दृष्टि में रखते हुए पहाड़ी भाषा का मूलाधार तिब्बती, बर्मी, खश, दरद या पैशाची में न माना जाकर मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के किसी रूप में ढूंढा

1. वही पृष्ठ 60.

जाना चाहिए, क्योंकि प्राकृत के सभी गुण पहाड़ी भाषा में विद्यमान हैं। संस्कृत विभक्तियों का पूर्ण अभाव, उनकी जगह स्वतंत्र कारक-चिह्नों का प्रयोग, एक से अधिक कारकों के लिए समान कारक-प्रत्ययों का प्रयोग, श्रुति का विशेष महत्व, स्वराघात की विशिष्ट सत्ता, यहां तक कि श्रुति और स्वराघात का स्वतंत्र ध्वनिग्राम के रूप में अस्तित्व ऐसे लक्षण हैं जो पहाड़ी भाषा का प्राकृतों से विशेष सम्बन्ध जोड़ते हैं। जहां तक ध्वनियों का सम्बन्ध है, प्राकृतों में जो स्वरध्वनियां हैं वे प्रायः सभी पहाड़ी भाषा में विद्यमान हैं। प्राकृतों में ऋ, ॠ, ऌ स्वर लुप्त हो चुके थे। पहाड़ी में भी इनका प्रयोग नहीं है। प्राकृतों में स्वरों-सम्बन्धी मुख्य विशेषता ए और ओ के ह्रस्व रूप हैं, परन्तु इन्हें प्रायः विशेष लिपि चिह्न से अभिव्यक्त नहीं किया जाता है। पहाड़ी भाषा में ए-ऐ और ओ-औ के अतिरिक्त इनके मेल की स्वरध्वनियां अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें एँ तथा ओँ से व्यक्त किया जा सकता है। एँ का प्रतिनिधि रूप कर्म-कारक के विभक्ति रूप में विशेषतः देखा जा सकता है —मूखेँ, मूलेँ, मूंबेँ। पहाड़ी भाषा को जब देवनागरी में लिखा जाता है तो देवनागरी में ऐसा ध्वनिचिह्न न होकर विभिन्न लेखकों ने इस ध्वनि को कई तरह से लिखा है—मूख—मूखे—मूखै (मुझे), तांख—तांखे—तांखै (तुझे) मूंब—मूंबे—मूबै (मुझे) आदि। इसी तरह सूलै, सूले, बुहेँ, घौरालेँ आदि शब्दों में इस ध्वनि का रूप देखा जा सकता है। इसी तरह 'ओँ' ध्वनि का भी अस्तित्व है। इसे भी वर्तमान लेखक उपर्युक्त अनिश्चितता में ही क—को—कौ तीन तरह से लिख रहे हैं। ये दोनों स्वरध्वनियां (शौरसेनी) प्राकृत की देन कही जा सकती हैं।

पहाड़ी में 'ल़' और 'ल्ह' स्वतंत्र ध्वनियां हैं। पालि आदि प्राकृतों में ये दोनों उच्चारण मिलते हैं और इस तरह पहाड़ी की ये ध्वनियां प्राकृतों से ही आई हैं।

चवर्ग वर्णों का उच्चारण वैदिक काल से ही समय-समय पर बदलता रहा है। वैदिक काल में ये केवल स्पर्शी थीं, आजकल स्पर्श-संघर्षी हैं। हो सकता है इनका मूर्धन्य और वर्त्स्य रूप भी रहा होगा। वैदिक काल में तवर्ग ध्वनियां कदाचित् वर्त्स्य ही थीं। पहाड़ी भाषा की वर्तमान चवर्ग ध्वनियां इन्हीं ध्वनियों के रेल-पेल का परिणाम है। आरम्भ में ये केवल संध्वनियां रही होंगी और आज तक पहुंचते-पहुंचते स्वतंत्र ध्वनियां बन गईं। इन ध्वनियों की व्युत्पत्ति से ही इस बात की पुष्टि हो जाती है।[1] अतः पहाड़ी भाषा की चवर्गीय ध्वनियों की उत्पत्ति तिब्बती-बर्मी या दरद-पैशाची से न होकर भारतीय आर्य भाषाओं से स्पष्ट प्रतीत होती है। इनमें से ज और झ तो पूर्णतः तथा स्पष्टतः पूर्व-वैदिक भाषा की ध्वनियां हैं ही।[2]

जहां तक ध्वनि-परिवर्तन का सम्बन्ध है, प्राकृतों में 'ऋ' का मूल उच्चारण प्रायः समाप्त हो गया था। इसका उच्चारण 'रि' जैसा रह गया था या यह 'इ' अथवा 'उ' में बदलता था। यही स्थिति वर्तमान पहाड़ी में है। ऋषि, ऋण आदि शब्द पहाड़ी में आम प्रयुक्त होते हैं, परन्तु इनका उच्चारण पूर्णतः रिशी, रिण हो गया है। इसमें

1. देखिये इस पुस्तक के कुलुई भाग में 'व्यंजनों की उत्पत्ति'।
2. तुलना करें—डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी : 'इण्डोआर्यन एण्ड हिन्दी' पृ० 16, तथा डॉ० रामविलास शर्मा 'भाषा और समाज' पृ० 158.

'इ' और 'उ' में बदले प्रयोग भी मिलते हैं—ऋतु > रुत, वृक्ष > रुख, पृच्छ > पुछ, गृथ > गुह, श्रृंगाल > शियाल, घृत > घिऊ आदि।

परन्तु भारतीय भाषाओं के मध्यकालीन रूप तक पहुँचने से पहले उन्हें कई चरणों और विकासीय परिस्थितियों में से गुज़रना पड़ा है। इसलिए किसी भाषा के वर्तमान रूप पर विचार करने से पूर्व उन प्राचीन भाषाओं तथा बीच के क्रम को भूला नहीं जा सकता। इन पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

पहाड़ी का प्रागैतिहासिक रूप

भारत में भाषा-अध्ययन का आरम्भ प्रायः आर्यों के आगमन से ही किया जाता है। आर्य लोग भारत में एक-बार नहीं आए, बल्कि कई समूहों में आए होंगे, इस बात पर सभी विद्वान सहमत हैं। जब आर्य लोग भारत में आए तो यह निर्जन और गैर-आबाद क्षेत्र नहीं था। उनसे पूर्व भी लोग रहते थे। उनकी अपनी भाषा थी, रहन-सहन के अपने ढंग थे। सामाजिक गतिविधियों के अपने नियम थे। प्रागैतिहासिक काल में हिमालय के इस भूखण्ड में यक्ष, राक्षस, दैत्य, दानव, पिशाच, नाग आदि जातियों के होने की कल्पना की जाती है। कल्पना ही क्यों, हमारे प्राचीन साहित्य में स्थान-स्थान पर इनका उल्लेख मिलता है। पौराणिक अनुश्रुतियाँ विशेष रूप से इनसे सम्बन्धित हैं तथा विष्णु-पुराण, भागवतपुराण, मार्कण्डेयपुराण एवं स्कन्दपुराण के संदर्भों में इन जातियों को जिस क्षेत्र से सम्बन्धित बताया गया है, वह भारतवर्ष का हिमालयस्थित यही भूखण्ड है। "पिशाच", "यक्ष" तथा "राक्षस" के सम्बन्ध में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। भाषा-विकास के क्रमिक इतिहास में आर्य जाति की भाषा पर भारत के आदिवासियों अर्थात् अनार्यों की भाषा के प्रभाव का उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने कहा है कि "अनुलोम, प्रतिलोम विवाह द्वारा प्राचीन भारत में जहाँ एक ओर विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर आर्य तथा अनार्य भाषा एवं संस्कृति का भी संगम हो रहा था।[1]

आर्यों के भारत में आने पर इन पूर्व-आर्य जाति के लोगों की अपनी भाषा अवश्य थी, और आर्य तथा अनार्य लोगों के बीच आदान प्रदान में दोनों की भाषाओं का स्पष्ट संपर्क रहा होगा। यह ठीक है कि संघर्ष में विजयी की हर बात पराजित पर प्रभावी होती है। साथ ही विजयी में अवश्य पराजित से अधिक गुण होंगे, तभी बाहर से आए लोग मूल निवासियों को पराधीन कर सके। और, आर्य लोगों के अधिक सुसभ्य और शिष्ट होने में तो संदेह ही नहीं है। परन्तु इस संघर्ष में मूल निवासियों की भाषा पूर्णतः निष्कासित हुई हो, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती। भाषा तो क्या आदि-वासियों के सामान्य दैनिक जीवन, पूजा-पाठ के रिवाजों को भी आर्य लोग पूर्णतः समाप्त न कर सके थे, प्रत्युत उनका आर्यों के रिवाजों के साथ ऐसा समावेश हुआ कि वे आर्य होकर ही प्रचलित रहे। स्पष्टतः भाषा में यहाँ के मूल निवासियों की बोलियों के अंश

1. डा. उदयनारायण तिवारी द्वारा अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास' के पृष्ठ 209 पर उद्धृत।

समाविष्ट हुए और आज तक चले आए हैं, और इस लम्बे समय के सम्पर्क में आज उन्हें पृथक करना कठिन है। फिर भी पहाड़ी भाषा में यक्ष, दैत्य, दानव, पिशाच, डामर, बानर, चण्डाल, गन्धर्व, नाग आदि प्रागैतिहासिक जातियों की भाषा के अवशेषों से इन्कार नहीं किया जा सकता।[1] स्थानीय परम्पराओं के अनुसार मानव-शरीर या घर-गृह में पैठी प्रेतात्माओं, ओपरा को निकालने के लिए गूर, चेला, डलैह्या (डाली चलाने वाला) या जादू-टोनक, टानगिरी जो भाषा बोलता है, वह सचमुच राक्षसों की भाषा से कम क्या होगी। प्रेतात्मा के निवारण के लिए गूर, चेला या डलैह्या द्वारा प्रयुक्त भाषा न वेद-मंत्र है, न बंगाल का जादू, न बौधों, सिद्धों, गोरखनाथ पंथियों की भाषा। वास्तव में ऐसे उदाहरण भी हैं जहाँ एक गूर दूसरे गूर की अथवा एक चेला या डलैह्‌ या दूसरे की उस समय की भाषा को नहीं समझता, और ये लोग इसे 'प्रेत-भाखा' या 'राखस बोली' ही कहते हैं। यह कौन सी भाषा है, इसका ज्ञान अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। मूल अर्थ तो गूर चेलों को भी नहीं आते। ये उनके रट्टे-रटाये मंत्र हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनके पास आज तक सुरक्षित हो रहे हैं, परन्तु इस भाषा का बहुत बड़ा भाग समाप्त हो गया है। इस को जानने वाले इसे अपनी सबसे बहुमूल्य और गुप्त सम्पत्ति समझते हैं और किसी को किसी शर्त पर बताते नहीं हैं, केवल अपने एकाध चेलों-गूरों तक सीमित रखते हैं, जो प्रायः उनके पुत्र या सगे-सम्बन्धी होते हैं। यक्ष, दैत्य, दानव, पिशाच, राक्षस, चण्डाल, आदि मानव जाति के रूप में हिमाचल प्रदेश में आजकल कहीं विद्यमान नहीं, परन्तु यहाँ की प्राचीन परम्पराओं के ये बड़ी सामान्य एवं जानी-बूझी आत्माएँ हैं, और दूत, दानू, घोघड़ा, पिशाच, राखस, चेट्ट आदि कई नामों से ये अब डर की वस्तुएँ रह गई हैं। इन्हें अत्यन्त कष्टदायी शक्तियाँ समझा जाता है और इनकी पूजा भी की जाती है परन्तु केवल इसलिए कि ये अप्रसन्न न हों, या वे मानव-शरीर अथवा आबादी से दूर रहें।

पहाड़ी श्रौर मुण्डा भाषा

इसी क्रम में भारत के आदिवासियों में से जिन जातियों का सम्बन्ध इस भूखण्ड से रहा है, उनमें से कोल, किरात और किन्नर का विशेष रूप से नाम लिया जा सकता है। यदि इनके साथ आजकल के स्थानीय नाम की दो जातियों को सम्मिलित किया जाए, तो यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वर्तमान हिमाचल प्रदेश मुख्यतः पांच **'क'** जातियों का क्षेत्र है, और पहाड़ी भाषा इन्ही पाँच **क-युक्त** जातियों की बोलियों का सामूहिक रूप है, जिस पर वैदिक संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश का आवरण चढ़ा है। ये दो जातियाँ हैं—कनैत और कोली। इन पाँच कोल, किरात, किन्नर, कनैत और कोली जन-समुदायों की मूल भाषा का पहाड़ी भाषा पर बड़ा गहरा और प्रमुख प्रभाव है। कोल भाषा भारत के विभिन्न स्थानों पर बोली जाती है, यद्यपि छोटा नागपुर इस का केन्द्र है। प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार आर्यों से बहुत

1. इस सम्बन्ध में सविस्तर विवरण के लिए देखिये श्री लाल चन्द्र प्रार्थी की पुस्तक 'कुलूत देश की कहानी, पृ. 103-154.

पहले जो अन्य जातियाँ भारत में आईं उनमें से प्रॉटो-आस्ट्रोलाइड दूसरी जाति थी।[1] इन्हीं की एक शाखा आस्ट्रो-एशियाटिक कहलाई जिसकी संतान को बाद में आर्यों ने निषाद भी कहा है। वर्तमान कोल, भील, गोंड आदि इन्हीं की संतान मानी जाती हैं। किरात, किन्नर, कनैत और कोली मूल रूप में हिमाचल प्रदेश के मूल निवासी हैं। किरात से अभिप्राय 'पर्वतीय जाति' है, "किन्नर या किंपुरुष देवयोनि हैं"[2], जो देवलोक में रहने वाले माने जाते हैं। हिमाचल प्रदेश का वर्तमान किन्नौर ज़िला इन्हीं के नाम से अभिहित है। जिस प्राकृतिक-सौंदर्य स्थल में किन्नौर जिला के लोग आज कल रहते हैं, और जिस संगीत-नाट्य कुशलता को वे अपनाए हुए हैं, उसकी दृष्टि में संस्कृत साहित्य के किन्नरों की हिमाचल प्रदेश मातृ-भूमि होने में कोई संदेह नहीं है। इतिहास और साहित्य में कोल, किरात, किन्नर लोगों का नाम साथ-साथ आता है। कोली लोग कोल जाति की ही एक शाखा से सम्बन्धित हैं, और आज कल प्रायः डागी के नाम से भी सम्बोधित किए जाते हैं। कनैत को डॉ० ग्रियर्सन और कुन्निंघम ने खश की एक शाखा माना है और उन्हें राठी तथा कांगड़े के घिर्थों से सम्बन्धित कहा है। ये सभी लोग सारे हिमाचल में भारी संख्या में रहते हैं और इससे बाहर भी फैले हुए हैं, परन्तु किन्नर, किरात और कोल का मूल स्थान किन्नौर ज़िला, लाहुल-स्पिति ज़िला और कुल्लू ज़िला का मलाणा गाँव है, और इन्हीं स्थानों पर इनकी मूल भाषा अभी तक सुरक्षित रही है। इन क्षेत्रों से बाहर विशेषतः कनैत (खश) और कोली अपनी प्राचीन भाषा भूल चुके हैं।

परन्तु किन्नौर, मलाणा और लाहुल-स्पिति में इनकी मूल भाषा के गुण अभी विद्यमान हैं, यद्यपि उनमें एक ओर तिब्बती-बर्मी और दूसरी ओर भारतीय आर्य भाषाओं का भारी मिश्रण हो गया है। आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की कोलादि भाषाओं को मुंडा परिवार की भाषाएँ कहा जाता है, और मुण्डा भाषा की बहुत सी विशेषताएँ किन्नौर ज़िला की **किन्नौरी**, मलाणा की **'कनाशी'** तथा लाहुल और स्पिति ज़िला की बोलियों में विद्यमान हैं।

मुण्डा भाषा में सर्वनामों की प्रधानता होने के कारण इसे सार्वनामिक भाषा कहा जाता है। यह विशेषता किन्नौर और लाहुल-स्पिति ज़िलों की भाषाओं में व्यापक है। डॉ० बंशी राम शर्मा के अनुसार **किनोरयानुस्कद** (किन्नौर की भाषा) में सार्वनामिक गुण इतने विशिष्ट हैं कि इसमें तीन वचन होते हुए भी केवल सर्वनामों में ही वचन-भेद स्पष्ट होते हैं, शेष स्थिति में वचन-सम्बन्धी रूप समान रहते हैं—एक बैल घास खा रहा है >ई दामेस **ची जऊ दू**। (अधिक) बैल घास खा रहे हैं >दामा ची **जऊ दू**। यहाँ 'जऊ दू' शब्द दोनों 'रहा है' और 'रहे हैं' के लिए प्रयुक्त है, कोई अन्तर नहीं। परन्तु सर्वनामों में यह भेद स्पष्टतः लक्षित होते हैं—ग ब्योक (मैं गया), निशि-ब्योच् (हम दो गए), निङो ब्योच् (हम सब गए)।[3] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि किन्नौरी

1. डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी : इण्डो-आर्यन एण्ड हिन्दी पृ० 37.
2. श्री राहुल साकृत्यायन : किन्नर देश, पृष्ठ 1.
3. डॉ० बंशी राम शर्मा : राज्य भाषा संस्थान, शिक्षा विभाग, हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका 'हिम-भारती' जून 1973 अंक, पृष्ठ. 7.

में सर्वनामों के तीन-तीन वचन हैं—एक वचन, द्विवचन तथा बहुवचन। पड़ौस की भारतीय आर्य भाषाओं से यह एक विशिष्ट भिन्नता है। किन्नौरी के सर्वनामों में द्विवचन का अस्तित्व इसकी सार्वनामिक सत्ता को पुष्ट करता है।

इन बोलियों में मुण्डा भाषा की अन्य विशेषता बहुवचन रचना के सम्बन्ध में है। आर्यभाषाओं की तरह इनमें प्रातिपदिकों के विकारी रूप से बहुवचन नहीं बनता, प्रत्युत मुण्डा भाषा की तरह स्वतंत्र प्रत्ययों द्वारा वचन सम्बन्धी भेद प्रकट होता है। किनौरयानुस्कद में बहुवचन प्रत्यय 'आ', 'ओ', 'गो', 'ए', 'नो', 'ओन' हैं।[1] लाहुल-स्पिति जिले की पटनी में बहुवचन प्रत्यय रे, ज़े और दे, तथा तिनन में रे और ज़े हैं।

ध्वनि से सम्बन्धित मुण्डा भाषा की एक मुख्य विशेषता भी इन भाषाओं में पाई जाती है। यह कुछ अक्षरों के अर्ध-व्यंजन होने की बात है। मुण्डा की तरह ही इनमें भी कुछ व्यंजन श्रुत हो जाते हैं और इनकी पूर्ण ध्वनि सुनाई नहीं देती। उदाहरणार्थ तिब्बती दुग >किन्नौरी दू, तिनन और पटनी तो (है), तिब्बती 'ङस' (मैंने)>कि० 'ग'>पटनी 'गे', पुनन 'गी' आदि।

इसके अतिरिक्त इन सभी भाषाओं में केवल बीस तक गिनती की प्रथा है, बल्कि किनौरयानुस्कद में तो केवल मूलतः दस तक ही गिनती होती।[2]

आदिवासी कोल, किरात और किन्नर की मुण्डा भाषा का प्रभाव केवल किन्नौर, मलाणा, लाहुल और स्पिति तक ही सीमित नहीं, यहाँ तो यह काफी हद तक मूल भाषा है। वरन् इसका प्रभाव कोल, किरात तथा किन्नर के सगे-सम्बन्धी कनैत और कोली के माध्यम से समस्त हिमाचल को पहाड़ी भाषा तथा पड़ौस की भाषाओं पर भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। वैसे तो मुण्डा भाषा का द्रविड़ तथा भारत की अन्य कई भाषाओं पर प्रभाव लक्षित होता है, परन्तु पहाड़ी भाषा में इसका प्रभाव विशेष महत्त्व रखता है। मुण्डा भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ विशेषता उनकी योगात्मक शैली है। योगात्मकता में भी मुण्डा भाषाएं मध्ययोगी अश्लिष्ट[3] रूप लिए हुए हैं, अर्थात प्रत्यय प्रायः प्रकृति के मध्य में जोड़ा जाता है, जैसे 'दल' से 'दपल'। यदि इस प्रकार शब्द के मध्य में अक्षर जोड़ने से ही योगात्मकता मुण्डा भाषाओं की विशेषता है, तो पहाड़ी भाषा में अनेक उदाहरण प्राप्य हैं, जिनमें घिर्थों की बोली में, जरा (बुढ़ापा) से जबरा (बाप), कौंक से कड़ोंक आदि विशेष रूप भी मिल सकते हैं। परन्तु यह योगात्मकता मुख्यतः क्रियाओं के क्षेत्र में होती है। कुछ विद्वानों के अनुसार मुण्डा में क्रिया रूपों का बाहुल्य है, और विशेष बोलियों में क्रिया की जटिलता मुण्डा के ही प्रभाव का परिणाम है।[4] और पहाड़ी भाषा में क्रियाओं के अनेक रूप तथा उनकी जटिलता प्रमुख विशिष्टता है। यहाँ केवल कुलुई बोली के उदाहरण देना ही प्रर्याप्त होगा। कुलुई में प्रमुख धातुओं के चार-चार क्रिया रूप हैं—मूल क्रिया, उसका कर्म वाच्य रूप,प्रेरणार्थक क्रिया और प्रेरणार्थक

---

1. डा० बंशी राम शर्मा : वही पृ० 7,8.
2. वही पृ० 12.
3. डा० सतीशकुमार रोहरा : भाषा एवं हिन्दी भाषा, पृ० 81.
4. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : संपादक डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 2.

क्रिया का कर्मवाच्य रूप। इन रूपों को हम 'कुलुई बोली' के क्रियापद में विस्तार से देंगे। यहाँ केवल कुछेक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—**'पीणा'** का अर्थ पीना है, इस से कर्मवाच्य रूप **'पिइणा'** बनता है जिसका अर्थ 'पिया जाना' है। पीना से **'पियाइणा'** प्रेरणार्थक रूप बना जिसका अर्थ 'पिलाना' है। पियाणा का कर्मवाच्य रूप **'पियाणा'** है जिसका अर्थ 'पिलाया जाना' है। इसी तरह **जीणा** (जीना), **जिइणा** (जिया जाना), **जियाणा** (जीवित करना), ज़ियाइणा (जीवित किया जाना); **सोणा** (सोना), **सोइणा** (सोया जाना), **सुआणा** (सुलाना), **सुआइणा** (सुलाया जाना) आदि। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कुलुई में धातु के मध्य में आया 'इ' कर्मवाच्य का प्रत्यय है और अक्षरान्त के अनुसार 'या', 'आ' अथवा 'एर' प्रत्यय क्रिया को प्रेरणार्थक बनाते हैं—खाणा < खाना, खाइणा < खाया जाना, खियाणा < खिलाना, खियाइण < खिलाया जाना। इस तरह क्रियाओं के रूपों की विविधता पहाड़ी की प्रायः सभी बोलियों में देखी जा सकती है, जैसे क्योंथली में पीणो < पीना, पीइणो < पिया जाना, पियाणो < पिलाना, पियाइणो < पिलाया जाना; खाणो < खाना, खाइणो < खाया जाना, खयाणो < खिलाना, खयाइणो < खिलाया जाना।

इसी तरह मुण्डा भाषाओं की अन्य विशेषताएं भी पहाड़ी भाषा में विद्यमान हैं। शब्द के अन्तिम व्यंजन के उच्चारण में शिथिलता, गणना में केवल बीस तक गिनने की पद्धति, सर्वनामीय गुणों में पुरुषवाचक प्रथमपुरुष के लिए स्त्रीलिंग और पुल्लिग के अलग-अलग रूप, सम्बन्धवाचक सर्वनाम के स्थान पर क्रिया के कृदन्तीय रूपों का प्रयोग पहाड़ी की अनेक बोलियों में प्रचलित हैं। पहाड़ी भाषा पर मुण्डा का एक अन्य विशिष्ट प्रभाव महाप्राण के प्राणत्व में शिथिलता की विशेषता सभी बोलियों में प्रदर्शित होती है—गरआली < घरवाली, वियाह < विवाह, बई < भाई, ओला < होला < होगा, कुछ नी आ < कुछ नहीं है, तिन्ना < तिन्हा, ओआ < हुआ। महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राण की ओर झुकाव अधिकतः सिरमौरी, बघाटी तथा क्योंथली में अन्य बोलियों की अपेक्षा ज्यादा है। इसी तरह पदविभाग सम्बन्धी मुण्डा भाषी विशेषता भी पहाड़ी का सामान्य गुण है। एक ही शब्द स्थान-स्थान पर संज्ञा, विशेषण और क्रिया का काम देता है—बैंठेया माण्हू कजो छेड़ना (बैठे हुए आदमी को क्यों छेड़ें?) मेरे ते बैठया नी जांदा (मुझसे बैठा नहीं जाता); बाहुंदा खरा सा (बीजाई अच्छी हुई है), बाहुंदा छेत कुणीरा सा (बोया हुआ खेत किसका है), बाहण बाहुंदा सा (बीज बोया हुआ है) आदि पहाड़ी के सामान्य प्रयोग हैं।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि पहाड़ी पर मुण्डा भाषाओं का प्रर्याप्त प्रभाव है। यों तो भारत की सभी भाषाओं में आर्यों से पूर्व की भाषाओं के उदाहरण मिलते हैं परन्तु पहाड़ी भाषा के क्षेत्र में आर्यों के आगमन से पूर्व के आदिवासियों की भाषा के अवशेष विशेष महत्त्व रखते हैं। इसका स्पष्ट कारण है कि इस पर्वतीय क्षेत्र में अंदरूनी पहाड़ी आदिवासी आर्यों के प्रभाव से अधिक देर तक सुरक्षित रहे। आर्यों का इन पहाड़ियों में धीरे-धीरे प्रवेश हुआ, और जैसे प्रवेश देर से हुआ वैसे ही उनकी भाषा का भी उस समय की स्थानीय भाषाओं पर प्रभाव धीरे-धीरे तथा कम मात्रा में पड़ा। आर्यों की

भाषाओं में इन भाषाओं का मिश्रण अधिक हुआ। यह स्थिति भारत-भर की सभी भाषाओं के बारे में समुचित है। जो क्षेत्र अधिक दुर्गम एवं मैदानी भागों से दूरस्थ हैं, वहाँ आदिवासियों की मूल भाषा या सुरक्षित रही है या आर्य भाषा से कम प्रभावित हुई है। पहाड़ी भाषा का अभी कोई शब्दकोश तैयार नहीं हुआ है और न ही कोई प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्य उपलब्ध है, और जो साहित्य हाल ही में देखने में आ रहा है वह इसकी वैज्ञानिक समीक्षा के लिए प्रर्याप्त नहीं है। परन्तु दैनिक प्रयोग की भाषा से यह निश्चय से कहा जा सकता है कि पहाड़ी के लगभग चालीस प्रतिशत शब्द ऐसे हैं जिनका सीधा सम्बन्ध न स्पष्टतः संस्कृत से जोड़ा जा सकता है, न प्राकृत-अपभ्रंश से, न दरद-पैशाच से। ज़ाहिर है कि इन शब्दों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उस भाषा से है जो आर्यों के भारत में प्रवेश करने से पहले यहाँ के मूल निवासियों की आम बोलचाल की भाषा थी। वैदिक युग से पहले का साहित्य आज उपलब्ध नहीं है, यदि होता तो सम्भवतः पहाड़ी भाषा की कई जटिल ध्वनियों और शब्दों के रहस्य से पर्दा उठ जाता। परन्तु न उस समय की भाषा का स्वरूप मिलता है और न आज की भाषा पर अभी कोई अध्ययन हुआ है। अतः यह समस्या अभी खोज का विषय बनी रहेगी। हिन्दी पर ठोस और गहन अध्ययन हुआ है, परन्तु हिन्दी जैसी परिनिष्ठित भाषा के बारे में श्री किशोरी दास वाजपेयी और डॉ० रामविलास शर्मा जैसे विद्वान जो विचार व्यक्त करते हैं कि 'हिन्दी की अनेक विशेषताओं का सम्बन्ध न वैदिक संस्कृत से है, न लौकिक संस्कृत से है, न अपभ्रंश से। उनका सम्बन्ध खड़ी बोली की किसी प्राचीन बोली से ही हो सकता है,'[1] वह पहाड़ी भाषा के बारे में न केवल शतशः उचित है, बल्कि उसका पहाड़ी भाषा के क्षेत्र में अधिक महत्त्व है। जिन प्राकृतों से आधुनिक आर्य भाषाओं का उद्भव माना जाता है उनमें से किसी में भी कुछेक विशेषताएं दिखाई नहीं देती। परन्तु ये मौलिक विशेषताएं अनायास नहीं आई हैं। ये ज़रूर इस भाषा के आदिवासियों की बोली के अवशेष हैं। उस बोली को चाहे हम कोल कहें, किरात, खश, मुण्डा या प्राकृत, परन्तु 'जिस किसी में भी यह बात थी, उसका कोई रूप हमारे सामने नहीं है। कई कड़ियां टूटी हैं। कुछ भी हो, साहित्य में उपलब्ध प्राकृतों में से कोई भी ऐसी नहीं जिसे···उदगम माना जा सके।[2] अतः जिन विशेषताओं का स्रोत वर्तमान भाषाओं अथवा उन प्राचीन भाषाओं में जिनका साहित्य उपलब्ध है, नहीं मिलता उन्हें आदिवासियों की थाती समझना अधिक भूल नहीं है।

पहाड़ी तथा वैदिक एवं लौकिक संस्कृत

बात विशेषताओं की है,और विशेषताएं एक नहीं अनेक हैं। तथा भाषा के सुदृढ़ होने का कारण उसकी विशेषताएं हैं। जहां एक ओर कुछ समस्याओं का समाधान कहीं नहीं मिलता, वहाँ दूसरी ओर पहाड़ी भाषा की अनेक अन्य विशेषताएं हैं जिन्हें वैदिक एवं लौकिक संस्कृत से प्राप्त दाय होने का पहाड़ी भाषा को गर्व है। सामान्यतः आर्य

---

1. डा० रामविलास शर्मा : भाषा और समाज, पृ० 144.
2. वही पृ० 145.

लोगों का भारत वर्ष में प्रवेश का समय लगभग ई० पू० 1500 वर्ष माना जाता है। भारतीय आर्य भाषा का प्रारम्भिक रूप वैदिक भाषा के रूप में सुरक्षित है जिसकी वैदिक ऋचाएं, ब्राह्मण और सूत्र तीन मुख्य आधार हैं। वैदिक ऋचाओं के मुख्य भाग की रचना भारत के उत्तर पश्चिम भाग में हुई, इसमें सभी विद्वान सहमत हैं। इसी भाग में वर्तमान पहाड़ी भाषा का क्षेत्र पड़ता है। जब वैदिक ऋचाएं यहां रची गई तो निस्सन्देह उस समय या उससे पूर्व वैदिक भाषा यहां की लोक भाषा या बोलचाल का साधन अवश्य रहा होगा। इस बात की पुष्टि वर्तमान पहाड़ी भाषा की कुछ मुख्य विशेषताओं से स्पष्ट रूप से हो जाती है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पहाड़ी भाषा की ध्वन्यात्मक विशिष्टता मूल रूप में वैदिक भाषा से सम्बन्ध रखती है। पहाड़ी भाषा की प्रमुख च-वर्गीय ध्वनियों में से 'ज' और 'झ' तो पूर्व वैदिक एवं आर्य ध्वनियाँ स्पष्ट रूप से निश्चित हो चुकी हैं—"यज्ञस्य—यजञस्य, पुरोहितं—पुरजधितम, ऋत्विजम—ऋत्विजम्, भर्गो—भर्गज़, धियो—धियज्ञ आदि रूपों में दूसरा रूप शुद्ध मूल आर्य माना गया था, और पहला रूप अनार्य-प्रभावित, या स्वतः अपभ्रष्ट भारतीय रूप।"[1] जब 'ज' और 'झ' वैदिक अथवा आर्य ध्वनियाँ हैं तो इस वर्ग की 'च' और 'छ' ध्वनियाँ भी पूर्व-वैदिक आर्य रही होंगी, यद्यपि इनके उदाहरण अब प्राप्य नहीं हैं। पहाड़ी में ये सभी उच्चारण स्वतंत्र ध्वनिग्राम हैं, किसी दूसरी ध्वनि की संध्वनियाँ नहीं हैं।[2] जैसा कि हम आगे 'पहाड़ी भाषा की विशेषता' तथा 'कुलुई' की स्वर ध्वनियों में स्पष्ट करेंगे, पहाड़ी भाषा की एक मुख्य विशेषता 'य' और 'व' के अतिरिक्त 'र' और 'ल' का श्रुति-परक होना है। यहां 'र' और 'ल' श्रुति के कारण स्वर में बदल जाते हैं। और, यह विशेषता पहाड़ी भाषा का सम्बन्ध पूर्व वैदिक काल की संस्कृत भाषा से जोड़ती है क्योंकि प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ० हरदेव बाहरी के अनुसार प्राग्वैदिक आर्य-भाषा में 'र' और 'ल' भी अर्ध-स्वर थे।[3] इसीलिए आजतक नियमतः य, र, ल, व को अन्तस्थ माना जाता है।

वैदिक भाषा की एक मुख्य विशेषता स्वराघात (accent) की है। स्वर परिवर्तन के कारण शब्दों के अर्थ तक में परिवर्तन हो जाता है। आद्युदात्त 'ब्रह्मन' नपुंसक लिंग है जिसका अर्थ 'प्रार्थना' है परन्तु यही शब्द अन्तोदात्त 'ब्रह्मन' होने पर पुल्लिग होगा और अर्थ 'स्तोता' होगा।[4] अब पहाड़ी भाषा में स्वराघात का विशेष महत्त्व है, जिसका आगे हम 'कुलुई' बोली के संदर्भ में विस्तार से उल्लेख करेंगे। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त होगा कि स्वराघात के कारण शब्दों का अर्थ-भेद तो होता ही है, परन्तु पहाड़ी में प्रश्नवाचक वाक्य केवल आधात के बदलने से ही होता है। मूल प्रश्नवाचक शब्दों का प्रयोग तो बहुत कम होता है—'रोटी खाई' में जब 'खा' अनुदात्त हो तो साधारण अर्थ 'रोटी खा ली' है; परन्तु यदि 'खा' स्वरित हो तो इसका अर्थ है 'क्या रोटी खा ली

1. डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा और समाज, पृ० 158.
2. उदाहरण तथा स्पष्टता के लिए, आगे 'कुलुई' में देखिये।
3. डॉ० हरदेव बाहरी : हिन्दी : उदभव, विकास और रूप, पृ० 116.
4. डॉ० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृ० 35.

है ।' इसी तरह 'पत्र लिखू<पत्र लिखा, परन्तु 'पत्र लिख :<क्या पत्र लिखा' आदि । इस तरह ध्वनि के लय—तान के कारण शब्दार्थ भिन्न हो जाता है[1]—पार<पार, पा/र< पाहिर, पा॒र<भार; सान<शान, सा/न<साण्ड, सा॒न<एहसान; पराणा< पुराना, परा/णा<तलाश करना; भेड़<भेड़, भे/ड़<खोल आदि । इसी तरह स्वरों में ऐ, औ के अइ, अउ तथा आइ, आउ दोनों तरह के उच्चारण भी विद्यमान हैं।

व्यंजन ध्वनियों में 'ल़' और 'ल़्ह', विसर्ग (:), जिह्वामूलीय 'ह', तथा उपध्मानीय 'ह्॒' के विस्तृत प्रयोग पहाड़ी का सीधा सम्बन्ध वैदिक भाषा से जोड़ते हैं। यह पहले ही स्पष्ट किया गया है कि पहाड़ी में 'ल़' और 'ल़्ह' दन्त्य 'ल' की संध्वनियाँ नहीं, वरन् स्वतंत्र ध्वनिग्राम हैं । स्वर तथा दन्त्य वर्णों के बीच के 'ह' की घोषत्व-महाप्राण ध्वनि शिथिल हो जाती है—बहिन<बैःनी<बैःणी, परोहित>परोःत, विवाहने> वियाःने>ब्याःणे, पहले>पैःलै, रहते>रौःदे, टहल>टौःल>टैःल आदि । इसी तरह ऊष्म वर्ण श, ष, स भी स्वरों के मध्य या शब्द के अन्त में आने पर प्रायः 'ह' में बदल जाते हैं परन्तु उनका उच्चारण शुद्ध घोषत्व-महाप्राण न होकर कोमल हो जाता है— घास>घाह्॒, श्वास>शाह्॒या साह्॒, विश्वास>बशाह्॒ या बसाह, निश्चय>निह्॒चय, वर्ष>बरह्॒, बीस>बिह्॒, माश>माह्॒ आदि ।

शब्द तथा धातु रूपों में भी पहाड़ी का संस्कृत से कई पक्षों में साम्य है जिनमें मुख्य समानता क्रियाओं का तिङन्त रूप है। भीतरी पहाड़ी की सभी बोलियों में वर्तमान काल की क्रियाएँ तिङन्त होती हैं, जिनमें कर्त्ता के लिंगभेद के अनुसार कोई रूप परिवर्तन नहीं होता, उदाहरणार्थ—माऊँ सूतौ (लड़का सोता है), माएँ सूतौ (लड़की सोती है); भाऊ खाणा खाओ, बेटी खाणा खाओ; मरद घौराबे जाआ सा, बेटड़ी घौराबे जाआसा आदि । स्पष्ट है वर्तमान काल में स्त्रीलिंग और पुंलिंग कर्त्ता के अनुसार क्रिया-रूप नहीं बदलता बल्कि समान रहता है । इस दृष्टि से भीतरी पहाड़ी अपनी बहिनों हिन्दी तथा पंजाबी आदि से भिन्न है । हिन्दी में 'लड़का **सोता** है' होता है और 'लड़की **सोती** है', 'पुरुष खाना **खाता** है' परन्तु 'स्त्री खाना **खाती** है' आदि । परन्तु पहाड़ी में ऐसा भेद नहीं है । पहाड़ी के भीतरी भाग में लड़का भी 'खाणा **खाआ** सा' और लड़की भी 'खाणा **खाआ** सा'। 'छोहट्ट सूतौ' और 'छोहटी सूतौ' आदि। यहाँ यह रूप संस्कृत के समान है । संस्कृत में भी लिंगभेद के अनुसार तिङन्त रूप में अन्तर नहीं आता—'माता **पठति**' तथा 'पिता **पठति**' । पास-पड़ोस की भाषाओं से भिन्न यह रूप पहाड़ी की अपनी विशेषता है, जो इसे संस्कृत से प्राकृत के माध्यम द्वारा प्राप्त हुई है ।

एक अन्य क्षेत्र जहाँ पहाड़ी भाषा अपनी पड़ोसी हिन्दी तथा पंजाबी से भिन्न है, सर्वनाम के सम्बन्ध में है। पहाड़ी भाषा की लगभग सभी बोलियों में पुरुषवाचक अन्य पुरुष में पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग के लिए भिन्न-भिन्न रूप हैं ।[2] हिन्दी में 'वह' तथा इस का तिर्यक रूप 'उस' स्त्रीलिंग तथा पुल्लिग के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता है।

---

1. डॉ० श्यामलाल : कांगड़ी में परसर्ग प्रक्रिया : हिमभारती, मार्च 1969; पृ० 23.
2. तुल० शिक्षा विभाग, राज्य भाषा संस्थान, हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित 'शोध पत्रावली' पृ० 63, 85; शोध पत्रावली [भाग 2] पृ० 21, 25, 27, 51, 83, 84.

'उसने कहा' से स्पष्ट नहीं होता कि 'उस' से अभिप्राय 'पुरुष' से है अथवा 'स्त्री' से। परन्तु पहाड़ी में 'तेइये बोलू' का अर्थ 'उस (पुरुष) ने कहा' है और 'तेसे बोलू'<उस (स्त्री) ने कहा'। इस दिशा में भी पहाड़ी संस्कृत की प्रथा धारण किए हुए है।

जहाँ तक शब्द भण्डार का सम्बन्ध है, पहाड़ी भाषा में अनेकों संस्कृत शब्द मूल-रूप में अथवा सामान्य विकृत रूप में प्रचलित हैं। भाषा में तत्सम शब्द प्रायः साहित्य-कारों से आते हैं। कवि, लेखक अपनी रचना में संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं जो समाज में आकर आम बोलचाल का रूप धारण करते हैं। परन्तु पहाड़ी में प्राचीन तथा हाल ही तक नवीन साहित्य तो देखने को भी नहीं मिलता। अतः जो तत्सम और तद्भव शब्द पहाड़ी में प्रचलित हैं वे जनता की प्राचीन निधियाँ हैं। वे कहीं से उधार नहीं लिए गए हैं, और न ही बाहरी प्रभाव के कारण उनका प्रवेश हुआ है। चूँकि वैदिक ऋचाएँ भारत के इसी भूखण्ड में रची गई थीं और चूँकि संस्कृत तत्सम तथा तद्भव शब्दों का आज की भाषा में बहुत बड़ा अनुपात है, अतः इससे संस्कृत के किसी समय यहाँ की लोक-भाषा होने की सम्भावना को बल मिलता है। तद्भव शब्दों के बारे में उल्लेख करते हुए जॉन बीमज़ लिखते हैं कि क्या कारण है कि संस्कृत के रात्रि, राग, नागरी, गज शब्दों का रूप हिन्दी में रात, राग, नागरी, गज बना, जबकि प्राकृत में उनका रूप क्रमशः राइ, राअ, नाअरी, गअ था।[1] उनका कथन है कि जब संस्कृत और हिन्दी के बीच एक लम्बी अवधि में प्राकृत और अपभ्रंशों में रात्रि, राग, नागरी, गज आदि का रूप राइ, राअ, नाअरी, गअ रहा और ये रूप कई शताब्दियों तक रहे और आधुनिक हिन्दी भाषा प्राकृत से ही बनी, तो क्या कारण हो सकता है कि बर्तमान समय में हिन्दी वालों को यह विचार आया हो कि असल में राइ, राअ, नाअरी, गअ का रूप रात्रि, राग, नागरी और गज है, तथा उन्होंने तुरन्त इनके पूर्व रूपों के आधार पर पुनः रात, राग, नागरी, गज रूप धारण कर लिया हो। अपने प्रश्न का उत्तर आप देते हुए बीमज़ लिखते हैं कि इसका कारण कुछ व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूह का जाना-बूझा और साशय प्रयोजन है, जो इसके बारे में जाग्रत थे और इस तरह का परिवर्तन लाना चाहते थे। और अपने कथन की पुष्टि में वे बौद्ध धर्म के पतन पर ब्राह्मण-धर्म की सतर्कता और क्रियाशीलता का उल्लेख करते हैं, जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण-धर्म के प्रचारकों ने इस तरह का आन्दोलन चलाया और संस्कृत को पुनः जागृत किया। बीमज़ की उक्त धारणा ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित होती हुई भी पहाड़ी भाषा की स्थिति में अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। कितने एक ब्राह्मण धर्म प्रचारक हुए होंगे जिन्होंने इस पहाड़ी क्षेत्र में शब्द रूपों का प्रचार किया होगा; यदि किया भी हो तो उनका कुछ अंश पहाड़ी में उपलब्ध भी तो हो। परन्तु कुछ प्राप्य नहीं है। और यदि ऐसा आन्दोलन रहा भी हो तो संस्कृत के मूल शब्दों का तद्भव रूप समान रहना चाहिए। फिर संस्कृत के 'क्षेत्र' शब्द का सिरमौरी में 'खेच', कुलुई में 'छेत' तथा मण्डी-कांगड़ा में 'खेतर' रूप कैसे बना ?

वास्तव में भाषा का निर्माता स्वयं उसका बोलने वाला जनमानस होता है, जिसके आगे मुख-सुख के सिवाय कुछ और नियम प्रभावी नहीं होते। स्थान विशेष की प्रकृति

1. जान बीमज : ए कम्पेरे टिवग्रामर आफ दी माडर्न आर्यन लेंग्वेजिज आफ इण्डिया, पृ० 14.

और जनमानस का वातावरण किसी शब्द विशेष का स्वयं रूप बना लेता है। यदि नियम और प्रवृत्ति की ही बात होती तो जब 'क्षेत्र' से 'खेत' बनता है तो 'क्षण' से 'खण' बनना चाहिए परन्तु 'क्षण' पूर्णतः 'क्षण' ही रहा। भाषा में 'मुख-सुख' के अतिरिक्त और कोई कठोर नियम नहीं होते, जब तक कि किसी शब्द में विशेष धार्मिक या सांस्कारिक स्वीकृति तिहित न हो या सम-रूप शब्दों में बोध-गम्यता स्पष्ट न हो। यही कारण है कि जहाँ एक ओर पहाड़ी में मन, माया, धन, संत, काया, ताप, पाप, क्रोध, धर्म, कर्म, समेत, रोष, दोष, अम्बर, बुद्धि, लग्न, पूजा-पाठ, दर्शन, शंख, संगत, रूपा, तालु, शुभ, ग्रह, गुण, कथा, दान, दशा, धार, धूप, नरक, नाश, चिंता, मंत्र, द्वार आदि संस्कृत के मूल तत्सम शब्द प्रचलित रहे, वहाँ डंड < दण्ड, गाँव < ग्राम, हिऊं < हिम, जनम < जन्म, विश < बिष, गोत < गोत्र, भरम < भ्रम, परचार < प्रचार, कीड़ा < कीटक, पुन < पुण्य, जेठा < ज्येष्ठ, गुर्भण < गर्भिणी (बिलासपुरी में 'गब्भण' शब्द गर्भिणी से बन गया परन्तु इसका प्रयोग मादा-पशु के गर्भिणी होने की दशा में किया जाने लगा। स्त्री के 'गर्भिणी' होने की दशा में उसे 'भार-हत्थी' अर्थात् जिसका 'हाथ भारयुक्त हो' सांकेतिक शब्द चल पड़ा), खीर < क्षीर, छार < क्षार, जान्हु < जानु, ऊन < ऊर्ण, भ्यास < अभ्यास, रीछ < रिक्ष, कन < कर्ण, ओकती < औषधि, पंख < पक्ष, गिण < गण, दाख < द्राक्षा, सरग < स्वर्ग, पीठ < पृष्ठ, कछ < कक्ष, चतर < चतुर, सेउ < सेतु, दन्द < दन्त, कोठा < कोष्ठ आदि सामान्य तद्भव शब्दों से लेकर भुजी < उद्भिद, मूछ < श्मश्रु, गुच्छा < गुत्सक, मल्हाणी < अम्लिमन, भियागा < अभ्यागम, भियाणसर < विहन् + सृ, छंदा < निउंदा < निमंत्रण, धियाड़ा < दिहाड़ा < दिवस, बसां < बशां < विश्राम, जाइरू < जायरू < उत्स, जोण < ज्रोथ < ज्योत्स्ना जैसे अनेक तरह के शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिन्हें चाहे कठोर तद्भव कहो या देशज शब्द। भाव केवल इतना है कि पहाड़ी भाषा में वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के ध्वनि, व्याकरण तथा शब्दावली क्षेत्र में इतने लक्षण मिलते हैं कि पहाड़ी भाषा का सीधा संबंध वैदिक और लौकिक संस्कृत से जुड़ता है।

निष्कर्ष

संस्कृत भाषा ने लगभग 500 ई० पू० में प्राकृत भाषाओं को जन्म दिया। प्राकृत की तीन अवस्थाओं में से अन्तिम अवस्था अपभ्रंश कहलाई जो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी है। वास्तव में प्राकृत भाषा वर्तमान आर्य भाषा और प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वैदिक एवं संस्कृत के बीच सेतु का कार्य करती है। ऊपर वर्तमान पहाड़ी भाषा की कुछेक विशेषताओं का मुंडा, वैदिक, लौकिक संस्कृत, दरद-पैशाची तथा प्राकृतों के साथ समानता एवं विषमता के आधार पर कुछ विचार किया गया है। इस विवेचन के पश्चात् सम्भवतः अब पहाड़ी भाषा के मूलाधार का निर्णय करना अधिक कठिन नहीं होगा। इस भूखण्ड में रहने वाले कोल, किरात, खश आदि आदिवासियों की मूल भाषा का जब हमारे पास कोई अभिलेख, साहित्य या उदाहरण ही नहीं तो उनसे वर्तमान पहाड़ी का स्रोत ढूंढना निरर्थक है। किन्नौर, मलाणा, लाहुल-

स्पिति की थोड़ी-सी जनसंख्या की भाषा से कुछ सम्बन्ध तो जोड़ा जा सकता है, उस के प्रभाव को भी ठुकराया नहीं जा सकता, परन्तु उसके साथ साम्य के कोई ऐसे लक्षण नहीं दीखते जिनसे यह अनुमान भी लगाया जा सके कि पहाड़ी भाषा उससे प्रसूत हुई है। कुछेक प्रभावों को छोड़कर जिनका पीछे संकेत किया गया है, मुण्डा भाषा से कोई और सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। मलाणा, किन्नौर, लाहुल-स्पिति की भाषा स्वयं पूर्णतः मुण्डा नहीं है। उसमें संस्कृत, तिब्बती-बर्मी और आर्य भाषाओं का पर्याप्त मिश्रण है। और इस मिश्रण का अनुपात स्थान-स्थान पर भिन्न है। यह मुण्डा से प्रभावित है निस्सन्देह परन्तु इसका मूल स्रोत क्या है यह अपने आप में अनुसंधान का विषय है।

जहाँ तक वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा का सम्बन्ध है, संस्कृत भारत ही क्या संसार की अनेक भाषाओं की जननी कही जाती है। संस्कृत का बाद की भाषाओं पर निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा है। प्राकृतों का महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी कोई भी रूप रहा हो उन पर संस्कृत की पूर्ण छाप रही है यद्यपि संस्कृत के सरलीकरण की प्रवृत्ति सभी में विद्यमान रही है। संस्कृत के कड़े और कठोर नियम स्वतः सरल होते रहे हैं, परन्तु साथ ही संस्कृत के शब्द और ध्वनि भण्डार से सभी भाषाएँ अनायास प्रभावित होती रही हैं। भारत और भारत से बाहर चीन, तिब्बत, हिंदचीन, जापान, जावा, सुमात्रा आदि देशों की भाषाओं में संस्कृत के भारी प्रभाव के कारण ही सम्भवतः इसे देववाणी कहा जाता है। वैदिक भाषा के आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर प्रभाव के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं—'यदि तद्भव रूपों की दृष्टि से देखा जाए, तब तो समस्त भारतीय आधुनिक भाषाओं का मूलाधार ऋग्वेद की ही भाषा है।[1] अतः पहाड़ी तो वैदिक संस्कृत से उऋण कैसे हो सकती है।

दरद-पैशाची को पहाड़ी का आधार मानना महान भूल है, इस बात को पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है। पैशाची का क्षेत्र पश्चिम में कश्मीर तक सीमित था, और कश्मीरी भाषा निस्सन्देह पैशाची से प्रसूत हुई है।[2] यहां पैशाची से अभिप्राय उस पैशाची प्राकृत से नहीं है, जिसका चण्ड, वररुचि, हेमचन्द्र आदि वैयाकरणों ने उल्लेख किया है। वह वस्तुतः प्राकृतों का ही एक रूप था, जिसे चूलिका पैशाची भी कहा गया है और कुछ विद्वानों ने इसे केकयपैशाची की संज्ञा भी दी है, जिसमें गुणाढ्य की वृहत्कथा लिखी गई थी। चूलिका पैशाची या केकयपैशाची का मूल स्थान भी कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रांत है, किन्तु वास्तव में विद्वान इसका प्रभाव-क्षेत्र राजपूताना और मध्यभारत मानते हैं।[3] इसे कुछ विद्वान 'उदीच्य' नाम देते हैं, जिससे अभिप्राय वह भाषा है जो पाणिनि यथा यास्क के समय में उत्तर में बोली जाने वाली 'उदीच्यां' अथवा 'उदीच्येषु' कहलाती थी। यहाँ पैशाची से अभिप्राय उस भाषा से है जिसका डॉ० ग्रियर्सन ने

1. डा० धीरेन्द्र वर्मा : मध्य देश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ० 24—डा० रामविलास शर्मा द्वारा 'भाषा और समाज' के पृ० 142—143 पर उद्धृत।
2. डा० शिबन कृष्ण रैणा : कश्मीरी भाषा और साहित्य, पृ० 36.
3. श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी : पुरानी हिन्दी, पृ० 75.

लिग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया में उल्लेख किया है, और जिसे वे पहाड़ी भाषा का आधार समझते हैं, और प्राकृतों से भिन्न समझते हुए उसे भारतीय और ईरानी परिवारों से अलग स्थान देते हैं।[1] यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इस पैशाची से पहाड़ी का कुछ ध्वनि सम्बन्धी साम्य के अतिरिक्त दूर का रिश्ता भी स्थापित नहीं होता है। जहाँ तक पहाड़ी में प्रयुक्त कुछ पैशाची शब्दों का सम्बन्ध है, उनमें अधिकांश शब्द संस्कृत में भी मिलते हैं, और सम्भवतः संस्कृत से ही ये शब्द पैशाची में भी गए हों, जैसे—

पैशाची	पहाड़ी	संस्कृत	हिन्दी
जून	जूण	ज्योत्स्ना	चांद
ओन, अन	आण	आनयति	ला
कुरू	कुड़ी	कुमारी	लड़की
चूड़ी	चोढ़ा	चूडिका	बाल
ब्रारु	बराली	बिडाल	बिल्ली
अड़ी	आड़ी	आडी	बत्तख
नाट	नाटी	नृत्य	नाच
आय, यई	या	जननी	माता

स्पष्ट है कि जहाँ ध्वनि और व्याकरण के आधार पर पहाड़ी और पैशाची में अधिक साम्य नहीं है वहाँ शब्दावली में भी ऐसी समानता नहीं कि पैशाची को पहाड़ी की जननी माना जाए। यह पहले संकेत किया गया है कि जिस भाषा में पहाड़ी की मूल ध्वनियां भी न हों और कुछ ऐसी मौलिक ध्वनियाँ हों जो पहाड़ी में पाई ही नहीं जाती हैं, वह इसका आधार या स्रोत नहीं हो सकती।

पहाड़ी भाषा का **राजस्थानी** से भी पर्याप्त साम्य है। इस बात की ओर संकेत करते हुए डॉ० ग्रियर्सन कहते है 'बड़ी विचित्र बात है कि यद्यपि पहाड़ी भाषा के ठीक दक्षिण में पंजाबी, पश्चिमी तथा पूर्वी हिन्दी और बिहारी भाषाएं बोली जाती हैं, परन्तु इनके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, जबकि राजपूताने की भाषाओं के साथ निकट सम्बन्ध के कई उदाहरण मिलते हैं।[2] और इसके कारणों के रूप में वे मुख्यतः गुर्जर प्रभाव की बात करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पहाड़ी भाषा राजस्थानी से कई बातों में मेल खाती है, विशेषतः भीतरी पहाड़ी की राजस्थानी के साथ कई क्षेत्रों में समानता है, परन्तु यह समानता पूर्णतः गुर्जरों के कारण हो, यह स्वीकार करना कठिन है, भले ही राजस्थानी गुर्जरी अपभ्रंश से उत्पन्न हुई हो।[3] गुजरात और राजस्थान में गुर्जर राज्य भी रहे हैं, और गुजरात मूलतः गुर्जर लोगों के नाम पर ही प्रसिद्ध है। किसी समय गुजरात और राजपुताना एक ही आर्य कबीला गुर्जरों से आवाद थे। ये गुर्जर वहां भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र से चलकर बसे थे। परन्तु भारत के उक्त पश्चिमोत्तर क्षेत्र में

---

1. डा० ग्रियर्सन : दि पिशाच लेंग्वेजिज आफ नार्थ वेस्टर्न इण्डिया पृ० 4.
2. डा० ग्रियर्सन : लिग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, खंड IX भाग IV, पृ० 2.
3. डा० गोवर्धन शर्मा द्वारा अपनी पुस्तक 'डिंगल साहित्य' के पृ० 133 पर उद्धृत क० मा० मुंशी के विचार.

गुर्जर जाति केवल चनाब नदी तक सीमित रही है। वहां गुजरात और गुजरानवाला ज़िले उन्हीं के नाम पर अभिहित हैं। डॉ० ग्रियर्सन स्वयं स्वीकार करते हैं कि इससे बाहर उस समय के पंजाब में गुर्जर लोग बहुत कम मिलते हैं, यहां तक कि गुजरानवाला ज़िले में ही उनकी सख्या बहुत कम रह गई थी। जहां तक वर्तमान पहाड़ी भाषा-भाषी क्षेत्र हिमाचल प्रदेश का सम्बन्ध है, इसमें गुर्जरों की आबादी बहुत कम है। हिमाचल में इनकी जनसंख्या 1961 तथा 1971 की जनगणना में क्रमश: 16,887 तथा 20,634 थी। हिमाचल के कुछ छुट-पुट आबादी के सिवाय किसी भी क्षेत्र में आज गुर्जर लोग गांव समूह में कहीं नहीं रहते, जहां से उनकी भाषा पास-पड़ोस के क्षेत्र को प्रभावित करती। डॉ० ग्रियर्सन के सर्वेक्षण में उल्लिखित 'गुजरी' की कोई भी बोली हिमाचल के क्षेत्र से सम्बन्धित नहीं है। इस ओर की गुजरी भाषा में उन्होंने 'हज़ारा की गुजरी', 'स्वात की गुजरी', 'यूसफ़ज़ई गुजरी', 'कश्मीर की गुजरी, 'पंजाब के पहाड़ियों की गुजरी' का उल्लेख किया है। उस समय उन्होंने केवल काँगड़ा में गुर्जरों का हवाला दिया है, जहाँ उनकी संख्या 8460 थी। स्पष्ट है कि न पहले समय में और न ही आज गुर्जर लोग इस क्षेत्र में अधिक संख्या में रहे हैं और इसलिए उनकी अत्यन्त अल्प संख्या पहाड़ी भाषा को अधिक प्रभावित नहीं कर सकती। जिस कदर गुर्जर यहाँ रहते हैं और जिस ढंग का ये जीवन बसर करते हैं, उससे पहाड़ी भाषा के मूल स्वरूप पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। उनका मूल व्यवसाय भैंसे या पशु पालना है, और इस धन्धे में ये लोग हमेशा मूल आबादी से दूर जंगलों में और गहरी घाटियों में रहते हैं, जहाँ उनके पशु अधिक और स्वयं गुर्जर बहुत कम होते हैं। गर्मियों में अधिक ऊँचाई पर रहते हैं, सर्दियों में नीचे उतर आते हैं। उनका मूल निवासियों से केवल दूध बेचने और अपने खाद्य और पहनने की सामग्री खरीदने से अधिक सम्पर्क नहीं है। न आज है, न आज से पहले था। उनका हिमाचल में कहीं गढ़ नहीं है। इक्के-दुक्के परिवार के रूप में स्थान-स्थान पर रहने का जीवन बसर करते हैं, और इस तरह उनकी भाषा का पहाड़ी भाषा पर निर्णयात्मक प्रभाव नहीं पड़ सकता।

गुर्जरी भाषा के अल्प प्रभाव का दूसरा पक्ष भी है। विद्वानों की इस बात पर प्राय: सहमति है कि गुर्जर लोगों ने भारत में लगभग ईसवी छठी सदी में प्रवेश किया।[1] उस समय तो प्राकृत भाषाएं अपने पूरे यौवन पर थीं। प्राकृतों का समय 600 ई० पू० से 1000 ईसवी तक माना जाता है। 600 ई० तक प्राकृतों के दो चरण समाप्त हो चुके थे और उनका अन्तिम चरण अपभ्रंश के रूप में उभर रहा था। उस उभरे रूप से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जन्म हुआ। प्राकृत भाषाएं 1200 वर्ष (600 ई० पू० से 600 ई० तक) तक लोगों में प्रचलित हो चुकी थीं, जब गुर्जर लोग आए। यह कैसे हो सकता है कि उनकी भाषा अगले केवल चार सौ वर्षों में इतना जादू करती कि मूल भाषा का बहिष्कार करके अपना पूर्ण प्रभुत्व जमाती। यह तो सम्भव है कि गुर्जरों को कोई निर्जन मरुभूमि मिली हो, जहाँ वे संगठित रूप में आबाद हुए और वहाँ उनकी भाषा मूलत: उनकी अपनी बोली रही हो। परन्तु वे अत्रतत्र जाकर अन्य भाषाओं पर

1. डॉ० ग्रियर्सन : लि० स० इं० खं०, IX, भाग IX पृ० 9.

छा गई हो यह अधिक सम्भव नहीं है। आखिर वे कितनी भारी संख्या में आए होंगे कि अपनी नई बसाई बस्तियों से बाहर भी भाषा-प्रभाव डालते। अतः इस सभी विवेचन के आधार पर यह कहना कि पहाड़ी और राजस्थानी में समानता गुर्जर और उनकी भाषा के कारण है, अधिक तर्कसंगत नहीं है।

वास्तव में पहाड़ी और राजस्थानी में समानता का कारण अन्यत्र ढूंढना चाहिए, और इस 'अन्यत्र' की खोज में हम वहाँ पहुँचते हैं जहाँ पहाड़ी भाषा का उद्गम स्रोत है, और जो अवश्य ही राजस्थानी का भी जन्मस्थान होगा। दूसरे शब्दों में राजस्थानी और पहाड़ी भाषा की जननी एक ही भाषा होनी चाहिए, क्योंकि इन दोनों के बीच अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट समानता है, जिससे इन दोनों के बीच काफी समय से घनिष्ट सम्बन्ध का पता चलता है। ध्वनि, व्याकरण और शब्दावली सभी क्षेत्र में दोनों में इतना निकट साम्य है, कि दोनों के बीच दो सगी बहिनों का रिश्ता स्पष्ट होता है। दोनों के बीच इस निकट सम्बन्ध को सभी विद्वान एकमत से स्वीकार करते हैं, यद्यपि इस समानता के लिए मुख्यतः गुर्जर लोगों का प्रभाव ही दर्शाया जाता है। वास्तव में दोनों के बीच समानता में गुर्जर जाति का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य हो सकता है, परन्तु गुर्जर लोग या गुर्जर भाषा इसका मुख्य कारण रहा हो, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। राजस्थानी और पहाड़ी के बीच इस घनिष्ट सम्बन्ध का मुख्य कारण तो यही है कि ये दोनों भाषाएं एक ही मूल भाषा से प्रसूत हुई हैं। निस्सन्देह दोनों क्षेत्रों के निवासियों में सजातीय सम्बन्ध की धारणा को भी सहसा ठुकराया नहीं जा सकता। यों लगता है कि जहाँ तक पहाड़ी भाषा और राजस्थानी के बीच समानता के कारण में दोनों भाषा-भाषियों के एकजातीय होने का सम्बन्ध है, तो वह गुर्जर नहीं, बल्कि **आभीर** जाति होना अधिक युक्तिसंगत है। यह पहले लिखा जा चुका है कि ईसवी की छठी शताब्दी में आई गुर्जर जाति इतना चमत्कार कदापि नहीं दिखा सकती थी कि उस से पूर्व बारह सौ वर्षों से विकसित हो रही भाषा का तुरन्त रूप बदल देती। परन्तु, इसके विपरीत आभीर जाति का भारतीय इतिहास में बहुत प्राचीन समय से नाम आता है। महाभारत में स्थान-स्थान पर उनका नाम आया है, और इन सभी स्थलों पर आभीरों को उसी क्षेत्र का बताया है, जिससे यहाँ हमारा सम्बन्ध है। सभापर्व में नकुल की दिग्विजय का वर्णन करते हुए उन्हें 'सिन्धुकूलाश्रित ग्रामणीय महावली शूद्राभीरगण' कहकर मूलतः सिंधु के पश्चिम में रहने वाला बताया है, और उनका विस्तार सरस्वती 'नदी तक व्यक्त किया गया है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अनेक राजाओं में से सिन्धुतट निवासी **आहीर** भी रत्नादि का उपहार लेकर आए थे। 'द्रोण के सुपर्ण व्यूह' में उन्हें महान् योद्धा बताया गया है। महाभारत में आभीरों के उल्लेख से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक यह कि उस समय आभीर योद्धा और शासकों के रूप में अधिकार-प्राप्त थे। दूसरे यह कि ये भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में सिंध से सरस्वती नदियों के क्षेत्र में बसे थे, और वर्तमान राजस्थान की मरुभूमि तक फैले थे। काठियावाड़ में रुद्रभान का लगभग 191 ई० का अभिलेख मिला है जिसमें आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का उल्लेख है।[1] लगभग इसी

1. एफ. मैक्समूलर : साइंस आफ लेंग्वेज : अनु० डा० उदयनारायण तिबारी, पृ० 439.

समय के महाक्षत्रप ईश्वरदत्त के चाँदी के सिक्के मिले हैं, जिनमें उसके आभीर राजा होने का संकेत है। लगभग 360 ई० के समुद्रगुप्त के प्रयाग के स्तम्भलेख से आभीर जाति के प्राधिकार-क्षेत्र की सीमा मालवा राजस्थान, गुजरात आदि तक प्रतीत होती है। आभीरों सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा साहित्यिक अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आभीर लोग ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी में पश्चिमोत्तर भाग से भारत में आए और ईसा दूसरी-तीसरी शताब्दी तक एक बहुत विस्तृत क्षेत्र में अपना प्राधिकार जमा चुके थे, और पूर्ण शासक थे। उनका विस्तार-क्षेत्र सिंधु नदी से लेकर पंचनद, सरस्वती तट, राजस्थान, गुजरात तथा सुदूर मगध तक फैला था। जो जाति इस कदर विशाल क्षेत्र में प्रभुत्व जमाए हो उसका लोक-भाषा पर प्रभाव होना बड़ा स्वाभाविक है। उनका समय गुर्जरों की तरह बहुत पीछे का नहीं है, बल्कि उनका प्रसार ठीक उसी काल का है जब संस्कृत से प्राकृत उभर रही थी, और उन्हीं के प्रभाव-समय में प्राकृत तीनों चरणों में से गुजरी। निस्सन्देह उनका भाषा के रूप-निरूपण में निर्णायक प्रभाव हो सकता है,और यह प्रभाव विद्वानों द्वारा स्पष्टतः स्वीकार भी किया जाता है। वास्तव में अपभ्रंश के विकास के साथ आभीरों का विशेष रूप से सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

पहाड़ी भाषा क्षेत्र से आभीरों के सम्बन्ध की पुष्टि एक अन्य पक्ष से भी होती है। भरत ने 'आभीरोक्ति' का उल्लेख करते हुए उसे 'उकार-बहुला' भाषा बताया है, यथा—मोरल्लउ, नच्चन्तउ आदि। इधर पहाड़ी भाषा निस्संदेह उकार-प्रधान है। पहाड़ी भाषा में व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द प्रायः उकारान्त या ऊकारान्त ही होते हैं—देवकू, कुंजु, चंचलू रांझू, फुलमू, सन्तु, भगतु, नन्तु, शुकरू, हुकमु, बहादरू, भूरू, तुआरसू, शेतु, परीतु, आदि। जन्म-दिन के आधार पर नाम हों तो तुआरू, सुआंरू, मंगलू, बुधू, बरेस्तू, शुकरू। जन्म-मास के अनुसार नामकरण हो तो चेतू, बशाखू, जेठू, शाहडू, बहादरू आदि।

इसी प्रकार संस्कृत-हिन्दी शब्द कई रूपों से 'उ' अथवा 'ऊ' में बदल जाते हैं—जैसे 'म' से—हिऊं < हिम, नीउंआ < नीमा, सीऊं < सीमा, कोंउला < कोमल, नाऊं < नाम, गाऊं < ग्राम, क्षेम > खेऊ, आदि। संस्कृत तथा हिन्दीं के 'त' को भी 'उ' या 'ऊ' होना स्वाभाविक है, जैसे—सेउ < सेतु, घीउ < घृत, केरू < कृत, चउथा < चतुर्थ। 'व' भी 'उ' में बदल दिया जाता है—दानु < दानव, माण्हु < मानव, सांउला < सांवला, जीउण < जीवन, कोरू < कौरव, पांडू < पांडव, साउण या शाउण < श्रावण, देउ < देव, लूण < लवण, देउर < देवर, घाउ < घाव आदि। इसी तरह अन्तिम 'क' भी कई बार 'ऊ' में बदलता है—चेट्टू < चिटक, काठू < काष्ठक; संस्कृत 'ऋ' से बूटा < वृक्ष, बूता < वृत्तम्, माऊ < मातृ, भाऊ < भ्रातृ, माउली < मातृली, घुश < घृष, बुक्का < वृक्क आदि। ध्वनिपरिवर्तन के अतिरिक्त सामाजिक धारणाओं के आधार पर भी शब्दों में उ-ऊकार प्राधान्य की प्रवृत्ति लक्षित होती है। रिश्तेदारों के नाम जो हिन्दी आदि अन्य भाषाओं में अ-आकारान्त होते हैं, पहाड़ी में उ-ऊकारान्त बन जाते हैं—चाचू < चाचा, मामू < मामा, दादू < दादा, भतीजू < भतीजा, नानू < नाना आदि। लघुता के आधार पर शब्द ईकार में बदलने की बजाय ऊकार में परिणत होते हैं—पतीला परन्तु पतीलू, लोटा

परन्तु लोटकू, किताब परन्तु कलाबद्दू, नालापरन्तु नालू, बिंदीसे बिंदू, पतली से पतलू, थाली से थालू आदि; कपड़ों के नाम भी उ-ऊकारान्त होते हैं—कुरतू, टोपू, पट्टू, धाट्टू, थिपू, सुथणू चादरू; विशेषण शब्द अधिकतः उकार बहुला होते हैं—काह्‌लू, जाह्‌लू, ताहलू, बोहू, इत्थु, तित्थु, कित्थु, जित्थु, कुत्थु आदि। वस्तुतः पहाड़ी भाषा में उ-ऊकार बहुलता कई दिशाओं में प्रकट होती है। भरत के अनुसार भी यही क्षेत्र उकार—बहुला भाषा-भाषी है, क्योंकि उन्होंने नाट्यशास्त्र में उकार—बहुला भाषा का प्रयोग हिमवत् सिन्धु, सौवीर और इनके आश्रितों के लिए किया है। आभीरादिकों की बोली को ही अपभ्रंश भाषा कहा गया है।

हिमाचल प्रदेश में इस समय आभीर नाम से कोई जाति विद्यमान नहीं है, परन्तु राजस्थान में आज भी अहीर नाम से इनकी भारी जनसंख्या है। जिन्हें अधिकार प्राप्त हो उन्हें प्रायः अधिकार का दुरुपयोग संक्रामक रोग की तरह छा जाता है। यही बात आभीरों के इतिहास से स्पष्ट हो जाती है। महाभारत में ही उन्हें "लोभोपहतचेता पापकर्मी" भी बताया गया है। इसी लोभ-लालसा प्रवृत्ति और दुराचार के कारण वे समाज की नज़रों से गिरे और उन्हें प्रायः शूद्र कहा गया है। स्पष्ट है, इस सामाजिक निकृष्ट स्थिति के कारण आभीरों ने धीरे-धीरे अपने आपको आभीर बताने से संकोच किया हो और अन्ततः उनकी अलग सत्ता समाप्त हो गई। "उच्चवर्ग के लोग क्षत्रिय-वैश्यवर्ग में मिला लिए गए और शेष को शूद्रों में स्थान मिला।"[1] अतः हो सकता है कि वर्तमान निवासियों में बहुत से आभीरों से सम्बन्धित हों, यद्यपि जाति रूप में उनका स्थान समाज में न रहा। इसके अतिरिक्त आभीरों का नाम 'गौ, भेड़, बकरी, ऊंटादि'। पशुपालक के रूप में भी आता है। हिमाचल प्रदेश में ऐसे लोगों की भारी जनसंख्या है, जिनका धंधा भेड़-बकरी आदि पशुपालन है। इस सम्बन्ध में गद्दियों का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। हो सकता है, इन लोगों में आभीर जाति के लोग भी हों। इतिहासकार गुर्जरों का सम्बन्ध भी आभीर जाति से जोड़ते हैं, और यह सम्भावना है कि गुर्जर भी आभीर जाति की कोई शाखा हो।[2] विशेषतः पहाड़ी भाषा की स्थिति में यह विवेचन अधिक युक्तिसंगत है। अपभ्रंश के विकास में आभीर के साथ गुर्जरों का नाम आता है, और यदि गुर्जरों को आभीर जाति की शाखा माना जाए, जैसा कि बहुत से विद्वान मानते हैं, तो पहाड़ी भाषा में आभीर-गुर्जरों के प्रभाव को स्पष्टतः स्वीकार किया जाना चाहिए। आभीरों से अलग रखकर पहाड़ी भाषा में गुर्जरों का योगदान अधिक स्थापित नहीं होता।

हिमाचल और राजस्थान के बीच यहां के मूल निवासियों का आदान-प्रदान आदिकाल से स्पष्टतः लक्षित होता है, चाहे इन जन-जातियों के कुछ भी नाम हों। 'सपादलक्ष' मूलतः राजपूतों का क्षेत्र रहा है। मुसलमानी आक्रमण पर मैदानों के कई राजपूत अपने सम्बन्धी पहाड़ी राजपूतों के साथ आ मिले और यहीं रहने लगे, और इस तरह आपसी रेल-पेल में दो स्थानों की भाषायी समानता स्पष्ट रूप से विद्यमान रही,

1. डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन पृ० 26 27.
2. वही पृ० 29.

ऐसी धारणा निर्मूल नहीं है।

इस प्रकार पहाड़ी और राजस्थानी की समानता के कारण में मूलतः राजपूत अथवा आभीर-गुर्जर जाति को रखते हुए, हम अधिक महत्त्वपूर्ण उक्ति अर्थात् पहाड़ी के उद्गम-स्थल की ओर अग्रसर होते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि पहाड़ी भाषा में वे सभी तत्त्व हैं जो राजस्थानी के उद्भव के सूचक हैं। इससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि पहाड़ी और राजस्थानी में दो बहिनों का रिश्ता है, और वे एक मां की पुत्रियां हैं। और वह जननी निस्संदेह मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की अन्तिम चरण की प्राकृतों (अपभ्रंश) में से एक होनी चाहिए। प्राकृतों में से दो का मुख्य स्थान रहा है—महाराष्ट्री प्राकृत और शौरसेनी प्राकृत। प्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि ने महाराष्ट्री को प्रतिनिधि प्राकृत मानकर दूसरी प्राकृतों के केवल विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख करके "शेषम् महाराष्ट्रीवत्" कहा है। इसके विपरीत प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने शौरसेनी को मूल रूप मानकर उसका विस्तार से उल्लेख किया और शेष अपभ्रंशों की उससे तुलनामात्र की है। यह इनके प्रतिष्ठित स्वतंत्र रूप की बात है। अन्यथा महाराष्ट्री केवल शौरसेनी का विकसित रूप है। महाराष्ट्री मूलतः दक्षिण की भाषा थी। महाराष्ट्र इसका केन्द्र था और वर्तमान मराठी उसी का विकसित रूप है। इसका प्रभाव मुख्यतः मध्य-भारत से दक्षिण की ओर ही रहा। शौरसेनी केन्द्रीय प्राकृत थी। इसका मूल स्थान शूरसेन प्रदेश अर्थात् मथुरा के आस-पास का क्षेत्र रहा है। साहित्यिक क्षेत्र में शौरसेनी प्राकृत का बहुत बड़ा स्थान रहा है। संस्कृत नाटकों में स्त्री, विदूषक तथा मध्यम वर्ग पात्रों की भाषा शौरसेनी ही है, वे इसी में सम्भाषण करते हैं। अन्य प्राकृतों की अपेक्षा इसका प्रसार भी अधिक विकसित क्षेत्र में था।

राजस्थानी पर अब तक पर्याप्त अध्ययन हो चुका है। इसके उद्भव के बारे में यद्यपि विद्वानों ने विभिन्न राय व्यक्त की हैं, परन्तु बहुमत इसी पक्ष में है कि राजस्थानी का जन्म शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है।[1] जो विद्वान राजस्थानी को 'गुर्जरी अपभ्रंश' (मारूगुर्जर) से प्रसूत मानते हैं, वास्तव में उनके मत के पीछे भी शौरसेनी ही है। शौरसेनी प्राकृत से दो अपभ्रंशों का जन्म हुआ माना जाता है—शौरसेनी अपभ्रंश और गुर्जरी अपभ्रंश। विद्वानों की यह विचारधारा शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी का और गुर्जरी अपभ्रंश से राजस्थानी का जन्म हुआ मानती है।[2] पहाड़ी भाषा पर निस्संदेह इस कदर अध्ययन नहीं हुआ है, परन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पहाड़ी भाषा में वे सभी तत्त्व हैं जिनके आधार पर राजस्थानी को शौरसेनी अपभ्रंश की पुत्री माना जाता है।

शौरसेनी प्राकृत में मुख्य विशेषता स्वरमध्यग 'त' तथा 'थ' का क्रमशः 'द' और 'ध' में बदलना है। यह प्रवृत्ति पहाड़ी भाषा में बड़ी व्यापक है, जैसे—पठति > पढ़दी, जानाति > जानदी, शृणोति > सुनदी, चतुर > चंदरा, निमंत्रण > निउंदा। शौरसेनी की 'क्ष' को 'क्ख' में बदलने की प्रवृति भी पहाड़ी में विद्यमान है। परन्तु 'क्ख' संयुक्त रूप

1. डा० गोवर्धन शर्मा : डिंगल साहित्य, पृ० 133.
2. डा० मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० 4-5.

न रहकर केवल 'ख' में परिणत हो गया है—अक्षर > अखर, अक्षि > हाखी, शिक्षा > सिखिया, चोक्ष > चोखा, पक्ष > पंख, द्राक्षा > दाख, क्षीर > खीर। परन्तु क्ष के ख में बदलने की प्रवृत्ति सब बोलियों में समान रूप से प्रचलित नहीं है। कुछेक बोलियों में क्ष प्रायः छ में बदलता है। या एक ही बोली में भी कहीं 'क्ष' वर्ण 'ख' में और कहीं 'छ' में बदलता है, जैसे कुलुई में क्षेत्र से छेत, परन्तु क्षेम से खेउ व्युत्पन्न होते हैं। 'क्ष' की यह प्रवृत्ति प्राकृत में भी प्रचलित थी। वहाँ भी 'क्ष' कभी 'ख', 'क्ख' में, कभी 'च्छ' में और कभी 'झ' में बदलता था। जैसे शौरसेनी में ही इसके तीनों रूप देखे जा सकते हैं—खत्तिअ < क्षत्रिय, परन्तु सारिच्छ < सादृक्ष और झीण < क्षीण। इसकी व्याख्या करते हुए पिशल का कहना है कि इन तीनों आदेशों के लिए 'क्ष' के भिन्न-भिन्न मूल माने जाते हैं—(1) मूल क्ष (अवस्ता ख् श्) को 'क्ख' आदेश, (2) श् ष से व्युत्पन्न क्ष (अवस्ता श) को 'च्छ' आदेश तथा (3) य् ज से व्युत्पन्त क्ष को 'ज्झ' आदेश होता है।[1] इसी तरह शौरसेनी के 'न' के 'ण' में बदलने की प्रवृत्ति सभी बोलियों में प्रचलित है। यदि यों कहा जाए कि पहाड़ी में 'ण' की अपेक्षा 'न' का प्रयोग बहुत कम होता है तो अतिश्योक्ति न होगी। 'य' का 'ज' में बदलना बिना अपवाद के सभी बोलियों में सर्वतः विद्यमान है—योगी > जोगी, योद्धा > जोधा, यजमान > जजमान, यात्रा > जातरा, यौवन > जोवन, यज्ञ > जग, यमराज > जमराज > जोंराजा आदि। 'ष' का पहाड़ी में पूर्णतः लोप हो चुका है, परन्तु 'श' तथा 'स' का प्रयोग पूर्णतः प्रचलित है। बाहरी पहाड़ी में शौरसेनी के भान्ति 'श' के 'स' में बदलने की प्रवृति है, जैसे—शंका > सक, शंख > संख, श्राप > सराप, शुभ > सुभ, शोभा > सोभा आदि। स्वरमध्यवर्ती ख, घ, थ, ध, फ, भ के 'ह' में बदलने की प्रकृति के भी पहाड़ी में उदाहरण मिलते हैं—वधू > बहू, मुख > मुँह, नख > नेंह सि० कु० न्हौश, मेघ > मेह, दधि > दही, भवति > होंदी, शपथ > सोंह > सोह, अंधकार > अंधेरा > कां० न्हेरा > कु० निहारा।

प्राकृत में महाप्राणत्व सम्बन्धी एक विशिष्ट लक्षण है। वह न, म, ल, ण का महाप्राण रूप है।[2] जैसे—ण्हाण < स्नान, म्हि < अस्मि आदि। ण, न, म, ल, र का महाप्राणत्त्व प्रयोग पहाड़ी भाषा में प्रमुख विशेषता है, और सभी बोलियों में समान रूप से इसका प्रचलन है, जैसे—म्हाचल < हिमाचल, म्हारा < हमारा, ल्हसण < लुशन, ल्हाणा < हिलाना, बून्ह < निम्न, टोल्ह < टीला, केल्हा < अकेला, न्हौठा < निकृष्ट, र्हान < हैरान। इसी तरह दन्त्य के स्थान पर तालव्य शब्दों का शौरसेनी का प्रयोग पहाड़ी में भी मिलता है, जैसे—द्वितीय > दूजा, तृतीय > तीजा, निद्रा > नींज, मुद्रा > मुज़रा, संध्या > संझ (सोंझ), द्युति > जोत, यात्रा > जाच, क्षेत्र > खेच, विद्युत > बिजली, सत्य > सच, मूत्र > मूच आदि।

पहाड़ी भाषा की मुख्य विशेषताओं में **एक** कठोर वर्णों को कोमल बनाने की प्रवृति है, जैसे—बाप > बाब, दन्त > दन्द, कंटक > कंडा, चम्पा > चम्बा, जीता >

1. आल्फ्रेड सी० वूल्नर की रचना 'इण्ट्रोडक्शन टू प्राकृत, अनु० बनारसीदास जैन पृ० 28 पर उद्धृत।
2. वही पृ० 20.

जींदा, भक्त >भगत, आदि । यह गुण भी पहाड़ी को शौरसेनी से प्राप्त हुआ है, क्योंकि शौरसेनी में भी स्वरमध्यग क्, त्, प् क्रमशः ग्, द्, ब् में बदलते थे।[1]

इसी प्रकार शौरसेनी प्राकृत में स्वरमध्यवर्ती महाप्राण वर्ण ख्, घ्, थ्, ध्, फ् और भ् प्रायः 'ह्' में बदल जाते थे, जैसे—सखी >सही, मेघ >मेह, रुधिर >रुहिर आदि। अब, पहाड़ी भाषा की सभी बोलियों में स्वरमध्यग महाप्राण वर्णों को 'ह्' में बदलने की मुख्य प्रवृति है, बल्कि कई बार 'ह्' अधिक कोमल होकर प्रायः 'अ' रह जाता है—अन्धेरा >न्हेरा, मधुक >माहूँ, बधू >बहू >नूह, दधि >दही, अन्धा > अन्हां, कथनी >काहणी, नख >नँह, नि+भाल >निहाल आदि।

पहाड़ी भाषा को शौरसेनी से उद्भूत मानने का एक और मुख्य कारण है और वह शब्द भण्डार के सम्बन्ध में है। ऊपर इस बात का कई बार उदाहरण सहित उल्लेख आ चुका है कि पहाड़ी भाषा में संस्कृत भाषा का बाहुल्य है। वैयाकरणिक दृष्टि से भी पहाड़ी में संस्कृत के मूल सिद्धान्त लक्षित होते हैं। और, यह विशेषता उसे शौरसेनी से मिली है, क्योंकि 'शौरसेनी प्राकृत औरों (अन्य प्राकृतों) की अपेक्षा पाणिनीय संस्कृत से अधिक समानता रखती है'।[2]

ध्वनि तत्त्व के अतिरिक्त व्याकरण के क्षेत्र में भी पहाड़ी का शौरसेनी से आधारभूत सम्बन्ध लक्षित होता है। इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता कारक सम्बन्धी परसर्गों के बारे में है। वियोगात्मक प्रक्रिया के प्रभावाधीन संस्कृत की विभक्तियाँ शौरसेनी प्राकृत में से गुजरते हुए शौरसेनी अपभ्रंश तक घिसते-घिसते लुप्त हो गई थीं, और मुख्यतः केवल तीन कारक-परसर्ग रह गये थे—सम्बन्ध कारक के **'केरक, केर, केरा'**, अधिकरण के 'माँझ, महँ, उप्परि' और करण के 'सों, सजो, सहुँ'।[3] यह उल्लेखनीय बात है कि पहाड़ी भाषा में ये सभी परसर्ग मामूली परिवर्तन के साथ आज भी प्रचलित हैं। हिन्दी आदि कुछ भाषाओं में सम्बन्ध कारक के उपर्युक्त परसर्गों केरक-केर-केरा में से अन्तिम अक्षरों का लोप होकर केवल पूर्व अक्षर के रूप **का-के-की** रह गए हैं। इसके विपरीत पहाड़ी में इनके पूर्व अक्षर लुप्त होकर अन्तिम अक्षर के **रा-रे-री** रूप विद्यमान हैं, और काँगड़ी के थोड़े से क्षेत्र को छोड़कर शेष समस्त पहाड़ी क्षेत्र में रा-रे-री बिना किसी अपवाद के व्यापकतः प्रचलित हैं। शौरसेनी अपभ्रंश के अधिकरण का परसर्ग 'माँझ' पहाड़ी की सभी बोलियों उदाहरणतः मण्डियाली, बिलासपुरी में **मंझा**,[4] भरभौरी तथा चुराही (चम्बयाली) में **मंझ**, बघाटी में **माँय** या **मांइ**,[5] कहलूरी तथा कांगड़ी में 'ज' या 'च', सिरमौरी-महासूई में **मांझे** तथा कलुई में **मोंझ** रूप में प्रचलित है। इसी तरह 'उप्परि' परसर्ग पहाड़ी में 'पुर', **'पर'** या 'पांधे' के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। करण-कारक में शौरसेनी अपभ्रंश के सहूँ, सजो, सो, के विकसित रूप 'सोंगे' 'संगे' पहाड़ी में

1. वही पृ०, 17.
2. वही पृ० 46, 48.
3. डा० उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० 49.
4. शिक्षा विभाग, हिमाचल प्रदेश: शोध पत्रावली भाग 2, पृ० 38, 39.
5. वही पृ० 22.

प्रचलित हैं। इसी तरह अपादान कारक के दो प्रत्यय पहाड़ी में प्रचलित हैं—ते और दो। भीतरी पहाड़ी का 'दो' ठीक शौरसेनी प्राकृत का 'दो' है। शौरसेनी में 'त्' को 'द्' में बदलने की प्रवृत्ति थी, और उसी के परिणामस्वरूप 'दो' की व्युत्पत्ति हुई और शौरसेनी में 'पुतादो' (पुत्र से), मालादो (माला से) रूप प्रचलित थे।[1] सिरमौरी, महासुई, बघाटी बोलियों में यह प्रत्यय इसी रूप में प्रचलित है, तथा कांगड़ी, कहलूरी में 'ते' रूप में प्रयुक्त है।

इसी सम्बन्ध में कर्मकारक का प्रत्यय 'जो' है, जो बाहरी पहाड़ी का सर्वव्यापक प्रत्यय है—मिंजो 'मुझे', उसजो > उह्‌जो 'उसे', मुनुआजो 'लड़के को' आदि। 'जो' की उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के पुरुषवाचक सर्वनामों की सम्प्रदान विभक्ति के बहुवचन से हुई है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में कर्मकारक तथा सम्प्रदान कारक प्रायः एक ही हैं। अतः 'जो' की उत्पत्ति 'तुझ' और 'मुझ' रूप से समझ लेनी चाहिए, यथा—सं० मह्यम् > प्रा० मज्झ > हिं० मुझ > पहाड़ी मुंजो (या मिंजो), सं० तुभ्यम् > प्रा० तिज्झ > हिं० तुझ > प० तुजो (या तिजो)। हिन्दी आदि में 'मुझ' और 'तुझ' के 'झ' का रूप संज्ञादि प्रातिपदिकों में चल न पाया। परन्तु पहाड़ी में संज्ञा शब्दों के साथ भी 'जो' प्रत्यय समान रूप से प्रचलित है—भाई जो, चाची जो, कुत्ते जो आदि। जैसा कि आगे शब्द रूप में प्रकट किया जाएगा स्वरमध्यग 'ज' का लोप हो जाता है और यही 'जो' कुछ बोलियों में 'ओ' में बदल जाता है। कहलूरी और मंडियाली बोली पहाड़ी की बाहरी और भीतरी उपशाखाओं के बीच सेतु का काम करती है और इन बोलियों में 'जो' और 'ओ' साथ-साथ व्यवहृत होते हैं।[2] यही 'ओ' शौरसेनी प्राकृत में कर्मकारक का प्रत्यय रहा है, जैसे—इमा (इदम) स्त्री० का 'इमाओ', अमु (अदस्) स्त्री० का 'अमुओ', 'भाणु (भानु) पु० का 'भाणाओ, वाउ (वायु) पुं० का 'वाउओ' आदि।

पहाड़ी की प्रमुख बोलियों में पुरुषवाचक अन्य पुरुष सर्वनामों में स्त्रीलिंग और पुंल्लिग के अलग-अलग रूप हैं। यह बात हिन्दी आदि कई आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में नहीं है। वहाँ अन्यपुरुष सर्वनामों के स्त्रीलिंग और पुंलिंग अलग रूप नहीं हैं। यह प्रकृति भी पहाड़ी को संस्कृत से शौरसेनी के माध्यम से प्राप्त हुई है।

धातु रूपों में भी कई दिशाओं से पहाड़ी का उद्‌गम शौरसेनी से प्रकट होता है। पहाड़ी में कर्मवाच्य का प्रत्यय प्रमुखतः 'इ' है—सोइणा, खाइणा, धोइणा आदि। यह प्रत्यय संस्कृत का 'य' रूप है जो प्राकृत के 'इय' से प्राप्त हुआ है—सं० य > प्रा० या > शौ० इय > प० इ। इसी तरह पहाड़ी में प्रेरणार्थक क्रिया का प्रत्यय 'आ' है, जैसे—सोणा से सुआणा, खाणा से खुआणा, धोणा से धुआणा आदि। यह प्रत्यय भी संस्कृत से शौरसेनी द्वारा प्राप्त हुआ है—सं० आय > आव > आ।

अतीत काल के रूपों द्वारा भी पहाड़ी भाषा का शौरसेनी से निकट का सम्बन्ध

---

1. Alfred C. Woolner : Introduction to Prakrit अनु: बनारसीदास, पृ० 46-48.
2. दे० राज्य भाषा संस्थान, शिक्षा विभाग, हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित शोध पत्रावली भाग 2, पृ०49, 50. —ले० श्री मनसाराम शर्मा।

जुड़ता है। इस काल के रूप पहाड़ी की प्रमुख बोलियों में इस प्रकार होते हैं—पढ़ेया, मारेया, खादेया, तोड़ेया, सुनेया। ये सभी भूतकालिक कृदन्त के कर्मवाच्य रूप हैं जो संस्कृत से शौरसेनी द्वारा पहाड़ी में आए हैं। संस्कृत में भूतकालिक कृदन्त का रूप उदाहरणतः 'मारितः', 'चलितः', 'पठितः' होता है, जहां अन्तिम अक्षर से पूर्व 'इ' स्वर विद्यमान है। और, यह प्रथा शौरसेनी में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वहाँ इनका रूप इस प्रकार बना—पठितः > पठिदो > पठिओ, मारितः > मारिदो > मारिओ, खादितः > खादिदो > खादिओ > खादिआ। यही रूप पहाड़ी में क्रमशः पढ़ेआ-पढ़ेया, मारेआ—मरेया, खादेआ—खादेया बनते हैं। कहीं-कहीं श्रुति के कारण 'इ' द्वारा 'खाइया' रूप भी प्रचलित हैं।

अतः उपर्युक्त सभी विवरणों के अन्तर्गत सारांश में यह स्पष्ट हो जाता है कि पहाड़ी भाषा का उद्‌गम निश्चय ही शौरसेनी अपभ्रंश अथवा इसका कोई स्थानीय रूप है। दरदपैशाची इसका आधार कदापि नहीं हो सकती।

अध्याय—4

पहाड़ी भाषी क्षेत्र और उसकी बोलियाँ

पहाड़ी प्रमुखतः उस क्षेत्र की भाषा है, जिसमें वर्तमान हिमाचल प्रदेश राज्य स्थित है। परन्तु, जैसा कि सभी भाषाओं के बारे में स्वाभाविक है किसी भी भाषा को ठीक भौगोलिक क्षेत्र के अन्दर सीमित करना न सम्भव है, न ही युक्तिसंगत। इस तरह, पहाड़ी भाषा को ठीक हिमाचल प्रदेश की भौगोलिक तथा प्रशासनिक सीमाओं के अन्दर सीमित समझना वस्तुस्थिति के अनुकूल नहीं। पहाड़ी भाषा का अपनी पड़ौसी भाषाओं पर प्रभाव पड़ा है, वैसे ही जैसे पड़ौसी भाषाओं का इसके सीमावर्ती रूप पर प्रभाव स्वाभाविक है। पहाड़ी भाषा का प्रमुख प्रभाव उत्तर प्रदेश के ज़िला देहरादून के जौनसर-बावर तथा जम्मू-कश्मीर के भद्रवाह क्षेत्र पर विशेष रूप से विद्यमान है। और, इन दोनों क्षेत्रों की भाषा प्रायः पहाड़ी ही मानी जाती है।

इस प्रकार देहरादून के जौनसर बावर से लेकर जम्मू-कश्मीर के भद्रवाह इलाके तक का समस्त भूभाग पहाड़ी भाषी क्षेत्र है। इसके उत्तर में हिमालय की गहरी घाटियाँ हैं, जहाँ तिब्बती (भोटी) प्रधान भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें एक ओर हिमाचल प्रदेश का लाहुल और स्पिति तथा दूसरी ओर किन्नौर ज़िले की सीमान्त भाषाएं हैं। इसके पूर्व में गढ़वाल का क्षेत्र है, जहाँ भारतीय-आर्य भाषा गढ़वाली बोली जाती है। इसी क्रम में पूर्व-दक्षिण की ओर देहरादून और अम्बाला हिन्दी भाषी क्षेत्र तथा दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिम में पंजाबी भाषी क्षेत्र पड़ता है। पूर्व और पूर्व-उत्तर में यह डोगरी तथा कश्मीरी भाषाओं से घिरी है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन काल में चम्बा से लेकर गढ़वाल तक के क्षेत्र को **सपादलक्ष** कहते थे।[1] सपादलक्ष से अभिप्राय 'सवालाख' पहाड़ियों से है, जो इस क्षेत्र में पाई गई मानी जाती हैं। बाद के साहित्य में सपादलक्ष का अर्थ 'शिवालिक' ने लिया। प्रागैतिहासिक काल

1. दे० डा० ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ, इंडिया खण्ड 9, भाग 4, पृ० 15; तथा श्री डी० आर० भण्डार्कर : फारिन एलिमेंण्ट्स इन दी हिन्दु पापुलेशन, पृ० 221. श्री भंडार्कर चम्बा से लेकर पश्चिम नेपाल तक के क्षेत्र को 'सपादलक्ष' मानते हैं।

में इस क्षेत्र में यक्ष, नाग, कोल, किन्नर, किरात जातियों के लोग रहते थे। वर्तमान समाज में यक्ष अथवा राक्षस केवल डर की वस्तुएँ रह गई हैं, सम्भवत: यह उनके अत्यधिक अत्याचार का कारण है। नाग जाति का अस्तित्व इस समस्त क्षेत्र में नागपूजा की प्रथा द्वारा सिद्ध होता है, यद्यपि नाग-ब्राह्मण अब भी इस क्षेत्र में रहते हैं। समस्त हिमाचल और गढ़वाल में कोलियों की भारी संख्या आदि कोल जाति की ही संतान है। श्री लाल चन्द प्रार्थी इन्हें दस्यु राजा कोलितर शम्बर की संतान मानते हैं।[1] किन्नर लोगों का सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल तक सीमित नहीं है। हिमाचल प्रदेश का वर्तमान किन्नौर जिला किन्नरों का ही प्रदेश है। किरात जाति के लोग भी आज तक इस प्रदेश के विभिन्न भागों में रहते हैं। श्री लालचन्द प्रार्थी बैजनाथ के प्राचीन नाम किरग्राम को किरातों से ही सम्बन्धित मानते हैं।[2] और श्री राहुल सांकृत्यायन कुल्लू जिला के मलाणा गाँव के निवासियों को किरात और इनकी भाषा को किराती कहते हैं।[3] यक्ष और नागों की क्या भाषा थी, इसका रूप अब उपलब्ध नहीं है। कोली लोगों की भाषा अब पूर्णत: भारतीय आर्य भाषा पहाड़ी में बदल चुकी है। किन्नर और किरात लोगों की भाषा के पर्याप्त अवशेष अभी किन्नौर ज़िला और मलाणा गाँव में सुरक्षित हैं, यद्यपि उनमें तिब्बती, आर्य और मुण्डा भाषाओं का अधिक मिश्रण है।

इन प्रागैतिहासिक जातियों के बाद जिन लोगों का सम्बन्ध सपादलक्ष से जोड़ा जाता है, वे खश हैं। महाभारत के कर्णपर्व, सभापर्व, द्रोणपर्व में खश लोगों से सम्बन्धित कई उल्लेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, विष्णुपुराण, मार्कण्डेयपुराण, हरिवंशपुराण भागवतपुराण में कई कथाएं और उल्लेख खशों के बारे में मिलते हैं। पौराणिक कथाओं में इन्हें कश्यप ऋषि की संतान बताया गया है। बहुत से विद्वानों के अनुसार खश भी आर्य थे, परन्तु वे मूल आर्यों से बहुत पहले आये थे और बाद के आर्य आक्रमणों द्वारा उनकी स्थिति पर भारी चोट पहुँची थी। हिमाचल प्रदेश में खशों का प्रभाव बहुत रहा होगा, यहाँ का लोक-साहित्य इस बात का प्रमाण है। सिरमौर, सोलन और शिमला ज़िलों में कितनी ही हारें (Heroic ballads) उनके सम्बन्ध में गाई जाती हैं, जिनसे इनके बारे में काफी प्रकाश पड़ता है।[4] खश लोग भी आर्य भाषा बोलते थे, परन्तु उनकी भाषा भारतीय आर्य भाषा से बहुत भिन्न थी। भरत नाट्यशास्त्र में लिखा है कि 'बाह्लिकी भाषा खशों और उत्तर के निवासियों की बोली थी।' डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार बाह्लिकी बलख देश की भाषा थी। उनके अनुसार खश लोग संस्कृत से मिलती भाषा बोलते थे, परन्तु उनकी शब्दावली किसी हद तक ईरानी अवेस्ता से मिलती थी। खशों की ही दूसरी बिरादरी पिशाच थी और डॉ० ग्रियर्सन खश-पैशाची को ही पहाड़ी भाषा का मूल बताते हैं।

आर्यों के भारत में आगमन के बाद यह प्रदेश आर्य ऋषि-मुनियों का निवास तथा

1. श्री लाल चन्द प्रार्थी : कुलूत देश की कहानी, पृ० 175.
2. वही पृ० 187.
3. श्री राहुल साकृत्यायन: ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 24.
4. कुछ हारें हिमाचल प्रदेश, भाषा विभाग की त्रैमासिक पत्रिका 'हिम भारती' में छपी हैं। विशेषत: दे० हिमभारती दिसम्बर 1971, जून 1973, सितम्बर 1973, दिसम्बर 1973, दिसम्बर 1974.

जप स्थान रहा है। सिरमौर में परशुराम ताल, रेणुका झील, कुल्लू में वशिष्ठ गरम पानी का कुण्ड, भृगु-तुङ्ग (जोत रोतांग), व्यास कुण्ड, जमदग्नि का मलाणा, मनु का मनाली, मण्डी में पराशर झील, माण्डव्य ऋषि की मण्डी आदि स्थान उन्हीं ऋषियों की यादगार हैं। वेदों के अधिकांश भाग की रचना सप्त-सिन्धु क्षेत्र में हुई थी। सात नदियों के स्रोत इसी भू-भाग में पड़ते हैं। विद्वान वैदिक काल के सप्त सिन्धु भूखण्ड में वर्तमान पंजाब के मुख्य भाग मानते हैं। परन्तु वेदों के बहुत बड़े भाग में जो बादल, बिजली, पहाड़ों में घनघोर वर्षा, सख्त सरदी और बर्फ का हवाला है, वह पंजाब के मैदानी भाग से कदापि मेल नहीं खाता। पजाब की संज्ञा और संकल्पना बहुत देर बाद की है। वेदों में इस नाम से सकेत नहीं है। विद्वानों ने उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में वेदों की व्याख्या की है। उन्होंने समस्त पंजाब को वह भूमि स्थापित किया जहाँ वेदों के उल्लेख के अनुसार मुख्य भाग की रचना हुई है। परन्तु इन ऋचाओं का रचना-स्थान पर्वतीय क्षेत्र ही है। मैदानी क्षेत्र नहीं। अतः वेदों के सप्त-सिन्धु का मुख्य भाग वर्तमान हिमाचल प्रदेश तथा साथ लगता कश्मीर और गढ़वाल का क्षेत्र है। सप्त-सिन्धु को आर्यावर्त्त भी कहा गया है। ऋग्वेद में व्यास नदी के अर्जिकीया नाम के हवाला से श्री लालचन्द प्रार्थी इसी क्षेत्र को आर्यावर्त्त का मुख्य भाग मानते हैं, जिस का केन्द्र आर्यकी वर्तमान 'अर्की' स्वीकार करते हैं।[1] हिमालय के पाँच खण्डों में एक जलन्धर था—

खण्डः पंच हिमालयस्य कथिता नेपाल कूर्माचलौ
केदारोऽथ जलंधरोऽथ रुचिरःकश्मीर संज्ञोऽन्तिमः

जलन्धर खण्ड का मुख्य भाग सपादलक्ष है, जलन्धर का मैदानी भाग नहीं। इसी में ही बाद के साहित्य का प्रसिद्ध क्षेत्र त्रिगर्त पड़ता है, जिसमें काँगड़ा और उसके इर्द-गिर्द का बड़ा भू-भाग शामिल है और जो सपादलक्ष का केन्द्र है। वेदों में एक महान युद्ध 'दाश राज्ञ' का वर्णन है जो एक ओर वसिष्ठ ऋषि द्वारा समर्थित सुदास और दूसरी ओर दस जन पदों के बीच हुआ जिन्हें विश्वामित्र का मार्गदर्शन प्राप्त था। यह युद्ध परुषणी अर्थात् रावी नदी के किनारे हुआ था, जो आर्य और दासों के बीच संघर्ष का भी क्षेत्र माना जाता है। दास से अभिप्राय यहाँ के आदि-जातियों के लोगों से है, जिन्हें दस्यु भी कहा गया है और जिन में कोल, किरात, भील, किन्नर, असुर आदि शामिल हैं, जो जैसा कि पहले लिखा गया है इस क्षेत्र के मूल निवासी थे। दस जनपदों के बीच पाँच बड़े जनपदों में एक तृत्सु जनपद भी था जिनका मूल अधिकार क्षेत्र रावी नदी के पूर्व का भू-खण्ड बताया जाता है। यही तृत्सु क्षेत्र बाद में **त्रिगर्त** कहलाया होगा।

स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर सतलुज, व्यास और रावी का पहाड़ी क्षेत्र आर्यों और दस्यु जाति का संघर्ष का अखाड़ा रहा है, वहाँ दूसरी ओर यह वही क्षेत्र है जहाँ वैदिक ऋषियों ने वेदों के मुख्य भाग की रचना की। उपर्युक्त 'दाश राज्ञ' के सम्बन्ध में ऋग्वेद की जिन रचनाओं का निर्माण हुआ है, वे सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से मानी जाती हैं। वर्तमान पहाड़ी भाषा में वैदिक तथा संस्कृत ध्वनियों और शब्दों का जो आधिक्य है,

1. श्री लाल चन्द प्रार्थी : कुलूत देश की कहानी, पृ० 77.

वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि न केवल यह वेदों का रचना-स्थान है, वरन् यह वह भू-खण्ड है जहाँ किसी समय संस्कृत लोक भाषा रही होगी।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के समय इस भू-खण्ड में आदिवासियों, खशों और आर्यों के साथ-साथ गूजर लोगों का सम्बन्ध भी जोड़ा जाता है। कुछ विद्वानों ने वर्तमान पहाड़ी के निर्माण में गूजर जाति तथा उनकी भाषा के योगदान को प्रमुख स्थान दिया है। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार "पहाड़ी भाषा राजस्थानी का एक रूप है जो मूल में खश-गूजर की भाषाओं का मिश्रण है।"[1] खशों के बारे में पहले कहा जा चुका है। जहाँ तक गूजरों का सम्बन्ध है, उनकी वर्तमान समाज में जनसंख्या को देखते हुए यह स्वीकार करना कठिन है कि पहाड़ी भाषा में उनका कोई निर्णायक योगदान रहा हो।

यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है। परन्तु विषय के क्रमानुसार यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ और कहना उचित होगा।

डॉ० ग्रियर्सन ने पहाड़ी क्षेत्र की भाषाओं में जिन गुजरी भाषाओं का वर्णन किया है, वे 'हज़ारा की गुजरी', 'स्वात की गुजरी', 'यूसफज़ई गुजरी', 'कश्मीर की गुजरी' तथा 'पंजाब के पहाड़ियों की गुजरी हैं'। इनमें अन्तिम को छोड़कर कोई भी गुजरी भाषा हिमाचल क्षेत्र से सम्बन्धित नहीं है। अन्तिम गुजरो में भी मूल भाग गुजरात, गुरुदासपुर और होशियारपुर का है। कुल 226, 949 में से कांगड़ा में केवल 8,460 गूजर दिखाए गए हैं। स्पष्ट है कि उस समय भी गूजरों की संख्या इस भू-खण्ड में नहीं के बराबर थी। अतः इस नाममात्र जनसंख्या का समाज की भाषा पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। यह तर्क भी अधिक युक्तिसंगत नहीं कि किसी समय इनकी भारी संख्या यहाँ थी, परन्तु बाद में वे अन्य राजपूत जातियों से मिल गए और उनकी अलग सत्ता खत्म हो गई हो। वे रण-कुशल और सफल शासक रहे हैं,[2] ऐसी कोई बुराई उनमें न थी, जिससे वे अपना नाम छोड़ने को विवश होते। जब खश जैसी जाति जो गूजरों से कई सौ वर्ष पहले भारत में आई, इस प्रदेश के कई भागों में विभिन्न रूपों में अपना अस्तित्व छोड़े हुए है, तो कोई कारण नहीं कि उनके बहुत देर बाद छठी ईसवी में आए गूजर इतने शीघ्र केवल उदाहरण के लिए ही कुछेक खाना-बदोष परिवार छोड़ जाते। खश जाति अपने अत्याचारों के कारण इतिहास में किसी समय मानवभक्षी भी कहलाए और इसीलिए जहाँ कुल्लू और कांगड़ा में खश कहना गाली माना जाता है, वहाँ किन्नौर जैसे इलाको में खश बड़ा सम्मानित शब्द है। इसी विरोधी पक्ष में ही हिमाचल का विशाल लोक साहित्य प्राप्य है। परन्तु गूजरों के बारे में ऐसा अत्याचारी व्यवहार कहीं व्यक्त नहीं है। फिर उनका अस्तित्व कैसे मिट गया। उन्हें अपनी जाति छोड़कर अन्य राजपूतों में कैसे समाप्त होना पड़ा।

इसके अतिरिक्त, विद्वान इस बात पर एक आवाज़ से सहमत हैं कि गूजर लोग भारतवर्ष में पहली बार छठी शताब्दी में आए। तब तक तो मध्यकालीन भारतीय आर्य

1. डा० ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, खण्ड 9 भाग 4, पृ० 273.
2. श्री के० एम० मुन्शी 'गलोरी देट वाज गूजर देश' भूमिका पृ० xii.

भाषाओं के प्रथम दो चरण समाप्त हो गए थे और केवल अन्तिम चरण 'अपभ्रंश' का समय चल रहा था। ऐसी अवस्था में गुजरात जैसे क्षेत्रों में तो, जो उनके गढ़ थे, उनकी भाषा प्रधान हो सकती है, शेष स्थानों पर उनका विशेष प्रभाव नहीं माना जा सकता, विशेषत: पहाड़ी भाषी क्षेत्र पर।

ऐतिहासिक सन्दर्भों से लगता है कि जब गुजरात-मालवा आदि गूजर देशों में गूजर शासकों का प्रभुत्व था, तब यह क्षेत्र उनके अधिराजत्व के रूप में रहा होगा, कभी स्वतन्त्र हुआ, कभी उनके अधीन। समाज में तब भी उनकी संख्या अधिक न थी। सन् 550 से 1200 ईसवी तक गूजर शासकों ने कई बार सपादलक्ष पर आक्रमण किए। 1150 ई० के लगभग कुमारपाल ने इसे विध्वंसित कर दिया,[1] और इसे गूजरदेश का भाग भी बनाया। परन्तु यह केवल उनके शासन को समय-समय की विजय थी। मूल-रूप में सपादलक्ष पर राजपूत राजाओं का अधिकार रहा। सपादलक्ष में तब भी गूजरों की आबादी किसी जगह अधिक न रही होगी, तभी तो गूजर प्रदेश के शासक यहाँ अपना स्थायी राज्य कभी भी उस समय स्थापित न कर सके। यहाँ के मूल निवासियों को उनका आक्रमण ऐसा ही रहा होगा, जैसा गज़नी और गौरी का उत्तर भारत पर। श्री के० एम० मुन्शी का यह कथन कि सपादलक्ष गूजर राज्य का दुर्जेय इकाई थी,[2] इस बात का संकेत है कि पहाड़ी लोगों ने कभी उनका स्थायी शासन स्वीकार नहीं किया।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि गूजर जाति की भाषा का कोई भी प्रभाव नहीं है। प्रभाव ज़रूर है, परन्तु इतना ही जितना पहाड़ी भाषा पर मुण्डा, दरद-पैशाची और तिब्बती भाषा का प्रभाव दिखाई देता है। वस्तुत: पहाड़ी भाषा के मूल में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत है जो मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के माध्यम से वर्तमान भाषा के रूप में पहुंची है। वर्तमान पहाड़ी भाषा का मूलाधार शौरसेनी होने के बारे में उदाहरण और तर्क सहित अन्यत्र उल्लेख किया गया है।

भौगोलिक तथा प्राकृतिक स्थिति

समस्त पहाड़ी-भाषी क्षेत्र केवल भाषा की दृष्टि से ही नहीं, वरन भौगोलिक तथा प्राकृतिक रचना की दृष्टि से भी अन्य भागों से पृथक है। इसके पूर्व-दक्षिण, दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में हरियाणा और पंजाब के मैदान हैं। ज्यों ही हम सपाट समतल मैदान से उत्तर की ओर ऐसे स्थान पर पहुँचते हैं, जहाँ हिमालय के दामन की पहाड़ियाँ जन्म लेने लगती हैं ठीक वहीं से पहाड़ी भाषी क्षेत्र आरम्भ होता है। दक्षिण की ओर इन्हीं छोटी पर्वत शृंखलाओं ने अपने उत्तर में आने वाले क्षेत्र को दक्षिण के क्षत्र से भौगोलिक रूप में अलग कर दिया है। इन्हीं पहाड़ियों ने हिन्दी और पंजाबी क्षेत्र से पहाड़ी की सीमा बाँधी है। जैसे ही अम्बाला, कालका, चण्डीगढ़, रोपड़, होशियारपुर और पठानकोट में पहुँचकर मैदानी भाग समाप्त होता है हिमालय की सवा-लाख शाखाएँ

1. श्री के० एम० मुन्शी : 'गलोरी देट वाज़ गूजर देश' पृ० 343.
2. वही पृ० 347.

(सपादलक्ष क्षेत्र) मैदान से बिलकुल भिन्न प्राकृतिक सौंदर्य लिये स्वागत-द्वार खोले होती हैं। यही छोटी पर्वत श्रृंखलाएँ लघु और विशाल रूप में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, ऊपर उठती और ऊँची होती हैं, यहाँ तक की अन्ततः वे उत्तर में उन हिमाच्छादित हिमालय के उच्च शिखरों पर पहुँचती हैं जो इसकी उत्तर की सीमा का काम देती हैं। इस प्रकार शिवालिक की गहरी घाटियों में 1500 फुट से चलकर ये पर्वत चोटियाँ कांगड़ा किला 2500 फुट, मण्डी 3000 फुट, सूईधार 8900 फुट, भबूजोत 12000 फुट, बंघाल (धौलाधार) 17000 फुट, देऊ टिब्बा 19680 फुट तथा इन्द्रकील (इन्द्रासन) 20400 फुट तक ऊँची चढ़ती हैं। पूर्ण भूखंड समुद्रीतल से 1200 फुट से 21000 फुट की ऊँचाई के बीच स्थित है। प्रदेश की विभिन्न चोटियाँ सदा से पर्यटकों और यात्रियों को आकर्षित करती रही हैं।

समस्त क्षेत्र छोटी-छोटी वादियों में विभक्त है जो पर्वत चोटियों और नदी-नालों से घिरी हैं। जगह-जगह पर तीर्थ स्थान, ऋषि-मुनियों के साधनास्थल तथा प्राकृतिक सौंदर्य के दृश्यों से भरपूर हैं। सिरमौर में रेणुका झील, बिलसुर में गोबिन्द सागर, कांगड़ा में भागसू नाग ओर डल झील, मंडी में पराशर झील, रिवालसर झील, चम्बा में खजियार और मणिमहेश, कुल्लू में वशिष्ठ और मणिकरण के गर्म पानी के चश्मे प्राकृतिक सौंदर्य के अद्भुत दृश्य हैं। इसी तरह हिमालय की सुन्दर उपत्यकाएँ इस क्षेत्र की शोभा को चार चाँद लगाती हैं—सिरमौर में सैनधार, शिमला में चूड़धार, कांगड़ा में धौलाधार, चम्बा में हाथीधार, डागनीधार, मण्डी में सिकन्दरधार, चियाड़ाधार, जाऊं-धार, कुल्लू में सारीधार, बशलेऊजोत, कण्डीजोत, जोत रोहतांग आदि प्रसिद्ध पर्वतचोटियाँ हैं। नदियों में चन्द्रभागा (चनाब), रावी, व्यास, सतलुज, पब्बर, और गिरी न केवल सुन्दर नदी-घाटियों की जन्मदातृ हैं, अपितु महान जलशक्ति का स्रोत भी हैं, जिन पर देश की खुशहाली और सम्पन्नता निर्भर है। वास्तव में यह समस्त क्षेत्र प्राकृतिक सौंदर्य की विविधता और विशालता का अनुपम भूखण्ड है।

पहाड़ी की विभिन्न बोलियाँ

पहाड़ी के नामकरण और स्वरूप की तरह ही पहाड़ी के विस्तारक्षेत्र और उसकी बोलियों के बारे में भी विद्वानों के मतभेद हैं। ऐसे मतभेद के कारण स्पष्ट हैं। विद्वानों ने इस पर गहन अध्ययन नहीं किया है, और न ही किसी विद्वान का इस ओर विशेष ध्यान गया है। जिन विद्वानों ने इस सम्बन्ध में छुट-पुट संकेत किया है, उन्होंने केवल अन्य भाषाओं के अध्ययन के बीच सरसरी संकेत किया है। यदि विद्वान भाषा-विशेषज्ञ इसके स्वरूप पर विशेष रूप से अध्ययन करते तो उन्हें स्वयं अपने विचारों को बदलना पड़ता। अपने अध्ययन और खोज के अधीन भाषाओं का स्वरूप और क्षेत्र निर्धारित करते हुए पास-पड़ोस की भाषाओं पर आकस्मिक और नैमित्तिक निर्णय देना न केवल अन्याय करना है, वरन् अनावश्यक भ्रान्तियों और शंकाओं को जन्म देना है। पहाड़ी के स्वरूप का वर्णन करते हुए, विद्वानों के इन विभिन्न मतों का अन्यत्र उल्लेख

किया जा चुका है, और उन्हें पुनः उद्धृत करना युक्तिसंगत नहीं है। यहां केवल कुछ विवेचन किया जाएगा।

आज तक केवल डॉ० ग्रियर्सन ही ऐसे विद्वान हुए हैं, जिन्होंने पहाड़ी की सभी बोलियों का, संक्षिप्त व्याकरण सहित, उल्लेख किया है। यहां डॉ० ग्रियर्सन के हवाले से ही पहाड़ी की विभिन्न बोलियों का संक्षेप में उल्लेख किया जाएगा।

1. जौनसारी

पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हुए (पश्चिमी) पहाड़ी के अन्तर्गत डॉ० ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम बोली जौनसारी मानी है। यह उत्तर प्रदेश के देहरादून ज़िला के जौनसार-बाबर क्षेत्र की बोली है। मूल रूप में यह देहरादून की हिन्दी, इसके पूर्व की गढ़वाली और सिरमौर बोलियों का मिश्रण है, परन्तु इसका सर्वाधिक झुकाव सिरमौरी की ओर है। डॉ० ग्रियर्सन ने इसे अन्तर्वर्ती बोली कहा है। जौनसारी में 'अ' प्रायः 'औ' में बदलता है, जो साथ लगती पहाड़ी की बोलियों की विशेषता है, जैसे—घर>घौर। एक दूसरी विशेषता जो पहाड़ी का मुख्य गुण है, कर्ता का तिर्यक रूप है, जो वास्तव में करण का विभक्ति चिह्न है, जैसे घोड़े (घोड़े ने या घोड़े द्वारा), घौरे (घर ने या घर द्वारा)। इसी तरह अन्तिम स्वर 'अ' या 'आ' भी 'औ' में बदलता है।

नमूना—एकौ-के दुई बेटे थे। तिहूं मुंझे जोजा काणछा था तिने आपणे बाबा-ख बोलौ, जै बाबा, जो किछ धन-टाका औ, तेथुं मुंझे जो-किछ मेरे बांटे-को, सो मू-ख दे।' तेबी तीने जो किछ थो सो तिहूं-ख बांटी दिनो।

2. सिरमौरी

पहाड़ी की दूसरी बोली सिरमौरी है। यह मूल रूप में सिरमौर ज़िला की बोली है। गिरी नदी उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर चलती हुई सिरमौर ज़िले को लगभग दो बराबर भागों में बांटती है। दक्षिण-पश्चिम भाग गिरी-वार तथा उत्तर-पूर्वी भाग गिरी-पार कहलाता है। इसी विभाजन पर सिरमौरी की स्थानीय दो उप-बोलियां मानी गई हैं—गिरी-वार क्षेत्र में धारठी नाम की पर्वत-शृंखला है। इसी के नाम पर इस ओर की उप-बोली को **धारठी** कहते हैं। दूसरे भाग की उप-बोली को **गिरी-पारी** कहा जाता है। दोनों उप-बोलियों में वैयाकरणिक भेद कोई नहीं है, सिवाय इसके कि धारठी पर हिन्दी का कुछ प्रभाव दिखाई देता है, जबकि गिरीपारी का क्षेत्र शुद्ध पहाड़ी भाषा-भाषी है। सिरमौरी में वे सभी ध्वनियां हैं जो अन्य पहाड़ी बोलियों में पाई जाती हैं। शब्दरूप का भी वही सामान्य नियम है। विभक्तियां घटकर केवल चार रह गई हैं कर्ता-करण के लिए 'ए', कर्म-सम्प्रदान के लिए 'खे' अपादान-अधिकरण 'दा' तथा सम्बन्ध रा-रे-री।

गिरी-पारी और धारठी के अतिरिक्त डॉ ग्रियर्सन सिरमौरी की एक और उप-बोली मानते हैं—**बिशाऊ**। बिशाऊ का क्षेत्र जुब्बल विशेष है। परन्तु वे इसका कोई ब्यौरा या व्याकरण नहीं देते। नाम के सिवाय वे इसे गिरीपारी से भिन्न नहीं समझते।

असल में गिरीपारी का वास्तविक नाम 'बिशाऊ' है ।[1]

नमूना—एकी जोणे रे दू बेटे थिए । काणछे बेटे आपणे बाबा-खे बोलो, 'बापू, मेरे बाडे हिसाब मा-खे दे, तेणीए तिनी-खे हिसाब बांडे दिया। काणछे छोटे आपणा बांडा लईरो दूर देशो-खे डेओ-गोवा ।

2. सी तेसी-ख देखीवा रीझीयू थिया, बोलो थिया, एसणा हाण्डो थिया जेसणा बादलो देखीवा मोर नाचो। गांव वाले एसणा लाड देखीवा हैरान थिए । कोवी-कोवी आपु मुझो तेसके ठाठे पाडो थिए।

3. बघाटी

बघाटी भूतपूर्व बघाट रियासत की बोली है, जहां अब वर्तमान सोलन जिला है। परन्तु इसका प्रभाव बघाट रियासत तक सीमित न होकर भूतपूर्व पटियाला राज्य के पिंजौर तक व्यापक था, और अब भी है। इसके पूर्व में सिरमौरी क्षेत्र, दक्षिण में हिन्दी क्षेत्र तथा पश्चिम में पहाड़ी की हण्डूरी बोली का क्षेत्र है। अशणी नदी इसे शिमला की बोली क्योंथली से अलग करती है । अपने स्रोत शिमला के निकट कुफ़री से लेकर गिरी नदी के साथ संगम स्थान गोडा तक यह अशणी नदी क्योंथली और बघाटी के बीच पूर्णतः सीमा निर्धारित करती है। इसके बाएं ओर क्योंथली तथा दाएं ओर बघाटी बोलियां हैं। कुनिहार में इसी बोली का रूप बघलाणी कहलाता है, परन्तु मूल बोली से कोई ऐसी भिन्नता उसमें पाई नहीं जाती जिससे बघलाणी को बघाटी से अलग समझा जाए।

बघाटी बोली सिरमौरी के बिलकुल निकट है। उच्चारण की दृष्टि से सिरमौरी, बघाटी तथा साथ लगती दूसरी बोलियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, सिवाय इसके कि बघाटी में महाप्राणत्व को कोमल करने की प्रवृत्ति है, यथा 'भी' को 'बी', 'घर' को 'गोहर', 'तिन्हा' को 'तिन्ना', दूसरी पहाड़ी बोलियों के 'हाऊं' के लिए 'आओं (मैं)। इसके अतिरिक्त बघाटी क्षेत्र के वर्तमान लेखकों में संयुक्त-अक्षरों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है—जैसे 'कसरा' के लिए 'कस्सरा' (किसका), 'तेसरे' के लिए 'तैस्सरे', 'सबी-खे' के लिए सब्बी-खे (सब को), 'आपणा' के लिए 'आप्पणा' आदि । परन्तु मूल में यह व्यक्तिगत लेखकों के मन की संदिग्धता लगती है, क्योंकि एक ही लेखक एक ही पैरे में इन दोनों तरह के शब्दों का प्रयोग निस्संकोच करता है ।

नमूना—एकी आदमी रे दो बघेर थिए। तिन्ना मांय दे छोटे आपणे बावा-खे बोलेया 'बावा, आपणी घरची मांय दे जो मेरा हिसा औ, सो मा-खे दे ।' तब्बे तेन्नीए तिन्ना-खे आपणी घरची बांडे दिती ।

2. से तेसरी चालौ पांदे लट्टू थे। बोलो थे ईशा चालो जिशा मोर घनघटा-खे देखरो नाचणे लगी राआ ओ। गांओं रे लोक-इआ मोह माया खे देखरो हरान थे। कबे-कबे कनखी साथि देखरो ईशारा वी करो थे ।

1. शिक्षा विभाग, राज्य भाषा संस्थान, हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित 'शोध पत्रावली' पृ० 68 ले० श्री रामदयाल नीरज ।

4. क्योंथली

स्वतन्त्रता से पूर्व शिमला क्षेत्र छोटी-छोटी रियासतों का समूह था। इन्हें शिमला पहाड़ी रियासतें कहा जाता था। पहाड़ियों के बीच हरएक वादी में प्रायः अलग रियासत थी। दक्षिण में सिरमौर और बघाट तथा उत्तर में सतलुज नदी के बीच के क्षेत्र में मुख्यतः इन रियासतों का क्षेत्र पड़ता है। यद्यपि भाषायी दृष्टि से यह एक संपुट क्षेत्र है, परन्तु भूतपूर्व प्रशासन की दृष्टि से हर रियासत की उसी नाम से अपनी बोली गिनाई गई थी। ध्वनि, व्याकरण और शब्दावली में समानता होते हुए भी रियासती विभेद भाषायी विभेद का कारण था। इन रियासतों में सबसे बड़ी क्योंथल रियासत थी, और वह भौगोलिक दृष्टि से मध्य में पड़ती थी। इसीलिए इन सभी रियासतों की बोलियों को, जो समान थीं, डॉ ग्रियर्सन ने 'क्योंथली' के अन्तर्गत रखा है। इस आधार पर क्योंथली के अधीन निम्नलिखित उप-बोलियों का उल्लेख किया जाता है :—

(1) **हण्डूरी**—यह भूतपूर्व हण्डूर रियासत अथवा नालागढ़ में बोली जाती है, और अन्य बोलियों के ठीक दक्षिण-पश्चिम में पड़ती है। नालागढ़ का पूरा क्षेत्र इसमें नहीं पड़ता, परन्तु पूर्व की ओर मैंलोग का क्षेत्र इसी उप-बोली का भाग है। इस पर कहलूरी का प्रर्याप्त प्रभाव है।

(2) **शिमला सिराजी**—क्योंथल को छोड़कर शिमला के आस-पास की भूत-पूर्व छोटी-छोटी रियसतों की बोली को शिमला-सिराजी कहा गया है, यद्यपि मूल सिराज क्षेत्र सतलुज नदी के उस पार कुल्लू जिले का एक भाग है, जिसमें बाहरी सिराज और भीतरी सिराज दो तहसीलें हैं। शिमला सिराजी के अन्तर्गत भूतपूर्व ठेओग और घुण्ड रियासतें, पुनुर क्षेत्र का कुछ भाग, कुम्हारसेन का दक्षिणी भाग, दरकोटी, बलखन तथा बशहर रियासत का कनेती क्षेत्र और कोठखाई का कुछ भाग आता है। इसके दक्षिण में बिशाऊ क्षेत्र पड़ता है, परन्तु बिशाऊ का इस पर कोई प्रभाव नहीं है।

(3) **बराड़ी**—भूतपूर्व जुब्बल रियासत का उत्तरी भाग बराड़ कहलाता है। इसके उत्तर में बुशहर क्षेत्र पड़ता है। बराड़ क्षेत्र, पुनुर क्षेत्र का कुछ भाग, कोठखाई का कुछ भाग, और बुशहर क्षेत्र बराड़ी उप-बोली का क्षेत्र है। डॉ० ग्रियर्सन स्वयं इसको कोई अलग स्थान नहीं देते। केवल स्थानीय नाम का संकेत करते हैं।

(4) **सौराचोली**—जुब्बल के बराड़ क्षेत्र के पूर्व में राउँईं (रवांईं) का इलाका पड़ता है, जो भूतपूर्व क्योंथल रियासत का एक भाग था और राउँईं की ठकरैत कहलाता था। इस क्षेत्र की उप-बोली का स्थानीय नाम सौराचोली है। इसका झुकाव क्योंथली की अपेक्षा कुलुई सिराजी की ओर अधिक है। इसका भी केवल स्थानीय महत्त्व है।

(5) **कीरनी**—बराड़ और राउँईं के दक्षिण में भूतपूर्व तरोच की रियासत थी। रियासत के एक परगना किरन के नाम पर इस उपबोली का नाम किरनी दिया गया है। इसके पूर्व में जौनसर-बावर का क्षेत्र है। नाम के सिवाय इसमें कोई भी भेद के

लक्षण नहीं हैं। अलग नाम का संकेत सम्भवतः इसलिए किया गया है कि कहीं-कहीं जौनसारी के शब्द आ गए हैं।

(6) **कोची**—भूतपूर्व बुशहर रियासत द्विभाषी क्षेत्र था। इसके पूर्वी भाग में तिब्बती भाषा से प्रभावित किन्नौरी भाषा बोली जाती है, और इसका पश्चिमी भाग भारतीय आर्य-भाषी क्षेत्र है। पश्चिमी भाग की इसी भारतीय आर्य पहाड़ी बोली का स्थानीय नाम कोची है। यह बोली उपर्युक्त शिमला सिराजी, बराड़ी, राउँई पहाड़ी बोलियों और एक ओर किन्नौरी से घिरी है। पश्चिम की ओर सतलुज नदी इसे कुलुई सिराजी से अलग करती है। इस उप-बोली का अलग अस्तित्व नहीं है। मूल क्योंथली से पृथक विशेषताएँ नहीं हैं। 'कोचा' का अर्थ किन्नौरी बोली में 'बाहर का' तथा 'कोचङ' का अर्थ 'दिशा' अथवा 'बुरा' होता है। सम्भव है इस बोली का नाम किन्नौर वालों ने 'बाहर की अर्थात् किन्नौर क्षेत्र के बाहर की बोली' दिया हो और डॉ० ग्रियर्सन ने यह नाम वहीं से लिया हो।

मूल क्योंथली बोली, जिसमें उपर्युक्त उप-बोलियों की सभी विशेषताएँ हैं, मूल रूप में भूतपूर्व क्योंथल रियासत की बोली है। शिमला-कसुम्पटी (शहर से बाहर) इस का केन्द्र है, और इसका क्षेत्र ठेओग, कोटी, धामी और भज्जी तक फैला है। इसके पूर्व में सिरमौरी, दक्षिण में बघाटी, पश्चिम में हण्डूरी से आगे कहलूरी और उत्तर में पहाड़ी की मण्डी की सुकेती उपबोली का क्षेत्र है। क्योंथली बोली की मुख्य विशेषता हिन्दी भाषा के आकारान्त शब्दों के औकारान्त में बदलने की प्रवृति है, जैसे हिन्दी के घोड़ा, तारा, सांचा, हफता, लोहा, सूखा, हरा, पीना, बाँटना क्रमशः घोड़ौ, तारौ, साँचौ, हफतौ, लोहौ, शुकौ, हौरौ, पीणौ, बांटुणौ में बदल जाते हैं। यहाँ 'औ' को ठीक 'औ' नहीं मानना चाहिए, न यह 'ओ' है, यद्यपि कुछ लेखक इन्हें तारो, हौरो, शूको, बाँडणो आदि भी लिखते हैं। मूल रूप में यह ह्रस्व 'ओ' है, जो पहाड़ी भाषा की मुख्य ध्वनियों में से है। इसी तरह व्यंजनांत (अथवा अकारांत) पुल्लिग संज्ञा शब्दों का विकारी रूप भी 'औकारान्त' हो जाता है—देशौ रे बीर (देश के वीर), बोणौ में एस री कुटिया ओसौ (वण में इसकी कुटिया है) आदि। क्योंथली की एक दूसरी बिशेषता शब्दों में **अल्पार्थकता विशालार्थकता** की अभिव्यक्ति के लिए टा-टू-टो या -टी प्रत्ययों का प्रयोग है; विशालार्थकता या महत्त्वार्थकता के लिए 'टा-टो' और अल्पार्थकता या लघुत्वार्थकता के लिए '**टू**' और स्त्रीलिंग में 'टी'—उचटा (ऊँचा), छेलटू (बकरी का बच्चा), झिखुटा (कंबल), छांगटू (लड़का)। यह प्रवृति उप-नामों में बड़ी व्यापक है, जैसे—बरागटा, जोगटा, प्रेमटा, जमालटा, थोबटा आदि। लघुत्व और विशालता को ऐसे प्रत्ययों द्वारा व्यक्त करने की पहाड़ी भाषा की एक मुख्य विशेषता है, यद्यपि अन्य बोलियों में टा-टू-टो-टी प्रत्यय ड़ा-ड़-ड़ो-ड़ी, या का-कू-को-की में भी प्रयुक्त होते हैं।

नमूना—एक माणछो रे दो छोह्टू थे। छोटड़े छोह्टूए आपणे बावेखे बोलो जे जो घरचे मेरे बाँडेरे आजो से मूं-खे दे। तेने सब घरची दूईखे-बाँडी। छोटे छोह्टूए आपणौ बाँडौ लेय एक दूरो देशौ खे डेउआ।

2. से तेसरी चाली देखेऔ मस्त हुऔ थौ। बोलौ थौ, जे एरी चाल हांडौ जेरा

कालौ बादलौ देखीऔ मोर नाचौ था। गाँवों रे एज़्री मोहमाये देखीऔ हैरान थिए। *कौबे-कौबे झरोखे दू सावनी (साणकौ) भी देऔ।*

आजकल विद्वानों ने क्योंथली सहित इन सभी उप-बोलियों को 'महासुई' कहना अधिक उचित समझा है।[1] वास्तव में डॉ० ग्रियर्सन ने जिन नामों से इन बोलियों का उल्लेख किया है, वे आम प्रचलित नहीं हैं, और जाँच करने पर भी स्थानीय लोग इनमें से अधिकांश उप-बोलियों को इन नामों से नहीं जानते। स्वयं क्योंथली का यह नाम अधिक प्रयोग में नहीं है। इस बोली को **'महासुई'** कहना अधिक उचित है। इस क्षेत्र में महासु (महाशिव) की शक्ति का बहुत बड़ा प्रभाव है। समस्त क्षेत्र में महासु की विशेष पूजा होती है। सामाजिक प्रथाओं तथा लोक साहित्य की विधाओं में महासु का अत्यधिक स्थान है। स्थान-स्थान पर महाशिव के मन्दिर हैं और एक पहाड़ी का नाम ही महासु है जहाँ महाशिव का बहुत बड़ा मन्दिर है और यहीं देवता के पराक्रमों की प्राचीन लम्बी कथा भी प्रचलित है।

5. सतलुज-समूह

सतलुज नदी इस समय हिमाचल प्रदेश के कुल्लू और शिमला ज़िलों की सीमा-रेखा है। सतलुज नदी के उत्तर की ओर सिराज का इलाका है। समस्त सिराज क्षेत्र को जलोड़ी और बिशलेऊ जोत दो भागों में बाँटते हैं। दक्षिण की ओर सतलुज का क्षेत्र बाहरी सिराज कहलाता है और पहाड़ी के दूसरी ओर व्यास का क्षेत्र भीतरी सिराज। कुल्लू की तरफ से, जिसका यह सारा क्षेत्र उपमण्डल है, भीतरी सिराज कुल्लू के अन्दर की ओर है और बाह्य सिराज बाहर की ओर। डॉ० ग्रियर्सन ने सतलुज के दक्षिण की ओर की मुख्य उप-बोलियों का क्योंथली के अन्तर्गत उल्लेख किया है। परन्तु सतलुज नदी से लगते हुए कुछ क्षेत्र का हवाला उसमें नहीं दिया है। इस क्षेत्र में भूतपूर्व शांगरी रिया–सत, क्योंथल और कुम्हारसेन का कुछ भाग, बुशहर का थोड़ा सा हिस्सा और कोटगुरू (वर्तमान कोटगढ़) शामिल हैं। इस समस्त क्षेत्र को **सधोच** या **शौधोच** कहते हैं।

इस क्षेत्र और सतलुज की दूसरी ओर साथ लगते बाहरी सिराज की बोलियों को डॉ० ग्रियर्सन ने 'सतलुज समूह' कहा है। शौधोची और बाहरी सिराजी में पूर्ण समानता नहीं है। शौधोची क्योंथली बोली से अधिक भिन्न नहीं है। और बाहरी सिराजी भीतरी सिराजी से बहुत साम्य रखे हुए है। सतलुज उआर अर्थात शौधोची का क्योंथली समूह से अलग करने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। ये दोनों बोलियाँ मूल रूप में एक ही हैं। जो छुठ-पुट अन्तर देखने में आते हैं वे सभी बोलियों और उप-बोलियों में सम्भव हैं। पहाड़ी के इस रूप को अलग रखने का डॉ० ग्रियर्सन का उद्देश्य यह है कि वे इसे क्योंथली और कुलुई के बीच सम्पर्क के रूप में दिखाना चाहते हैं, अन्यथा वे स्वयं कहते हैं कि ये उप-बोलियाँ क्योंथली की अन्य उप-बोलियों के समान-रूप हैं। केवल इनमें औकारान्त शब्दों की क्योंथली की विशेषता उस व्यापकता में नहीं

---

1. शिक्षा विभाग 'राज्य भाषा संस्थान' हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित "शोध पत्रावली" पृ० 71, लेखक प्रो० एच० आर० जस्टा।

है और इसी आधार पर ये उप-बोलियाँ कुलुई और क्योंथली के बीच के रूप हैं ।

नमूना—एकी बाबे दूई छोट्ट तै । तिना माँय हौकने छोटुए बाबा-लै बौलौ 'हे बाबा, आपणी घौरची मंझा जौ मेरौ बांडो पोड़ा, तेऊ मूं-लै दे, तेबी तिनी तिना-लै आपणी घौरची बाँडी ।

2. सो तेउऐ चाला मांय बड़ा लट्टू तौ । बोला तै एणो मस्ती के हांडा ज़ेणो मोर काड़े बादड़े-लै हेरिया नाचा ग्रांवें लोक एहा मोह माया हेरिया बड़े हैरान तै ।

इस प्रकार बाहरी सिराजी को कुलुई के अन्तर्गत और शौधोची को क्योंथली के साथ रखना अधिक युक्तिसंगत है । सतलुज नदी जिस तरह भौगोलिक और प्रशासनिक सीमा रेखा है, वैसे ही भाषायी विभाजन रेखा भी है ।

6. कुलुई

इस प्रकार सतलुज नदी से ही कुलुई का क्षेत्र आरम्भ होना चाहिए। यह वास्तविकता के अधिक अनुकूल है। निस्सन्देह बाहरी-सिराजी में क्योंथली के शौधोची रूप के कुछ गुण शामिल हैं, परन्तु इसमें इतनी ही विशेषताएं भीतरी सिराजी की भी हैं । इस दृष्टि से भीतरी सिराजी कलुई और महासुई के बीच सेतु का काम करती है। परन्तु यह कलुई के अधिक निकट है । इसका आगे उल्लेख किया जाएगा । परन्तु जहां तक डॉ० ग्रियर्सन के विचारों का सम्बन्ध है उन्होंने कुलुई के अन्तर्गत कुलुई विशेष, सेंजी और भीतरी-सिराजी तीन उप-बोलियां गिनाई हैं । परन्तु इनमें से भी सेंजी को अलग नहीं कहा जा सकता । इस तरह तो हर गांव की बोली को अलग कहा जा सकता है, विशेषतः पहाड़ी क्षेत्रों में। भीतरी-सिराजी तथा बाह्य-सिराजी में काफी समानता है । विशिष्ट कुलुई का क्षेत्र कुल्लू तहसील तक सीमित नहीं है। कुल्लू तहसील की पश्चिमी सीमा सरी जोत है। सारी जोत की दूसरी ओर कांगड़ा ज़िला का बंघाल क्षेत्र पड़ता है । बंघाल के दो भाग हैं—छोटा बंघाल और बड़ा बंघाल । छोटे बंघाल का पूर्वी भाग जिसमें कोठी कोहड़ और सुआड़ पड़ते हैं कुलुई क्षेत्र के अन्तर्गत है। इस तरह सारी जोत के ठीक दूसरी ओर कोहड़ सुआड़ की बोली सभी दृष्टि से कुलुई है ।

इस प्रकार कुलुई बोली के उत्तर में लाहुल और स्पिति का क्षेत्र पड़ता है जहां भाषा तिब्बती भोटी अर्थात् तिब्बती प्रधान है। पूर्व में महासुई, दक्षिण में मण्डियाली तथा पश्चिम में कांगड़ी बोली के क्षेत्र पड़ते हैं। डॉ० ग्रियर्सन कुलुई और क्योंथली-बघाटी को विशिष्ट पहाड़ी कहते हैं।[1] वे कुलुई में उन सब विशेषताओं का समावेश मानते हैं जो (पश्चिमी) पहाड़ी को अन्य पड़ोसी भाषाओं से अलग करने के आधार हैं।[2] समस्त पहाड़ी क्षेत्र में जो तालव्य च-वर्ग को वर्त्स्य च़-वर्ग में बदलने की प्रवृत्ति है वह कुल्लू में विशेष रूप से उभर आई है, और यहाँ च-वर्गीय तथा च़-वर्गीय उच्चारणों में केवल प्रवृत्ति न रहकर दोनों अलग-अलग स्वतंत्र ध्वनि-समूह बन गए हैं ।[3] इसी तरह

1. डा० ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया खण्ड 9, भाग 4, पृ० 375.
2. वही पृ० 670.
3. विस्तार के लिए आगे कुलुई 'व्यंजन ध्वनिय' देखें ।

दन्त्य 'ल' और मूर्धन्य 'ल़' की स्वतन्त्र ध्वनियां, 'ए' ओर 'ऐ' के साथ-साथ ह्रस्व 'एँ' तथा 'ओ' और 'औ' के अतिरिक्त 'ओॅ' ध्वनियों की स्थिति जो पहाड़ी की सभी बोलियों की विशेषताएं हैं, कुलुई में स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुई हैं। इसी प्रकार सर्वनामों के सम्बन्ध में पहाड़ी भाषा की विशिष्टताएं, विशेषतः अन्य पुरुष के लिए स्त्रीलिंग और पुल्लिग के अलग-अलग प्रत्यय, कुलुई में नितान्त स्पष्ट हैं।

नमूना—एकी माण्हु-रे दूई बेटे थी। तिन्हा मोंझा-न होळे बेटे आपणे बाबा-बे बोलू 'एई बाबुआ, माल-मता री जो बोंड मूँबे पूजा सा, सो मूँबे दे।' तेबे तेइए तिन्हा-बे बोंडी धीनी।

2. सो तेईरी चाला पांघे बड़ा मस्त हौआ थी। बोला थी, एण्डा चौला सा जेंडा काले बादला हेरिया मोर नौचा सा। ग्रां-रे लोका तेईरी मोह-माया हेरिया बड़े हैरान हौआ थी।

7. मण्डियाली

मण्डियाली वर्तमान मण्डी ज़िला की बोली है। इसके दक्षिण में सतलुज नदी इसे महासुई से अलग करती है। इसके उत्तर में बंघाल का क्षेत्र है जिसके पूर्वी भाग के कुछ हिस्से में कुलुई बोली का कोहड़-सुआड़ इलाका पड़ता है और पश्चिमी भाग के बड़े हिस्से में काँगड़ी बोली का क्षेत्र है। दक्षिण-पश्चिम की ओर कुलुई की भीतरी-सिराजी का क्षेत्र पड़ता है और उत्तर-पश्चिम में कुलुई विशेष। डॉ० ग्रियर्सन ने इसकी तीन उप-बोलियाँ मानी हैं—(1) मण्डियाली, (2) मण्डियाली पहाड़ी, (3) सुकेती। ध्वनि के किंचित अन्तर के सिवाय वे इन तीनों में कोई भेद नहीं समझते, बल्कि उन्हें समान रूप बताते हैं। व्याकरण भी केवल मण्डियाली का प्रस्तुत किया गया है। वे स्वयं लिखते हैं कि तीनों में शायद ही कोई भेद हो।

मण्डियाली बोली में उपर्युक्त शेष पहाड़ी बोलियों की 'अ' को 'औ' में बदलने की प्रवृत्ति कम हो गई है, जैसे मण्डी में 'घर' शब्द 'घौर' न होकर 'घर' रहता है, परन्तु साधारण बोल चाल में प्रायः 'औ' की ओर झुकाव फिर भी रहता है, जैसे ठौंड<ठण्ड। इसी तरह तालव्य च-वर्गीय ध्वनियों को च़ वर्गीय ध्वनियों में बदलने की प्रवृत्ति भी कम हो गई है। परन्तु ल और ल़ स्वतन्त्र ध्वनियाँ सुरक्षित हैं। शेष पहाड़ी बोलियों में भविष्यत् का प्रत्यय 'ला' अथवा 'लौ' है, परन्तु मण्डियाली में यह हिन्दी 'गा' के समान है। कर्म और सम्प्रदान कारक का प्रत्यय मण्डियाली में 'जो' है। इन भेदों को छोड़कर शेष पहाड़ी भाषा के सभी गुण मण्डियाली में विद्यमान हैं।

नमूना—एकी मनुखा-रे दूई घाबरू थे। माट्ठे घाबरूए आपणे बाबा-सौगी बोलया, जे 'माँ-जो लटे-फटे री बाँड जे औणी तेसा देई दे।' ताँ तेसरे बाबे तेसरी बाँड लटे-फटे री तेस जो देई दित्ती।

2. सैं तेसरी चाला पर बड़ा मोहित होई गईरा था। बोलहाँ था, इहाँ चलाहाँ जिहाँ मोर बदला री घटा जो देखी कने नाची पौहाँ। ग्राँवारे लोक एढ़ा मोह माया जो देखी कने हरयान थे।

8. चम्बयाली

चम्बयाली भूत-पूर्व चम्बा रियासत की बोली है। इसके दक्षिण में कांगड़ा ज़िला पड़ता है। उत्तर-पूर्व और पूर्व में एक ओर चम्बा-लाहुल का क्षेत्र स्थित है, जहां की भाषा तिब्बती-बर्मी परिवार की है तथा दूसरी ओर जम्मू कश्मीर का लद्दाख क्षेत्र है। इसके पश्चिम में भटियाली बोली का क्षेत्र है जो डोगरी भाषा का रूप है। इसके उत्तर-पश्चिम में भद्रवाही क्षेत्र है जहाँ की बोली भी पहाड़ी भाषा से सम्बन्धित है, जिससे आगे फिर डोगरी भाषी क्षेत्र है। बाहरी हिमालय पर्वत की धौलाधार की एक शाखा इसे काँगड़ा ज़िला से अलग करती है। काँगड़ा की ओर व्यास जल-क्षेत्र तथा दूसरी ओर रावी जलक्षेत्र पड़ता है। इससे आगे मध्य हिमालय पर्वत शाखा अर्थात् पाँगी पर्वत-शृंखला पड़ती है। दोनों पर्वत शृंखलाओं के बीच की कुल रावी नदी घाटी तीन वादियों में विभक्त है—(1) चम्बा (2) भरमौर और (3) चुराही। रावी नदी-घाटी से आगे पांगी पर्वत शृंखला की दूसरी ओर चनाब नदी का क्षेत्र पड़ता है जिसे पांगी क्षेत्र कहते हैं। पांगी वादी दो भागों में विभक्त है, दक्षिण-पूर्व में चम्बा-लाहुल और उत्तर-पश्चिम में पांगी क्षेत्र पड़ता है। चम्बा लाहुल की भाषा तिब्बती-बर्मी परिवार से है और पांगी की भारत-आर्य से। इस तरह स्थानीय नामों के आधार पर चम्बयाली बोली के अन्तर्गत उपर्युक्त चार उपबोलियाँ हैं—अर्थात् चम्बयाली विशेष, भरमौरी, चुराही तथा पांगी (पंगवाली)।

धौलाधार और पांगीधार के बीच रावी नदी का मुख्य भाग चम्बयाली बोली का मूल क्षेत्र है। चम्बयाली में वे सभी विशेषताएं हैं जो पहाड़ी भाषा में निहित हैं। परन्तु इसमें कुछ ऐसे लक्षण विद्यमान हैं जो पहाड़ी भाषा की कुछ अन्य बोलियों में नहीं पाए जाते। इसका मुख्य कारण सीमा-वर्ती कश्मीरी, डोगरी तथा पंजाबी भाषाओं का प्रभाव है। ऐसी विभिन्नता में एक सम्प्रदान कारक का 'जो' प्रत्यय है, जो कर्मकारक का प्रत्यय भी है। यह प्रत्यय भारतीय भाषाओं में केवल सिन्धी में पाया जाता है, परन्तु वहाँ यह सम्प्रदान का नहीं बल्कि सम्बन्ध-कारक का प्रत्यय है। इस पर विस्तार से आगे विचार किया जाएगा। चम्बयाली के संज्ञा शब्दों के तिर्यक रूपों में भी भिन्नता है; जहां उपर्युक्त (मण्डियाली को छोड़कर) पहाड़ी की बोलियों में बहुवचन का तिर्यक रूप वही होता है जो एक वचन का, वहाँ चम्बयाली में एक वचन और बहुवचन के तिर्यक रूप अलग-अलग पाए जाते हैं, जैसे शेष बोलियों में घौरा-ले का अर्थ 'घर को' और 'घरों को' दोनों समान हैं, परन्तु चम्बयाली में एक वचन में घर-जो और बहुवचन घरां-जो। इसी तरह ध्वनि-क्षेत्र में भी कुछ भिन्नताएं पाई जाती हैं, जिन में मुख्य यह है कि चम्बयाली में 'अ' को 'औ' अथवा 'ओ' में बदलने की प्रवृत्ति नहीं है।

नमूना—इक्की आदमी रे दो पुत्र थिए। उन्हाँ मंझा निक्के पुत्रे बाबा कोने गलाया 'बाबा, जे घर-बारी रा हेसा मेरा है, से मिंजो दे।' ता उनी आपणी लटी-पटी उन्हाँ-जो बंडी दिती।

भरमौरी को गादी या गदयाली भी कहते हैं। रावी का ऊपरी भाग तथा इसकी

दो सहायक नदियों बुढल और तुंदेहन का क्षेत्र भरमौरी का मूल क्षेत्र है। मूलतः गादी चम्बयाली की उप-बोली है, परन्तु इसमें कांगड़ी और कुलुई बोलियों के प्रभाव स्पष्ट हैं। गादी में सम्प्रदान कारक का 'बो' प्रत्यय कुलुई का 'बें' है। ध्वनि के क्षेत्र में गादी की मुख्य विशेषता स, श को 'ख' में बदलने की प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ हिन्दी सुनना > अन्य पहाड़ी बोलियों में 'शुणना' और गादी में 'खणना', हिन्दी सीखना > प० शीखणा > गा० खिखणा, हिं० सिर के बाल > प० शराल् > गा० खदाल्, पहाड़ी सदना > शादणा > गा० खदणा (बुलाना) हिं० बैठना > प० बेशणा > गा० बेखणा।

चुराह तहसील में स्यूल नदी पड़ती है। स्यूल घाटी चुराही का मूल क्षेत्र है। गादी से भी चुराही अपनी मां-बोली चम्बयाली के अधिक निकट है, और चम्बयाली से अधिक भिन्नता नहीं दिखाती। ध्वनि क्षेत्र में चुराही में स्वरों के निकट आने से ध्वनियों में सामान्य नियम से कुछ भिन्न परिवर्तन होता है, जैसे 'खाता' से स्त्रीलिंग 'खाती' न बन कर 'ई' के कारण 'खैती' बनता है; इसी तरह खाणा से खैणी आदि। इसके अतिरिक्त चुराही में सम्प्रदान-कर्म का प्रत्यय चम्बयाली के 'जो' के स्थान पर 'नी' होता है, जैसे—तेसनी (उसको)।

पाँगी की पंगवाली बोली कश्मीरी भाषा से बहुत प्रभावित है। इसकी शब्दावली में ऐसे शब्दों की बहुलता है, जो पहाड़ी की अन्य बोलियों में साधारणतः पाए नहीं जाते जैसे—आसी (मुँह), दॆस (सूर्य), क्ष़ेड़ी (कहाँ), गीह (घर, सं० गृह), ही (पिछले कल), लिण्ड (बैल), मगर (सिर) आदि। परन्तु ऐसे शब्द भी हैं जो ठेठ पहाड़ी हैं, जैसे—भरोट्टू (बोझ), बुन्ह (नीचे), धाम (महफल), जोली (प० जोई 'पत्नी'), घरैत (पति), गोरा (गाए, कु० गोरू 'मवेशी'), जौसण (प० जौण,'चन्द्रमा') आदि। पंगवाली में श्रुति के बहुत उदाहरण मिलते हैं, जो पहाड़ी की मुख्य विशेषता में से है।[1] पंगवाली में 'र' का लोप प्रायः हो जाता है, जैसे हेना < प० हेरना (देखना), माना < मरना, कना < करना, हाना < हारना आदि।

9. भद्रवाही

भद्रवाह क्षेत्र जम्मू कश्मीर राज्य में पड़ता है, परन्तु भाषायी रूप से यह पहाड़ी भाषी क्षेत्र है। यह चम्बा के उत्तर-पश्चिम और चनाब नदी के दक्षिण में स्थित है। भद्रवाही के अन्तर्गत तीन उप-बोलियाँ पड़ती हैं—

(1) भद्रवाही विशेष, (2) भलेसी, और (3) पाडरी।

दोनों भद्रवाही विशेष और भलेसी भूतपूर्व भद्रवाह जागीर में बोली जाती है —भद्रवाही मूल भद्रवाह क्षेत्र में और भलेसी भलेस क्षेत्र में जो भद्रवाह नगर से पूर्व की ओर चम्बा सीमा के बीच में एक छोटी सी वादी है। पाडरी जम्मू-कश्मीर के उधमपुर के पाडर क्षेत्र की बोली है।

यद्यपि तीनों उप-बोलियों में स्थानीय भेद हैं, परन्तु तीनों में बहुत सी समानताएँ हैं। आगामी स्वर के कारण किसी शब्द के प्रथम स्वर में आने वाले परिवर्तन,

1. विस्तार से आगे कुलुई में 'श्रुति' देखें

जिसके उदाहरण पंगवाली में देखने में आए थे, भद्रवाही में और व्यापक हो गए हैं, उदाहरणार्थ छे.ड़ो 'बकरा' परन्तु छे.ई 'बकरी', को 'लड़का' परन्तु कुई 'लड़की', बछो 'गाय' परन्तु बूछे. 'गाय ने', घोड़ी परन्तु घोड़ीए 'घोड़ी ने'। मूल पहाड़ी में छे.ड़ो से छे.ली, को से कोई, बछी से बछीए आदि रूप बनने चाहिए थे। परन्तु भद्रवाही में बाद में आ रहे स्वरों के प्रभाव के कारण ऐसे रूप न बनकर पूर्वकथित रूप बन जाते हैं। इसी तरह भैण (बहिन) से बहुवचन भैणी बनता जैसा कि अन्य पहाड़ी बोलियों में 'बेहण' से 'बेहणीं' बनता है। परन्तु बहुवजन के प्रत्यय 'ई' के प्रभाव के कारण भद्रवाही, विशेषतः पाडरी, में ऐसा रूप न बनकर भीण 'बहिनें' बनता है। यह कश्मीरी भाषा के प्रभाव के कारण है।

उच्चारण भेद की एक और स्पष्ट व्यापकता है, जो तिब्बती भाषा के प्रभाव के कारण है। तिब्बती में प् ओर र् का संयोग का उच्चारण 'प्र' न हो कर 'ट' या कदरे 'ट्र' जैसा होता है। इसी तरह फ+र=फ्र न होकर 'ठ' या 'ठ्र', ब+र=ब्र न हो कर 'ड' या कदरे 'ड्र'। तिब्बती में 'र' का संयोग सभी वर्गों के अक्षरों के साथ ऐसा ही उच्चारण देता है—क्र < ट, ख्र < ठ, ग्र > ड आदि। पंगवाली की बोलियों में यह प्रवृत्ति प्रायः दिखाई देती है, उदाहरणातः हिन्दी भूख > पंगवाली भ्रुख > भद्रवाही ढलु.खो, हिं० भ्राता > कां० भ्रा > भ० ढला, हिं० भालू > भ्रालू > भ० ढलबू, संस्कृत व्याघ्र > कुलुई ब्राघ > भ० ढलाग, हिं० भेड़ > चु० भ्रड > भ० ढल्ड, हिं० तीन > प० त्राई > भ० टलाई, हिं० स्त्री > भ० ठली आदि।

भद्रवाही और भलेसी के मुख्य अन्तर सर्वनामों के सम्बन्धकारक में हैं। जबकि भद्रवाही में मेरा, तेरा, हमारा और तुम्हारा के लिए क्रमशः मेरू, तेरु, इशू और तिशू रूप प्रचलित हैं, वहाँ भलेसी में मेऊ, तेऊ, असेरू, तुसेरू का प्रयोग होता है। पंगवाली में श्रुति के उदाहरण देखे जा चुके हैं, भलेसी के तेऊ, मेऊ में भी 'र' के लोप स्पष्ट हैं।

पाडरी उप-बोली कश्मीरी से बहुत प्रभावित है। परन्तु भद्रवाही और भलेसी से मूल भिन्नता संज्ञा-सर्वनामों के साथ कारक प्रत्ययों के जोड़ने से परिवर्तन है। कर्ता-विभक्ति रूप और करण के रूप अन्य पहाड़ी भाषाओं की तरह 'ए' जोड़ने से बनते हैं। कर्म-सम्प्रदान में 'ए', अपादान में 'एल' और सम्बन्ध में 'र' या 'कर' प्रत्यय लगते हैं। शेष रूप में पाडरी अन्य दो भद्रवाही उप-बोलियों के अनुकूल है।

भद्रवाही का नमूना—एकी ज़ेणे दूई मौठे थिए। तिनां मंज़रा निकड़े अपणे बा उए से हीं जऊँ 'हे, बाजी जे हसो मीं मलते, दिदें', फिरी तेनी तेनन अपणी घौरबारी बंटी दित्ती।

काँगड़ी और कहलूरी

इस प्रकार जौनसर-बावर से लेकर भद्रवाह तक के पहाड़ी भाषा के क्षेत्र में डॉ० ग्रियर्सन ने प्रमुख नौ बोलियों का समावेश किया है। परन्तु इन्हीं बोलियों से घिरी हुई अन्य दो बोलियों को डॉ० ग्रियर्सन ने (पश्चिमी) पहाड़ी भाषा की बोलियाँ नहीं माना है। ये दो बोलियाँ हैं कांगड़ी और कहलूरी। काँगड़ी बोली मूलतः भूतपूर्व काँगड़ा

जिला तथा उस के आस-पास के पड़ोसी क्षेत्रों की बोली है, जिसमें अब हिमाचल प्रदेश के वर्तमान कांगड़ा, हमीरपुर और ऊना जिले शामिल हैं। इस समस्त कांगड़ी बोली क्षेत्र के उत्तर में चम्बा, पश्चिम में कुल्लू और मण्डी, दक्षिण में बिलासपुर तथा दक्षिण-पश्चिम और पश्चिम में होशियारपुर और गुरदासपुर के क्षेत्र पड़ते हैं। इस प्रकार कांगड़ी बोली लगभग तीन ओर से पहाड़ी भाषी क्षेत्र से घिरा है और एक ओर पंजाबी भाषी क्षेत्र पड़ते हैं।

भूतपूर्व कहलूर और मंगल रियासतों की भाषा को कहलूरी कहते हैं। इस क्षेत्र का प्रमुख भाग अब बिलासपुर जिले में पड़ता है, और यह बोली अब बिलासपुरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इसके दक्षिण में सोलन जिला, पश्चिम में मण्डि जिला, उत्तर में एक तरफ वर्तमान हमीरपुर और उससे आगे ऊना जिले पड़ते हैं, तथा पूर्व में पंजाब का होशियारपुर जिला पड़ता है।

डॉ० ग्रियर्सन ने दोनों कांगड़ी और कहलूरी को पहाड़ी भाषा की बोलियाँ नहीं माना है। कहलूरी के बारे में डॉ० ग्रियर्सन लिखते हैं कि कहलूरी को आज तक पश्चिमी पहाड़ी का एक रूप माना जाता रहा है और स्थानीय लोग इसे पहाड़ी ही कहते हैं। परन्तु (बोली के) नमूने से प्रकट होता है कि ऐसी बात नहीं है।[1] वे इसे होशियारपुर में बोली जाने वाली पंजाबी का एक रूप मानते हैं, परन्तु न बोली का पूर्ण नमूना देते हैं और न ही कोई व्याकरण।

कांगड़ी को भी वे पंजाबी का रूप मानते हैं, जो पड़ोसी भाषा डोगरी और पहाड़ी का मिश्रण है और यहाँ तक कि इसमें कश्मीरी के भी प्रभाव हैं। वास्तव में डॉ० ग्रियर्सन पंजाबी भाषा की दो बोलियाँ मानते हैं—"एक भाषा का सामान्य बोलचाल का रूप और दूसरे डोगरा या डोगरी। इनमें से डोगरी अपने विभिन्न रूपों में जम्मू रियासत के उप-पहाड़ी क्षेत्र और अधिकतः कांगड़ा जिला के मुख्यालयों मण्डल में बोली जाती है।"[2] आगे चलकर डोगरी भाषा का उल्लेख करते हुए वे फिर लिखते हैं "डोगरा (अर्थात डोगरी) की तीन उप-बोलियाँ हैं। ये कण्डियाली, कांगड़ा और भटयाली हैं। कांगड़ा बोली कांगड़ा जिला और तहसीलों के मुख्यालयों की प्रमुख भाषा है।[3] सारांश

1. Dr. G. A. Grierson : Linguistic Survey of India, Vol. IX, part I, p. 677—
   "In the adjoining hilly part of the District a dialect is spoken, which is locally called Pahari. It is the same as Kehluri...... Kehluri has hither to been described as a form of Western Pahari. An examination of the specimen will show that this is not the case.
2. Ibid, p. 609—
   Punjabi has two dialects—the ordinary idiom of the language and Dogra or Dogri. The latter in its various forms is spoken over the sub-mountainous portion of Jammu State and over most of the headquarters divison of the Kangra District.
3. Ibid, p. 637—
   There are three sub-dialects of Dogra. These are Kandeali, the Kangra dialect and Bhateali...Kangra dialect is the main language of the headquarters tehsi ls of Kangra District.

यह कि उनके अनुसार—

(1) पंजाबी की दो बोलियाँ हैं, और उनमें से एक डोगरी है;

(2) डोगरी बोली की तीन उप-बोलियाँ हैं जिनमें से एक काँगड़ी है, तथा

(3) कांगड़ी मुख्यतः ज़िला और मण्डल-तहसील मुख्यालयों में बोली जाती है।

स्पष्ट है कि डॉ० ग्रियर्सन काँगड़ा ज़िला की समस्त भाषा को डोगरी के माध्यम से पंजाबी की उप-बोली नहींमानते, बल्कि केवल उस रूप को डोगरी की उप-बोली मानते हैं जो ज़िला के मुख्यालय और मण्डल-तहसील के मुख्यालयों में बोली जाती है। अर्थात् जो बोली ज़िला और तहसील मुख्यालयों से बाहर बोली जाती है वह डोगरी की उप-बोली नहीं है। काँगड़ी की स्थिति में स्पष्ट रूप से ज़िला और तहसील मुख्यालयों का उल्लेख करके उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह इन मुख्यालयों से बाहर की बोली को पंजाबी-डोगरी की उप-बोली नहीं मानते, बल्कि केवल मुख्यालयों में बोली जाने वाली भाषा को ही डोगरी का रूप कहते हैं। अब, यहएक सर्वसम्मत और असंदिग्ध राय है कि राज्य, ज़िला या तहसील की बोली समस्त क्षेत्र के मूल निवासियों की भाषा नहीं होती। यह कचहरी भाषा होती है जो तथाकथित पढ़े-लिखे कर्मचारियों और कार्यालय में काम के लिए आए लोगों की काम चलाऊ भाषा होती है जो मूल निवासियों की भाषा की वास्तविक प्रतिनिधि नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि जिस बोली को डॉ० ग्रियर्सन ने डोगरी की उप-बोली कहा है, वह कांगड़ा के देहात की भाषा नहीं बल्कि कर्मचारियों और लोगों के बीच की बोल-चाल की कलुषित भाषा है।

यदि तर्क के लिए इसे कलुषित भाषा न भी मानें, तो भी केवल मुख्यालय की बोली के आधार पर सारे क्षेत्र की बोली को पंजाबी-डोगरी का रूप नहीं माना जा सकता। मुख्यालयों का स्पष्ट हवाला देकर दो विकल्प स्पष्ट होते हैं—अर्थात् या तो डॉ० ग्रियर्सन मुख्यालयों से बाहर की बोली को पंजाबी-डोगरी की उप-बोली नहीं मानते; या उन्हें मूल काँगड़ी बोली का ज्ञान नहीं था।

डॉ० ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण में सब से बड़ी कमी यह रही है कि बहुत सी बोलियों को उन्होंने स्वयं नहीं सुना, न ही उन क्षेत्रों को देखा है। किसी बोली के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसके मूल उच्चारण को कानों से सुनना अत्यन्त जरूरी है। डॉ० ग्रियर्सन ने मूलतः अपनी अंग्रेजी की सामग्री के अनुवाद पर निर्भर किया है, और इस लिए उनके लिए भाषा, मूल रूप में, अनुवादक की भाषा थी। और, इस प्रक्रिया में भाषा के वास्तविक रूप के समझने में कई कठिनाइयाँ थीं—ठीक वक्ता की खोज, उसकी ध्वनि का मूल बोली के बोलने वालों की ध्वनि से साम्य, क्योंकि उच्चारण में कई व्यक्तिगत विशेषताएँ होती हैं; फिर उसकी ध्वनि को अनुवादक द्वारा ठीक समझना, ठीक समझते हुए भी उसे लेखनी-बद्ध करने में कठिनाई; अंग्रेज़ी लिपि की भारतीय भाषाओं की ध्वनियों को ठीक-ठीक दर्शाने में असमर्थता, अनुवादक की अपनी सूझ से दर्शाई ध्वनियों को अनुसंधान-कर्ता द्वारा ठीक-ठीक समझने में कठिनाई, अक्षर-वर्तनी में भूलें आदि। इन सब बातों के होते हुए भी डॉ० ग्रियर्सन ने जो कार्य किया है, उसे सराहे बिना नहीं रहा

जा सकता । इन कठिनाइयों के बावजूद भी उनके निर्णयों को सामानयतः ठुकराना आसाना नहीं हैं । परन्तु, फिर भी उनकी जो सीमाएं थीं उन्हें वे स्वयं भी जानते थे और उन्होंने स्थान-स्थान पर इस बात का संकेत भी किया है। वे अपनी सीमाओं से बाहर नहीं जा सकते थे। और, काँगड़ी के बारे में उनकी ये कठिनाइयाँ तथा सीमाएं और अधिक प्रबल हुई हैं, क्योंकि वे लिखते हैं कि **जिस नमूने के आधार पर वे काँगड़ी भाषा का अध्ययन कर रहे हैं और वैयाकरणिक निर्णय दे रहे हैं वह नमूना 'कांगड़ा के निवासी ने नहीं लिखा है।'**[1] स्पष्ट है कि लेखक कोई जिला मुख्यालय का कर्मचारी होगा जो काँगड़ा से बाहर पंजाब का था, और जो अनुवाद उसने भेजा वह मूल काँगड़ी का प्रतिनिधि नहीं था, बल्कि उसकी अपनी बोली थी जिसमें कुछ मुख्यालय की बोली का मिश्रण था। इस लिए निस्सन्देह ही काँगड़ी के बारे में डॉ० ग्रियर्सन का आधार ही दोषपूर्ण था, और अनुवादक के मुख्यालय में लिखे हस्तलेख की भाषा थी। पिछले पृष्ठों पर उद्धृत 'मुख्यालयों' से भी डॉ० ग्रियर्सन का मुख्य हवाला ज़िला कार्यालय से ही था। पृष्ठ 609 पर वे "काँगड़ा ज़िला के मुख्यालयों डिविज़न" लिखते हैं, और पृष्ठ 637 पर 'काँगड़ा ज़िला के मुख्यालयों तहसीलों' का उल्लेख करते हैं।

काँगड़ी बोली की स्थिति

वास्तव में डॉ० ग्रियर्सन काँगड़ी के बारे में स्पष्ट नहीं हैं। उनका काँगड़ी बोली का हस्तलेख काँगड़ा निवासी द्वारा लिखा नहीं गया था, और वे मुख्यालय की बोली को ही डोगरी की उप-बोली कहते हैं, या दूसरे शब्दों में काँगड़ा से बाहर के अनुवादक की भाषा को डोगरी का रूप मानते हैं, और बाद के बहुत से लेखकों और विद्वानों ने बिना गहरा अध्ययन किए यही धारणा अपना ली कि काँगड़ी पंजाबी की बोली है। असल में यह धारणा वस्तुस्थिति के बिलकुल प्रतिकूल है। काँगड़ी बोली तीन ओर से पहाड़ी भाषा से घिरी हुई है। इसके उत्तर के एक भाग में, डॉ० ग्रियर्सन के अपने शब्दों में गद्दी लोग गादी बोलते हैं जो पहाड़ी की एक बोली है।[2] उत्तर के शेष भाग में चम्बा जिला की चम्बयाली का क्षेत्र है। पश्चिम के एक छोटे भाग में कुलुई बोली तथा बहुत बड़े भाग में मण्डियाली बोली जाती है। दक्षिण में बिलासपुर का क्षेत्र है जहाँ हण्डूरी को तो स्वयं डॉ० ग्रियर्सन पहाड़ी मानते हैं। अर्थात उत्तर में चम्बा से लेकर दक्षिण में बिलासपुर तक काँगड़ी पहाड़ी बोलियों से घिरी है, कहलूरी स्वयं तीन तरफ शिमला पहाड़ी से ढकी है। केवल पश्चिमी भाग ही पंजाबी क्षेत्र से संलग्न है। अतः इसका डोगरी की उपबोली होना सम्भव नहीं है। काँगड़ी की अपेक्षा चम्बयाली बोली डोगरी के अधिक निकट होनी चाहिए क्योंकि उसका क्षेत्र डोगरी क्षेत्र से लगता है। परन्तु डॉ० ग्रियर्सन ने चम्बयाली को डोगरी की उप-बोली नहीं माना बल्कि स्पष्ट रूप में पहाड़ी की बोली निर्धारित की है। कारण यह है कि चम्बयाली के बारे में उनके पास अपने

1. "This manuscript was not written by a native of Kangra"—
डॉ० ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, खण्ड 9 भाग 1, पृ० 776.
2. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, खण्ड 9, भाग 1, पृ० 776.

भाषा-नमूने के अतिरिक्त और अधिक व्यापक और प्राधिकृत सामग्री थी, जिन में मुख्यत: रेव० टी० ग्राहम बेली की "लेंग्वेजिज़ आफ दि नार्दर्न हिमालयाज" और डॉ० जे० पी-एच० वोगल की 16 वीं तथा 17वीं शताब्दियों की "प्रशस्तियों (अधिकार पत्रों) से ली गई चम्बयाली शब्दावली" जैसी रचनाएं थीं। ऐसी सामग्री काँगड़ी के बारे में उन्हें प्राप्त न हुई। काँगड़ी बोली दूर की डोगरी की अपेक्षा पड़ौसी बोलियों अर्थात् चम्बयाली, गादी, कुलुई, मण्डियाली से अधिक प्रभावित होनी चाहिए। परन्तु डॉ० ग्रियर्सन काँगड़ी से निकटत: मिलती चम्बयाली और मण्डियाली को तो पहाड़ी मानते हैं, काँगड़ी को ऐसा नहीं मानते।

वस्तुत: इस सारे विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—एक यह कि डॉ० ग्रियर्सन के पास काँगड़ी बोली का सही रूप सही ढंग से प्राप्त न हो सका और इस लिए एक अजनबी द्वारा प्रस्तुत किए गए नमूने के आधार पर इसे वास्तविक रूप में नहीं आँका गया। दूसरे यह कि जैसा भी उन्होंने मूल्यांकन किया है, वे केवल ज़िला मुख्यालय की बोली को ही डोगरी की उप-बोली मानते हैं, सारे काँगड़ी भाषी क्षेत्र की बोली को नहीं। ऐसी परिस्थितियों में कांगड़ी बोली के बारे में भूल हुई, या दूसरे शब्दों में इसके साथ अन्याय हुआ है। गलत प्रतिनिधित्व के कारण काँगड़ी भ्रान्त-धारणा की शिकार हुई, और बाद तक इसके सही रूप पर आक्षेप लगता रहा।

डॉ० ग्रियर्सन के बाद कांगड़ी बोलियों पर, अन्य पहाड़ी बोलियों की तरह वैज्ञानिक अध्ययन तो नहीं हो सका परन्तु बाद की घटनाओं द्वारा यह बात स्पष्ट हो गई है कि काँगड़ी बोली डोगरी के माध्यम से पंजाबी की उप-बोली नहीं है। इन घटनाओं में से सबसे महत्त्वपूर्ण **पंजाब सीमा-कमीशन** की रिपोर्ट और उसके आधार पर भूतपूर्व पंजाब राज्य का विभाजन है। पंजाब में कई वर्षों के भाषायी संघर्ष के परिणाम-स्वरूप जब भारत सरकार ने 23 अप्रैल, 1966 को पंजाब सीमा-कमीशन नियुक्त किया तो उसका एकमात्र उद्देश्य यह था, कि "वर्तमान पंजाब राज्य के हिन्दी और पंजाबी क्षेत्रों की प्रचलित सीमा का निरीक्षण किया जाए और यह सिफारिश की जाए कि प्रस्तावित पंजाब और हरियाणा राज्यों में **भाषात्मक सादृश्य** प्राप्त करने के लिए क्या प्रबन्ध जरूरी हैं।"[1] इससे भी पहले सरदार हुकमसिंह की अध्यक्षता में गठित संसदीय समिति ने यह सिफारिश की थी, कि—

> × × पंजाब क्षेत्रीय समिति आदेश, 1957 की प्रथम अनुसूची में निर्दिष्ट पंजाबी क्षेत्र एकभाषी पंजाबी राज्य बनना चाहिए। पंजाब के हिन्दी क्षेत्र में सम्मिलित पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों को, **जो हिमाचल प्रदेश के साथ लगते हैं और जिनका उस टेरेटरी के साथ भाषात्मक और सांस्कृतिक साम्य है, हिमाचल प्रदेश के साथ मिलाना चाहिए।** पंजाब के शेष हिन्दी भाषी क्षेत्र को हरियाणा राज्य के नाम से अलग इकाई के रूप में गठित करना चाहिए।[2]

1. Punjab Boundary Commission Report (presented on the 31st May, 1966), p. 2.
2. Ibid, p. 1 (which runs as on foot-note p. 98)

स्पष्टतया, पंजाब सीमा-कमीशन की नियुक्ति का प्रस्ताव निर्दिष्ट सिद्धान्तों पर आधारित था, और कमीशन का मुख्य उद्देश्य यह सिफारिश करना था कि—

(i) भाषायी सजातीयता को स्थापित करने के लिए वर्तमान राज्य के हिन्दी और पंजाबी क्षेत्रों की वर्तमान सीमाओं को निर्धारित किया जाए;

(ii) वर्तमान राज्य के उन पहाड़ी क्षेत्रों की सीमाएं निर्दिष्ट की जाएं जो हिमाचल प्रदेश के साथ लगते हैं तथा उसके साथ सांस्कृतिक तथा भाषात्मक साम्य रखते हैं।[1]

भूतपूर्व पंजाब का विभाजन मूल रूप में भाषायी दृष्टि पर हुआ, और अन्य बातों के साथ-साथ, कमीशन के सामने मुख्यतः 1961 की जनगणना के आंकड़े मूल आधार थे। परन्तु 1961 की जनगणना के पंजाब के भाषा सम्बन्धी आँकड़े एक लम्बे समय से चल रहे भाषायी संघर्ष के कारण पूर्णतः **दूषित** थे। मूल रूप में यह पंजाबी और हिन्दी के बीच संघर्ष था, परन्तु इसका सीधा प्रभाव पहाड़ी भाषा पर पड़ा। दोनों भाषाओं के अनुयायी 1961 की जनगणना पर अपना विस्तार क्षेत्र दिखाने के उद्देश्य से अधिक से अधिक आँकड़े प्राप्त करने में प्रयत्नशील थे और इस प्रकार भाषा से *सम्बन्धित जो चित्र प्रस्तुत हुआ 'वह न केवल भ्रामक था, बल्कि असत्य था और पंजाब* की राजनीति के कारण अपने हित में इसे ऐसा रूप दिया गया था।[2] परन्तु, जैसी भी स्थिति रही हो, कमीशन ने अन्ततः यह सिफारिश की, कि—

(i) शिमला, कुल्लू, काँगड़ा, लाहुल-स्पिति ज़िले;

(ii) गगरेट, अम्ब और ऊना विकास खण्ड (खेराबाग, समीपुर, भभौर और कलेश गाँवों तथा तहसील ऊना से कोसरी गाँव को छोड़कर);

(*iii*) तहसील नालागढ़ (ज़िला अम्बाला)

(iv) चम्बा ज़िला के डलहौज़ी, बलून तथा बकलोह क्षेत्र...

हिमाचल प्रदेश के साथ मिलाए जाएं।[3] कमीशन की सिफारिश के अनुसार

"The Punjabi Region specified in the First Schedule to the Punjab Regional Committee Order, 1957, should form a unilingual Punjabi State, the hill areas of the Punjab included in the Hindi Region of the Punjab which are contiguous to Himachal Pradesh and have linguistic and cultural affinity with that territory should be merged with Himachal Pradesh. The remaining areas of the Hindi speaking region of the Punjab should be formed as a separate unit called the Haryana State."

1. Ibid, page 9—
   (i) adjustment of the existing boundary of the Hindi and Punjabi Regions of the present state to secure linguistic homogeneity.
   (ii) to indicate boundaries of the hill areas of the present state which are contiguous to Himachal Pradesh and have cultural and linguistic affinities.

2. डा० वाई० एस० परमार : हिमाचल प्रदेश, क्षेत्र तथा भाषा पृ० 7.

3. पंजाब सीमा कमीशन, पृ० 48.

जो क्षेत्र हिमाचल प्रदेश में मिला दिए गए और उनके स्थानान्तरण के परिणाम-स्वरूप हिमाचल प्रदेश का जो पूर्ण राज्य बना वह लगभग ठीक वही क्षेत्र है जो 1891 की जनगणना में पहाड़ी भाषी क्षेत्र दिखाया गया है।[1] उस समय भी सिरमौर से **लगते** क्षेत्र से लेकर चम्बा के साथ **लगते** इलाकों तक पहाड़ी भाषा स्थापित हुई थी और तब भी नालागढ़, हमीरपुर, देहरा, नूरपूर, चम्बा से लगते सीमावर्ती क्षेत्र पहाड़ी भाषी थे।

काँगड़ी-कहलूरी पंजाबी की बोलियाँ हैं अथवा पहाड़ी की

ऊपर काँगड़ी बोली के बारे में लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया की वास्तविक स्थिति वर्णित की गई है, क्योंकि इसी को आधार मान कर काँगड़ी के स्वरूप के बारे में भ्रान्तियां उत्पन्न होती रही हैं। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि डॉ० ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के लिए उपयुक्त मूल भाषा बोलने वालों की **असल भाषा का आदर्श** रूप प्रस्तुत नहीं हुआ है, और जो काँगड़ा से बाहर के अनुवादक ने काँगड़ी का प्रारूप दिया उसके आधार पर डॉ० ग्रियर्सन ने ज़िला के मुख्यालय की बोली को डोगरी की उप-बोली कहा, और डोगरी को वे पहले ही पंजाबी की बोली मान चुके थे। अतः यहाँ यह ज़रूरी है कि पहाड़ी की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया जाए तथा उनका पड़ौसी भाषाओं के साथ-साथ काँगड़ी बोली से सम्बन्ध का संकेत किया जाए।

पहाड़ी की विशेषताएं

उच्चारण—इस संदर्भ में पहाड़ी की प्रमुख स्वर-ध्वनियों में से पहली उल्लेखनीय ध्वनि 'एँ' की है। इसका स्पष्ट स्वरूप एकारान्त शब्दों में दृष्टव्य है। जैसे—नेड़ेँ, झेड़ेँ, गभेँ, कट्ठेँ, परमात्मेँ, लेँ (ले), यहाँ यों लगता है जैसे 'ए' की ध्वनि गिर रही हो, अर्थात् यह दीर्घ 'ए' की अपेक्षा अधिक विवृत है और कुछ शिथिल भी है। शब्द के बीच में भी इसके पर्याप्त उदाहरण हैं, जैसे—भेँण(बहिन), छेँल-छेँल(सुन्दर),सेँहर (शहर), बेँहकणा, रेँहंदा, बेँहणा, केँ (क्यों), नेँणा (नयन)। अब, एँ पहाड़ी भाषा की मूल ध्वनियों में से एक है। डॉ० ग्रियर्सन ने पहाड़ी भाषा की हर बोली का वर्णन करते हुए लिखा है कि इन बोलियों में लघु 'ए' की ध्वनि है जो 'met' में 'e' की ध्वनि के समान है। पहाड़ी के सिवाय पड़ौस की किसी भाषा में स्वतन्त्र 'एँ' की ध्वनि नहीं है, भले ही 'ए' के बिकार के रूप में यह उच्चारण प्रचलित हो। पहाड़ी में इस ध्वनि का इतना प्रभुत्व है कि इसे हर लेखक देवनागरी में लिखते हुए कई तरह से लिखते हैं, जैसे कांगड़ी में ही 'सेँ' (वह) को सै, सः, सैह्, सह, स्है, सह्, से, सेह्; ऐँ (है) को ए, ऐ, एह्; कनेँ (साथ) को कने या कनै, आदि रूप से लिखते हैं। पहाड़ी भाषा की सभी

---

1. Census of India, 1891, Volume XIX p. 201 (as reproduced by Dr. Y. S. Parmar in his book 'Himachal Pradesh : Area and Language, Annexture C.

बोलियों में कर्ता का विकारी रूप जो मूलतः तृतीया का विभक्ति चिह्न है, भी यही ध्वनि है, जैसे—ब्रावें, मुण्डुएँ, कुडीएँ आदि।

पहाड़ी का एक और विशिष्ट स्वर '**ओ**ॅ' है, जिसके बारे में डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा है कि पहाड़ी बोलियों में 'अ' को 'ओॅ' में बदलने की प्रवृत्ति है। उन्हें यह स्वर मण्डियाली में नहीं मिला था, और इसलिए कांगड़ी में भी न मिला। सम्भवतः वे इसे प्रवृत्ति रूप में ही देखना चाहते थे। परन्तु वास्तव में यह पहाड़ी में केवल प्रवृत्ति ही नहीं स्वतन्त्र स्वर भी है, जो कांगड़ी, चम्बयाली, मण्डियाली सब में विद्यमान है, जैसे कांगड़ी में ही होॅलेॅ-होॅलेॅ, नमोॅड़ी, कोॅला, तोॅला-तोॅला आदि।

यदि कांगड़ी में प्रवृत्ति रूप में ही देखना हो, तब भी देखा जा सकता है—ओॅणा < आना, पोॅणा < पड़ना, कोॅड़ा < कड़वा, बोॅहणा < बहणा < बैठना, परोॅणा < पर + आगतः, नहाॅणा < नहाना, होॅआ < हवा, आदि।

यह हिन्दी के अर्धविवृत दीर्घ स्वर 'औ' से कुछ अधिक विवृत है। जिह्वा का भी उतना पिछला भाग नहीं उठता जितना 'औ' के लिए उठता है, बल्कि कुछ आगे केन्द्र की ओर आकर्षित रहता है। इसका मुख्य उदाहरण महासुई में मिलता है, जहाँ शब्द का अन्तिम 'आ' स्वर 'ओॅ' में बदलता है, जैसे घोड़ोॅ, खाणोॅ, शोटनोॅ आदि।

कांगड़ी बोली में शब्दों के अन्त में 'उँ' की ध्वनि उल्लेखनीय है, जैसे जाह्लुॅ ताह्लुॅ, काह्लुॅ, माण्हुॅ, दानुॅ, पेउँ, सेउँ, छेलुॅ आदि। अन्य पहाड़ी बोलियों में 'उँ' का यह रूप आदि और मध्य में भी आता है, परन्तु शब्दों के अन्त में इसका भेद स्पष्ट व्यक्त होता है जैसे लड़खड़ा या फुसफुसा रहा हो। यह न उ है न ऊ, बल्कि कुछ दोनों के बीच की सी स्थिति लगती है। यही कारण है कि आजकल लेखक ऐसे 'उँ' को कभी 'उ' में और कभी 'ऊ' में लिखते हैं। ऐसा 'उँ' न पंजाबी में देखने को मिलता है न हिन्दी में। इसमें होंठ का गोलाकार अंशतः शिथिल रहता है। पूर्ण संवृत न होकर अर्धसंवृत के निकट है। यह पहाड़ी बोलियों का सामान्य गुण है, इसीलिए सम्भवतः डॉ० ग्रियर्सन के इस कथन में सार्थकता लगती है कि पहाड़ी-भाषियों में 'उ' और 'ऊ' के बीच भेद नहीं है। वस्तुतः भेद होते हुए भी वर्तमान देवनागरी में इसे लिखित रूप देना कठिन है।

जहाँ तक **व्यंजनों** का सम्बन्ध है, काँगड़ी बोली की समस्त व्यंजन ध्वनियाँ हिन्दी और पंजाबी या डोगरी की अपेक्षा नितान्त पहाड़ी ध्वनियों के समरूप हैं। तालव्य च-वर्गीय ध्वनियों के साथ-साथ वर्त्स्य **च-वर्गीय** ध्वनियों का प्रभाव निस्सन्देह ज्यों-ज्यों पहाड़ी क्षेत्र के भीतरी भाग से बाहर की ओर चलते हैं, कम होता जाता है, फिर भी तालव्य चवर्ग ध्वनियों के साथ वर्त्स्य चवर्गीय ध्वनियाँ समस्त क्षेत्र में प्रचलित हैं। जहाँ ये सिरमौरी, महासुई और कुलुई में स्वतन्त्र ध्वनियां हैं काँगड़ी के मूल क्षेत्र में केवल संध्वनियाँ रह गई हैं, परन्तु उनका अस्तित्त्व केवल अन्तिम सीमावर्त्ती क्षेत्रों में ही समाप्त हुआ है।

इसी तरह काँगड़ी के समस्त क्षेत्र में **तालव्य** ल और मूर्धन्य ल़ बिलकुल

अलग-अलग स्वतन्त्र ध्वनियों के रूप में विद्यमान हैं। हिन्दी, पंजाबी और डोगरी[1] में ल़ केवल ल के उच्चारण-विकार के रूप में है, परन्तु काँगड़ी और कहलूरी में अन्य पहाड़ी बोलियों की तरह ये अलग-अलग ध्वनियाँ हैं, विकार का कारण नहीं—**गल़** (गला) परन्तु गल (गल-बात), काली (काली-माता) परन्तु काल़ी (काले रंग की) आदि।

पहाड़ी भाषा में '**न**' का उच्चारण हिन्दी या पंजाबी से बिल्कुल भिन्न है।[2] एक लेखक संगोष्ठी में कांगड़ी के 'बुन्ह' (नीचे) शब्द को बुन, बु:न, बुह्‌न, बूण, बु:ण, बुण्ह, बुन्ह आदि कई रूपों से लिखने पर भी लेखकों और श्रोताओं को संतोष न हुआ। कारण स्पष्ट था। हिन्दी में देवनागरी का 'न' दन्त्य वर्ग के परिवार में होते हुए भी दन्त्य नहीं है। 'तथा' उच्चरित करते हुए जिस स्थान से जिह्वा का अग्रभाग 'त' और 'थ' के लिए दाँतों से स्पर्श करता है, उसी स्थान से 'तना' कहते हुए 'न' के लिए जिह्वा नहीं टकराती। 'त' का उच्चारण करके जिह्वा का अग्र भाग ऊपर मूर्धा से कुछ नीचे टकराता है। परन्तु पहाड़ी में 'न' का उच्चारण स्थान बिलकुल दन्त्य हैं अर्थात् वही स्थान है जो त, थ, द, ध का है। संभवत: वैदिक काल में तवर्ग का ठीक यही स्थान था जो आजकल पहाड़ी भाषा के तवर्ग का है और इस में कहलूरी और काँगड़ी बोली भी शतश: शामिल है।

पहाड़ी भाषा की ध्वनि की एक और विशेषता, जिसका काँगड़ी में विशिष्ट स्थान है, **अनुनासिक, अन्तस्थ तथा ऊष्म व्यंजनों के महाप्राणत्व** के महत्त्व की है। यों तो 'ह' पहाड़ी बोलियों में कई रूपों में उपस्थित है परन्तु ण्, न्, म्, य्, र्, ल्, ल़् तथा स् के साथ 'ह' का संयोग पहाड़ी भाषा की ध्वनियों को अन्य भाषाओं से बिलकुल भिन्न करता है। समस्त पहाड़ी भाषा क्षेत्र में इन ध्वनियों का समान रूप से प्रचलन है—माण्हु < मानव, कुण्ही < कोना, न्हीठा < निकृष्ठ (नीचे), तिन्हावे (उनको), बुन्ह (नीचे), म्हारा म्हाचल, म्हूरत < मुहूरत, बर्‌हं < वर्ष, र्‌हान < हैरान, पर्‌हां (पार दूर), सर्‌हाणा < सिरहाना, कुल्ह < कुल्या (छोटी नहर), टल्हा (कपड़ा), आल्हणा (घोंसला) परवाल्हे < ऊपरले, स्हान < एहसान, स्हाब < हिसाब।

गैर पहाड़ी-भाषियों को हैरानी न होगी, यदि उन्हें 'य्' के साथ भी महाप्राणत्व रूप देखने और सुनने में मिलेगा, परन्तु पहाड़ी में 'ह्' का यह विशेष गुण है, जिसे काँगड़ी में भी देखा जा सकता है—सिय्हाणा < सह + ज्ञान, निय्हाणा < नहलाना, रिय्हाणा < दिखाना, दोय्हों < दोनों आदि। इनमें से 'ण्ह' को छोड़कर शेष सभी महा-प्राणरूप शब्दों के आदि, मध्य और अन्त में आते हैं। ऐसे रूप प्राय: दो स्वरों के बीच ही होते हैं, तथा जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है, प्राय: ऐसे रूप पूर्व वर्ण के ह्रास के कारण उसकी पूर्ति के अनुरूप आगामी वर्ण में महाप्राणत्त्व आ जाता है, अकेला < केल्हा > कल्हा, अन्धेरा > न्हेरा, हमारा > म्हारा। इसी तरह अन्तिम और मध्यवर्ण के लोप के कारण भी ऐसा परिवर्तन आता है—कुल्या > कुल्ह, टीला > टोल्ह, कुलाय >

1. All India Dogri Writers Conference Souvenir (held on Nov. 29, Dec. 1, 1970) p. not given, in the article 'डोगरी भाषा परिवार'।
2. उपर्युक्त सभी व्यंजन ध्वनियों के विस्तार के लिए देखें आगे 'कुलुई' भाग में व्यंजन-ध्वनियाँ।

कोल्ह आदि। इस प्रकार वर्णलोप के कारण हकार अथवा महाप्राणत्त्व का आगमन पहाड़ी भाषा की मुख्य विशेषता है। स्पष्ट है कि हिन्दी, पंजाबी आदि भारतीय-आर्य भाषाओं के मूल महाप्राण स्पर्श व्यंजनों ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ के अतिरिक्त पहाड़ी भाषा में ण्ह, न्ह, म्ह, य्ह, र्ह, ल्ह, ल़्ह, स्ह अन्य महाप्राण अक्षर भी हैं।

महाप्राणत्व से सम्बन्धित बहुत सी विशेषताएं पहाड़ी भाषा में उल्लेखनीय हैं। जैसा कि पहाड़ी भाषा के उद्‌भव के सम्बन्ध में पहाड़ी तथा दरद-पैशाची की तुलना करते समय स्पष्ट कर दिया गया है पहाड़ी भाषा के महाप्राण व्यंजनों में **महाप्राणत्व का गुरुत्व** पड़ौस की भाषाओं से बहुत अधिक है। **अघोष महाप्राण** व्यंजनों (ख, छ, ठ, थ, फ) की ध्वनि सर्वदा ठीक वैसी नहीं है जैसी हिन्दी, पंजाबी अथवा डोगरी या कश्मीरी में है। बल्कि यदि किसी शब्द में इन अक्षरों के साथ स्वर बलशाली हो तो इन में एक और 'ह्' का समावेश होता है। इन सब में, इस तरह, और अधिक महाप्राणत्व की प्रवृत्ति रहती है। स्वराघात के कारण 'ख' का उच्चारण 'ख्ह' हो जाता है। और यह प्रवृत्ति आम बोल-चाल तक सीमित नहीं है, लिखित रूप में भी लेखकों की रचना से इस बात की पुष्टि मिलती है। उदाहरणार्थ 'खेल' को 'खेह्ल'[1] (असल में खेह्‌ल), खड़ना को खह्‌ड़णा (खड़ा होना) 'छिंज' को 'छिंह्ज', 'खादा' (खाया) को 'खाह्दा', 'फिरी' (फिर) को 'फ्हिरी'[2] 'ठाका' को 'ठहाका', 'थाना' के लिए 'ठहाणा', 'थाली' के लिए 'थहाली' आदि। ये सभी कांगड़ी और कहलूरी के उदाहरण हैं जो पहाड़ी की सभी बोलियों में इसी बल से प्रयुक्त हैं, बल्कि प्रवृत्ति इससे भी प्रबल है, जैसे हिन्दी 'फिर' कां॰ फिह्री कुलुई में आगे चलकर 'भिरी' बन जाता है। अघोष महाप्राण व्यंजनों का यह दोहरा महाप्राणत्व पहाड़ी भाषा की एक स्वतन्त्र और अलग विशेषता है। भले ही इस तरह के दोहरे महाप्राणत्व को लिखित रूप न दिया जाए, परन्तु उच्चारण में यह सदा वर्तमान रहता है।

अब **सघोष महाप्राण** (घ, झ, ढ, ध, भ) की बात लीजिए। पंजाबी और डोगरी[3] में इन सब सघोष महाप्राण व्यंजनों की ध्वनि अपने वर्ग के अघोष अल्पप्राण (क, च, ट, त, प) की ओर झुकती है। वहाँ 'घर' प्रायः 'क्हर' होता है। इसी तरह झंडा > च्हंडा, ढोणा > ट्होणा, धागा > त्हागा आदि। पहाड़ी भाषा की अधिकतर बोलियों में सघोष महाप्राण व्यंजनों की क्षमता पूर्ण रूप में प्रचलित है। वहां इनके महाप्राणत्व में कोई अन्तर नहीं। काँगड़ी, कहलूरी, सिरमौरी सीमावर्त्ती बोलियों में इन ध्वनियों में कुछ शिथिलता आती है, परन्तु यह परिवर्तन पंजाबी-डोगरी के अनुकूल नहीं है। जहां पंजाबी डोगरी में सघोष महाप्राण व्यंजन अघोष अल्पप्राण की ओर झुकते हैं (जैसे घोड़ा से क्होड़ा, ढोल से ट्होल) वहाँ पहाड़ी की इन बोलियों में, इसके विपरीत, सघोष महाप्राण

---

1. दे॰ काव्यधारा (भाग 2), पृ॰ 56.
2. दे॰ हिम-भारती, जून, 1973 अंक पृ॰ 79.
3. All India Dogri Writers Conference, New Delhi (held on Nov. 29 to Dec. 1, 1970 p. not given, Article डोगरी भाषा परिवार, तथा श्री बन्सीलाल गुप्ता : डोगरी भाषा और व्याकरण, पृ॰ 40.

व्यंजन सघोष अल्पप्राण की ओर प्रवृत्त होते हैं, जैसे 'घर' शब्द 'क्हर' न होकर 'ग्हर' होता है 'झगड़ा' शब्द 'च्हगड़ा' न होकर 'जह्गड़ा', 'धोती' शब्द 'त्होती' न होकर 'द्होती',[1] 'भगत' शब्द 'प्हगत' न होकर 'ब्हगत' आदि। यहां यह दृष्टव्य है कि पहाड़ी में पंजाबी-डोगरी की तरह घोषत्व को क्षति नहीं पहुँचती बल्कि प्राणत्व में परिवर्तन होता है। पंजाबी-डोगरी के क्ह, च्ह आदि की बजाय पहाड़ी में ग्ह, ज्ह आदि का परिवर्तन डॉ० ग्रियर्सन ने भी व्यक्त किया है।[2]

महाप्राणत्व से सम्बन्धित पहाड़ी भाषा की विशेषता यहीं समाप्त नहीं होती। इसका एक और गुण भी है। ऊपर कहा गया है कि पूर्व, अन्त या मध्य के वर्णलोप के कारण अनुनासिक, अन्तस्थ तथा ऊष्म व्यंजन भी महाप्राणत्व-युक्त हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति और जोर पकड़ने पर जब दो स्वरों के बीच मूल महाप्राण स्पर्श व्यंजन आ जाए तो वे कई बार **हकार** अथवा अन्य महाप्राण व्यंजन द्वारा प्रतिस्थापित हो जाते हैं—

मधुकर > मधुक > माहुँ
मुखाकार > मुखार > नुहार
बन्धन > बांधना > बन्हणा
नख > नख > नैंह
सौगन्ध > सौंह
नि + भाल > निभाल > निहाल(ना)
अन्धेर > न्हेर

इस प्रकार कई तरह से हकार या महाप्राणत्व के प्रति इस कदर तीव्र प्रवृति तथा मोह के कारण पहाड़ी भाषी व्यक्ति अपने उच्चारण से तुरन्त पहचाना जाता है।

ध्वनि विस्थापन की यह क्रमिक प्रक्रिया पहाड़ी भाषा में बड़ी मनोरंजक है। पहले लिखा जा चुका है कि एक ओर से स्वर के लोप के कारण अल्पप्राण व्यंजनों (ण्, न्, म्, य्, र्, ल्, ल़्) के बाद श्वास का झोंका आने से उनमें महाप्राणत्व (ण्ह, न्ह, म्ह, य्ह, र्ह, ल्ह, ल़्ह) आ जाता है। परन्तु इनमें एक दूसरा परिवर्तन भी आता है। यदि इनके बाद की बजाय इनसे पूर्व ऐसा श्वास का झोंका आ जाए तो उनकी ध्वनि **स्वरयंत्र मुखी** (glottalized) हो जाती है। स्वरयंत्रमुखी के मुख्य उच्चारण ण्, न्, ल्, ल़् से पूर्व मिलते हैं, यद्यपि इसके उदाहरण उपर्युक्त अन्य व्यंजनों से पहले भी मिलते हैं। कुलुई और महासुई बोलियों में यह प्रवृत्ति बड़ी व्यापक है, परन्तु काँगड़ी और दूसरी बोलियों में भी यह विशेषता उल्लेखनीय है। स्वरयंत्रमुखी ध्वनि एक प्रबल स्वर और ण्, न्, ल् और ल़् के बीच में स्पष्ट रूप से श्रव्य है, जब इन्हीं वर्णों के महाप्राणत्व रूप और स्वरयंत्रमुखी ध्वनियों में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है; यह ध्वनि संस्कृत की विसर्ग ध्वनि से बहुत मिलती है—

सर्हाणा (सिरहाना)	सरा:णा (सराहना)
आण (ले आ)	आ:ण (बिच्छू बूटी; ओले)

1. शिक्षा विभाग, हिमाचल प्रदेश, राज्य भाषा संस्थान द्वारा प्रकाशित शोधपत्रावली पृ० 59, 60.
2. Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part IV, p. 377.

बाणा (चाल)	बा:णा (जोतना)
काल (अकाल)	का:ल (जल्दी; करनाल)
शाणा (जंदा, ताला)	शा:णा (टहना)
सोन्ह (सांझ)	सो:न (संकेत)

उच्चारण के क्रम में श्वास की गति में ऐसा अवरोध क्षणिक होता है। हिमभारती त्रैमासिक पत्रिका के जून, 1971 से सितम्बर, 1972 तक के अंकों में क्रमिक रूप से प्रकाशित काँगड़ी-कहलूरी बोली के "गूगा काव्य" में इस उच्चारण के अनेक दृष्टान्त प्राप्य हैं, जिन्हें हलन्त् 'ह्' से या विसर्गों से लिखा गया है, जैसे—गु:नणे > गूँधने, दु:इयाँ > दोनों, बै.णी > बहिन, बा:मण > ब्राह्मण, काह्.णी > कहना आदि। वहाँ उपर्युक्त वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णों से पहले भी स्वरयंत्रमुखी उच्चारण के उदाहरण मिलते हैं। इनमें से प्रायः बहुत से शब्दों में जहाँ 'ह्' के लोप के कारण ऐसी ध्वनि व्यक्त होती है, वहाँ 'ह्' स्वरयंत्रमुखी स्पर्श (glottal stop) का रूप धारण करता है, जैसे—डु:गी (गहरी), प्रो:त > परोहित, प:नाए > पहनाए, से:र > शहर, चा:इंदी > चाहइदी > चाहती आदि। यद्यपि यहाँ 'ह्' का स्पष्ट लोप है, परन्तु इसे किसी तरह का महाप्राणत्व रूप नहीं कहा जा सकता। वास्तव में सम्बन्धित वर्ण से पहले ध्वनि-तारत्व में क्षणिक परिवर्तन आ जाता है, और यह परिवर्तन इतनी तेज़ी से होता है कि महाप्राणत्व ध्वनि सुनाई नहीं देती बल्कि एक अवरोध-सा होता है जो महाप्राण की तरह लगता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति बड़ी मनोरंजक है, जैसे—

जिस + पल > जह्.पल > जा:लु (जब)
तिस + पल > तह्.पल > ता:लु (तब)
किस + पल > कह्.पल > का:लु (कब)

इसके उच्चारण की मुख्य विशेषता यह देखने में आती है कि इसमें 'ह' जैसा महाप्राणत्व तो नहीं होता, परन्तु संघर्षत्व अधिक रहता है और वायु झटके से बाहर निकलती है।

वर्ण लोप का एक और मनोरंजक नियम पहाड़ी भाषा की सभी बोलियों में प्रचलित है। मूल रूप से यह **श्रुति** का विषय है। हिन्दी आदि कुछ भारतीय आर्य भाषाओं में प्रायः य् तथा व् ही श्रुतिपरक हैं। परन्तु पहाड़ी में 'य्' और 'व्' के अतिरिक्त कुछ अन्य वर्ण भी हैं जो विशेष रूप से श्रुतिपरक हैं। इस सम्बन्ध में आगे कुलुई का उल्लेख करते हुए विस्तार के साथ वर्णन किया जाएगा, और इस प्रवृत्ति के नियम को स्पष्ट कर दिया जाएगा। परन्तु यहाँ विशेषता के रूप में उल्लेख करना जरूरी है। मूलतः इस श्रेणी में र्, ड़्, ल्, ल़्, वर्ण आते हैं, जो विभिन्न स्थितियों में लुप्त हो जाते हैं। कई स्थानों पर इनकी ध्वनियाँ इस कदर लुप्त हो जाती हैं कि सामान्यतः बिलकुल सुनाई नहीं देतीं या ये ऊष्म अथवा स्वरों में बदलते दिखाई देते हैं। इस सम्बन्ध में शिमला (महासुई) के एक लोक गीत को प्रस्तुत करना ठीक रहेगा। यह गीत आकाशवाणी से भी प्रसारित होता रहा है :—

हाय बोलो खूनिया परसरामा,

कुणी बोलो रंगा तेरा शाऊ,
एकी बोलो भाईए कन्या झांगी,
दूजे बोलो भाईए गाऊ,
एकी बोलो भाभी री मुरकी बीकी,
दूजी बोलो भाभी रा बाऊ,
एकी बोलो खेचे रे मटर बीके
दूजे बोलो खेचे रे श्राऊ ॥

इस लोक गीत में शब्द शाऊ, बाऊ और आऊ देखने योग्य हैं। मूल रूप में यह शब्द क्रमशः शालू (शाल), बालू और आलू हैं जो पहाड़ी में शाल़ू, बाल़ू और आल़ उच्चारण देते हैं, और 'ल़' सबसे अधिक श्रुतिपरक है, अतः ये रूप बने। परन्तु इन से पूर्व 'बोलो' में 'ल' मूल रूप में हैं क्योंकि यहाँ 'ल' दन्त्य है, मूर्धन्य नहीं। पहले लिखा जा चुका है कि पहाड़ी में 'ल' और 'ल़' अलग-अलग स्वतंत्र ध्वनियाँ है। 'ल' भी लुप्त होता है, परन्तु किसी दूसरी स्थिति में। इसके और कुछ अन्य वर्णों के लोप के बारे में आगे कुलुई में स्पष्ट किया गया है।

समस्त पहाड़ी के शब्द और व्याकरण रचना में श्रुति के योगदान का विशेष महत्त्व है। हिन्दी भाषा का प्रेरणार्थक क्रिया का प्रत्यय 'ला' पहाड़ी में केवल श्रुति के कारण लुप्त हुआ है—'सुलाना' प्रेरणार्थक क्रिया का पहाड़ी रूप (काँगड़ी और कहलूरी बोली सहित) 'सुआणा' है। 'ल' श्रुति के कारण 'अ' में बदल गया है। इसी तरह धुलाना>धुआणा, पिलाना>पिआणा, खिलाना>खुआणा या खियाणा आदि। श्रुति का यह नियम काँगड़ी और कहलूरी में भी समान रूप से विद्यमान है, अन्तर केवल इतना है कि वहाँ ल, ल़ की बजाय र्, स् के लोप अधिक व्यापक मिलते हैं, जैसे—तिःजो>तिसजो (उसे), मोया>मरा, तकाल>त्रिकाल, चौंह पासे>चारों पासे आदि। कालेज और स्कूलों की पत्रिकाओं में 'पहाड़ी अनुभाग' के छात्र-लेखकों की रचनाओं में इस तरह के कई उदाहरण देखे जा सकते हैं।[1] सम्बन्धित वर्ण मूल शब्द में अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार लुप्त होते हैं। परन्तु मुख्यतः ऐसी स्थिति में इनका लोप सामान्य है जब एक ही उच्चारण स्थान के दो वर्ण साथ-साथ आ रहे हों। ऐसी स्थिति में जिह्वा प्रथम वर्ण को उच्चरित करने के लिए अपना उच्चारण स्थान छूने के लिए उठती है, परन्तु उस तक पहुँचने से पहले ही अगला वर्ण ध्वनित करती है—पड़ना>पौड़ना>पौणा, खोड़ना (निकालना) खोःना, खिलाना>खुलाना में 'ल' और 'न' दोनों दन्त्य होने पर प्रथम 'ल' श्रुत हो जाता है खुआणा आदि।

पहाड़ी भाषा के ध्वन्यात्मक आपरिवर्तन की एक और मुख्य विशेषता है जो मूल रूप में श्रुति से मिलती है, परन्तु हम उसे ऊष्मीकरण कहेंगे। इसमें वर्णों का परिवर्तन प्रदेश के भीतरी भाग से बाहरी भाग की ओर बड़े क्रमिक और नियमित रूप से प्रचलित है। भीतरी से अभिप्रायः हिमालय का भीतरी भाग है, जहाँ से आगे पहाड़ी

1. दे॰ राजकीय महाविद्यालय शिमला की पत्रिका हिम-रश्मि, 1973-74, पृ॰ 47, 48, 56. कुल्लू राजकीय कालेज पत्रिका 'देवधरा', 1972-73, पृ॰ 52-53.

भाषी क्षेत्र या बीहड़ जंगलों से सम्बन्धित है या तिब्बती-बर्मी भाषायी क्षेत्र से जुड़ा है। और, बाहरी से अभिप्राय: मैदानों की ओर पंजाबी, हिन्दी या डोगरी भाषाओं के सीमावर्ती क्षेत्र से है। कुछ व्यंजन ऐसे हैं जो क्रमिक रूप से ऊष्म वर्णों की ओर झुकते हैं। इनमें प्रमुख हिन्दी 'ठ' है जो स्थान के साथ-साथ क्रमश: 'श', 'स' और 'ह' में बदल जाता है। उदाहरणार्थ हिन्दी शब्द 'बैठना' भीतरी क्षेत्र कुलुई-महासुई में 'बेशणा' बनता है, मण्डी-पालमपुर-कहलूरी के आस-पास 'बेसणा' और मैदानों के निकटवर्ती काँगड़ी में 'बैहणा'। प्रवृत्ति को यों देखा जा सकता है—

हिन्दी	**कुलुई, महासुई, सिरमौरी**	**मण्डियाली, बिलासपुरी, पालमपुरके निकट आदि कांगड़ी**	**सोमावर्त्ती काँगड़ी, चम्बयाली,**
बैंठना	बेशणा	बेसणा	बैहणा
पैंठना	पेशणा	पेसणा	पैणा (पई गया)
रूठना	रूशणा	रुसणा	रुहणा
गौ+गूथ	गोशट्ठ	गोसट्ठ	गोहट्ठ
नाखून (नख)	न्हौश	न्हौस	नैह
निकृष्ट	निशटा	निसटा	नीठा (न्हीठा)
सं० नश्	न्हौशणा	न्हसणा	नहणा नौहणा
ऐसा	इश्शा	—	इह्यां (इञा)
पौष	पोश	पोस	पोह
पीसना	पीशणा	पीसणा	पीहणा
पिसाना	पिशाणा	पिसाणा	पिहाणा
बरसना	बरशणा	बरसणा	बर:णा
परोसना	परोशणा	परोसणा	परीहणा

उपर्युक्त क्षेत्र-विभाजन, सम्भवत: कई स्थितियों में ठीक न होगा, और हो सकता है, कुछ शब्दों के बारे में भ्रान्ति भी पैदा कर दे, क्योंकि इस तरह का ध्वनि-परिवर्तन विभिन्न बोलियों में प्रचलित है, और बल्कि कई बार एक ही बोली में भी इस तरह का भेद है, और कई बार दो तरह की ध्वनियां समान रूप से प्रचलित है, जैसे कुलुई में ही 'न्हौशणा' और 'नौहणा' (जाना) दोनों बिलकुल समान रूप से प्रचलित हैं। इसी तरह 'बेशणा' और 'बहणा' (बैठना), 'गोशट्ठ' और 'गोहट्ठ' साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि स्पर्श व्यंजनों का ऊष्म व्यंजनों में बदलने की प्रवृत्ति पहाड़ी की मुख्य विशेषता है। और फिर ऊष्म वर्णों में भी क्रमश: परिवर्तन पहाड़ी का खास गुण है, और अन्तत: 'ह' भी 'अ' या जिह्वामूलीय संघर्षी की ओर झुक जाता है, उसका महाप्राणत्व समाप्त सा हो जाता है और प्राय: स्वर में बदल जाता है। जैसे, किसी उच्चारण भेद के कारण गोहट्ठ के लिए गो:ट्ठ, परीहणा के लिए परी:णा, पीशणा>पीसणा>पीहणा>पी:णा। पहाड़ी की यह प्रवृत्ति मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा की विशेषता है। उस समय भी श, ष को स तथा स को 'ह' में बदलने की

प्रवृत्ति थी, जैसे—एषा>एसो>एहो।

पहाड़ी भाषा के स्वरूप पर विचार करते हुए कुछ वर्णों के लोप की ओर विशेष ध्यान की अपेक्षा की जाती है क्योंकि ध्वनियों के इस विकार के कारण शब्दों के रूप में कई बार असाधारण परिवर्तन देखने में आ सकता है—सं० कीदृश्>सि० किश्शा>हिं० कैसा>मं० केढ़ा>कां० कदेहा या केहा, यादृश्>सि० जिश्शा>म० जेश्शा>हिं० जैसा>मं० जेढ़ा>कां०, जेहा या जेया, हिं० ससुर> कां०, मं०, बि० सौहरा>महा०, कु० शौउरा>सि० शोरा आदि।

महाप्राण व्यंजनों का इस प्रकार क्रमश: लोप प्राकृतों की देन है। प्राकृतों में ही इस तरह के परिवर्तन होने आरम्भ हुए थे, परन्तु पहाड़ी भाषा में यह प्रवृत्ति बहुत व्यापक है, जैसे—संस्कृत सौभाग्य>सुभाग>मं०, कां० सुहाग>सि०, कु० म०> सुआग, सं० गोधूम>प्रा० गोहूं>कां०, मं० गेहूं>कु०, सि०, म० गेऊं, सं० बधिर> कां० मं० बहरा>कु० बेउरा।

ध्वनि परिवर्तन के क्षेत्र में पहाड़ी की एक और विशेषता कठोर वर्णों को कोमल बनाने की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को पहाड़ी के अन्य लेखकों ने भी अनुभव किया है।[1] हो सकता है कहीं-कहीं एकाध उदाहरण ऐसे मिल जाएं जहां कोमल वर्ण कठोर हुए, परन्तु यह पहाड़ी की प्रवृत्ति नहीं है। मूल विशेषता उसके कोमल अक्षरों की ओर झुकाव की है, जैसे—बाप>बाब या बब, चम्पा (फूल)>चम्बा, दन्त>दन्द या दोंद, पांच>पंज, कांटा>कांडा, वक्त> वगत, जोता>जीदा, भक्त>भगत।

इस दृष्टि से भी पहाड़ी भाषा पंजाबी और डोगरी से प्रवृत्ति में भिन्न है। पंजाबी और डोगरी में पूर्वकथित घोष महाप्राणों (घ, झ, ढ, ध, भ) को अघोष अल्प-प्राण (क्ह, च्ह आदि) में परिवर्तन भी, वास्तव में, कोमल वर्णों को कठोर बनाने की प्रवृत्ति का ही कारण है। डोगरी में तो कई बार ऐसी स्थिति में 'ह' बिलकुल ही लुप्त हो जाता है, जैसे अध्ययन>तेअ्अन, ध्यान>तेआन, विचारधारा>विचारतारा आदि।[2] ऐसा परिवर्तन पहाड़ी में प्रचलित नहीं है। यह बात पहाड़ी का दरद-पैशाची से तुलना करते हुए भी पहले ही स्पष्ट कर दी गई है। और जैसा कि पहले लिखा जा चुका है यह विशेषता पहाड़ी को अपनी जननी शौरसेनी से मिली है।

डॉ० ग्रियर्सन ने पहाड़ी भाषा में 'त' को 'च' और 'द' को 'ज' में बदलने की प्रवृति का संकेत किया है, परन्तु उन्हें इसके लिए पर्याप्त उदाहरण नहीं मिले थे। पहाड़ी में उदाहरण तो क्या आम प्रवृत्ति इस प्रकार की प्रचलित है। यह गुण इसे शौरसेनी प्राकृत से मिला है, जिसके बारे में पहले ही वर्णन किया जा चुका है। यह प्रवृत्ति कांगड़ी, कहलूरी में भी समान रूप से प्रचलित है, जैसे—तृतीया से तीजा, द्वितीय से दूजा, संध्या से सांझ, द्युति से जोती, मुद्रा से मुजरा।

इसके अतिरिक्त पहाड़ी की ध्वनि सम्बन्धी कुछ अन्य प्रवृत्तियां भी हैं, परन्तु

1. शिक्षा विभाग, राज्य भाषा संस्थान, हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित "शोध पत्रावली" पृ० 60, लेखक श्री रामदयाल नीरज।
2. पूर्व-उल्लिखित "All India Dogri Writers Conference, Souvenir."

उनके बारे में यहां अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ये प्रायः सर्वविदित हैं। ऐसी प्रवृत्तियों में प्रथम 'य' का 'ज' में बदलना है, जैसे—यज्ञ>जग, यमराज> जमराज, यात्रा>जातरा, युद्ध>जुद्ध, या स्वराघात के कारण श्रुतिपरक हो जाता है—याद>आद, प्यार>पिआर, कियारी>किआरी। इसी तरह 'व' प्रायः 'ब' या श्रुति में बदलता है—वंश>बंश, वक्त>बगत, वर>बर या बौर, इतवार>तुआर, सोमवार>सुंआर, पतवार>पतुआर आदि। पंजाबी में 'व' सुरक्षित है, परन्तु पहाड़ी में प्रायः इसका लोप हो गया है। यह या 'ब' में बदलता है या श्रुति में। इसी तरह आदि स्वर का लोप[1] पहाड़ी की मुख्य प्रवृत्तियों में से है, जैसे—अकाल>काल, अंगार> गार (गारू), अदालत>दालत, अंगीठी>गीठी, इकट्ठा—कट्ठा, इनाम>नाम, एकादशी>कादसी, आदि। एवं, पूर्व वर्ण के लोप के कारण शब्द के रूप में परिवर्तन आता है, जैसे—उधार>धुआर, इशारा>श्यारा>सहारा, अमावस>उआंस, अजवाइन> ज्वाणे आदि।

संज्ञा

अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की तरह पहाड़ी भाषा में भी संज्ञा शब्द दो प्रातिपदिकों में पाए जाते हैं—(1) व्यंजनान्त प्रातिपदिक, और (2) स्वरान्त प्रातिपदिक। व्यंजनान्त प्रातिपदिक वे हैं जिनके अन्त में व्यंजन होता है। इनके बाद 'अ' भी रहता है जो सभी प्रत्ययों के पहले लुप्त हो जाता है। इस श्रेणी में संस्कृत के अकारान्त तत्सम संज्ञा शब्द तथा दुर्बल तद्भव संज्ञा शब्द आते हैं। स्वरान्त वे प्रातिपदिक हैं जिन के अन्त में स्वर रहता है। इनमें अधिकतर आ, ई, उ, ऊ, औ से अन्त होने वाले संज्ञा शब्द मिलते हैं। ये सभी प्रातिपदिक पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों प्रकार के हैं, उदाहरणार्थ—

पुल्लिग	*स्त्रीलिंग*
गार, नाक, धान,	रात, कात, परात, चीकड़,
लूण, नरक, पाथर,	संझ, धूड़, ईंट, ऊन,
धागा, गूठा, कतीरा,	कथा, कन्या,
धोबी, तेली,	मुनी, छोकरी, कुआली, चिड़ी,
माण्हु, धाटु, हिऊं, खिनु, घिऊ,	मकोड़ी, तराकड़ी
दाड़ू, आलू, थालू, उलू,	ससू (शाशू)

पहाड़ी में नपुंसक लिंग नहीं है। पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग का भेद प्रायः हिन्दी की तरह वैयाकरणिक है। इस दिशा में पहाड़ी भाषा हिन्दी और पंजाबी से अधिक भिन्न नहीं हैं। पुल्लिग से स्त्रीलिंग बनाने के प्रत्यय भी लग-भग समान हैं—बन्दर-बंदरी, कुक्कड़-कुक्कड़ी, घोड़ा-घोड़ी, बेटा-बेटी, तेली-तेलण, धोबी-धोबण (हिन्दी का 'इन' न होकर 'अण'), माली-मालण, बोटी-बोटण, नाना-नानी, दादा (या दादू)-दादी आदि।

1. दे० शिक्षा विभाग, राज्य भाषा संस्थान, हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित "शोध पत्रावली" (भाग 2), लेखक श्री मनसाराम शर्मा अरुण पृ० 45.

परन्तु जहाँ तक **वचन** का सम्बन्ध है, पहाड़ी भाषा पुनः हिन्दी और पंजाबी से भिन्नता लिए हुए है। कुछेक सीमावर्ती बोलियों को छोड़कर शेष सभी बोलियों में शब्दों के रूप, चाहे स्त्रीलिंग हों या पुल्लिग, एक वचन और बहुवचन दोनों में एक समान रहते हैं।

हिन्दी में आकारान्त पुल्लिग प्रातिपदिकों को छोड़कर शेष सब प्रकार के पुल्लिग शब्द विशुद्ध बहुवचन रूप नहीं बनाते, उदाहरणार्थ एक लड़का—दस लड़के, एक बेटा–दो बेटे; परन्तु एक घर—दस घर, एक आदमी—दस आदमी, एक साधु—चार साधु। यहाँ तक हिन्दी और पहाड़ी में कोई अन्तर नहीं। परन्तु हिन्दी में हर प्रकार के एकवचन स्त्रीलिंग प्रातिपदिक का विशुद्ध बहुवचन में भिन्न रूप होता है, जैसे—एक रात—दस रातें, एक लड़की—दस लड़कियाँ, एक माला—पांच मालाएं आदि। परन्तु पहाड़ी की सीमावर्ती को छोड़कर शेष बोलियों में अकारान्त स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों को छोड़कर शेष सभी तरह के स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द एकवचन और बहुवचन में समान रहते हैं, जैसे—एक कताब—दस कताबा, एक भेड़—नौ भेड़ा; परन्तु एक छोहठी—चार छोहटी, एक शाशू—चार शाशू, एक बेटी—दूई बेटी आदि।

वचन के सम्बन्ध में ही पहाड़ी भाषा की हिन्दी और पंजाबी से भिन्न एक और विशेषता है। यहाँ भी सीमावर्ती बोलियों को छोड़कर शेष बोलियों में संज्ञा शब्दों के विकारी रूप एकवचन और बहुवचन में एक समान रहते हैं। हिन्दी में 'घोड़ा' शब्द का एकवचन में विकारी रूप 'घोड़े' बनता है, और बहुवचन में 'घोड़ों', जसे घोड़े को, परन्तु घोड़ों को। परन्तु पहाड़ी में 'घोड़ा' का विकारी रूप एकवचन में 'घोड़ें' है और बहुवचन में भी ठीक यही रूप 'घोड़ें' ही रहता है—यहां 'घोड़ें-खें' या 'घोड़ें-ले का अर्थ है 'घोडे को' और 'घोड़ों को' भी। इसी तरह हिन्दी में एकवचन में 'हाथी पर' और बहुवचन में 'हाथियों पर'। परन्तु पहाड़ी में दोनों तरह से एक ही रूप प्रचलित है। पहाड़ी में 'हाथी पाँधे' का अर्थ 'हाथी पर' भी है और 'हाथियों पर' भी। शाशुए का अर्थ 'सास ने' या 'सासों ने' दोनों हो सकता है। भीतरी पहाड़ी की बोलियों में वचन सम्बन्धी यह पृथक् विशिष्टता है।

पहाड़ी भाषा की अकारान्त पुल्लिग शब्दों की यह विशेषता देखने योग्य है कि जहाँ पंजाबी और हिन्दी में ये केवल बहुवचन में ही विकारी रूप धारण करते हैं वहाँ पहाड़ी में ये एकवचन में भी विकार ग्रहण करते हैं, जैसे हिन्दी और पंजाबी में 'हाथ' एक-वचन में प्रत्यय जुड़ने पर हाथ ही रहता है, केवल बहुवचन में प्रत्यय से पहले रूप बदलता है—एक हाथ, दस हाथ, एक घर, बीस घर, परन्तु प्रत्यय जुड़ने पर एक हाथ पर, दस हाथों पर, एक घर में, दस घरों में। परन्तु पहाड़ी में व्यंजनान्त पुल्लिग शब्द एकवचन में भी प्रत्यय से पहले विकृत हो जाता है—घौरा पाँधे <घर पर, हौथा दे <हाथ में, देशो रे बीर <देश के वीर, आदि।

कारक

पहाड़ी भाषा की सभी बोलियों के कारक रूपों में मूलभूत समानताएं हैं। कर्त्ता

कारक में अन्य आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं की तरह विभक्ति रहित और सविभक्ति दोनों रूप प्रचलित हैं, और इस दृष्टि से पहाड़ी अन्य पड़ोसी भाषाओं से भिन्न नहीं। परन्तु कर्त्ताकारक के सविभक्ति रूप से ही इसके भिन्न स्वरूप के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। कर्ता की विभक्ति 'एँ' है और यह जौनसारी, सिरमौरी, महासुई, कुलुई, मण्डियाली, काँगड़ी, चम्बयाली और हण्डूरी सब बोलियों में समान रूप से प्रचलित है—बेटेँ रोटी खाई, बेटेँ गलाया, बेटेँ बोलेया, घोड़ेँ घाह खाओ, घोड़ेँ घाह खादेया आदि। यह देखने की बात है कि हिन्दी, पंजाबी और डोगरी में भी 'घोड़ा' का विकारी रूप 'घोड़े' है और उसी में कर्ता का प्रत्यय 'ने' लगता है। परन्तु पहाड़ी में यहाँ दो भिन्नताएं हैं। प्रथम यह कि पहाड़ी में 'घोड़ा' से 'घोड़ेँ' बनने पर उसके साथ अलग 'ने' प्रत्यय नहीं लगता। 'घोड़ेँ' स्वयं का अर्थ है 'घोड़े ने'। इससे स्पष्ट है कि पहाड़ी में 'घोड़ेँ' शब्द 'घोड़ा' का विकारी रूप नहीं है, बल्कि कर्ता का सविभक्ति रूप है। ऐसा रूप न हिन्दी में है और न पंजाबी में। यह केवल पहाड़ी की अपनी विशेषता है, जो सभी बोलियों में समान रूप से प्रचलित है—**बेटे ने** कहा (हिन्दी), **बेटे ने** किहा (पंजाबी), **बेटेँ** गलाया (काँगड़ी, मण्डयाली, कहलूरी) **बेटेँ** बोलो-ब्रोलू (कुलुई, महासुई, सिरमौरी)।

कर्ताकारक की दूसरी विशिष्टता यह है कि हिन्दी और पंजाबी में केवल आकारान्त संज्ञा शब्द ही एकवचन में विकारी रूप धारण करते हैं, शेष सभी प्रकार के शब्द 'ने' प्रत्यय से पहले बिना विकार के मूल रूप में रहते हैं, जैसे शेर ने, आदमी ने, बालक ने, साधु ने। यहाँ 'ने' से पूर्व शेर, आदमी, बालक, साधु मूल रूप में हैं, इनमें 'लड़का' से 'लड़के ने' की तरह विकार नहीं आया। परन्तु पहाड़ी में यह विशिष्टता है कि प्रातिपदिक चाहे व्यंजनान्त हो या स्वरान्त, कर्ताकारक में हिन्दी के 'ने' के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए सविभक्ति रूप अवश्यमेव ऍकारान्त हो जाएंगे, और 'ने' जैसा प्रत्यय भी नहीं लगेगा—शेरेँ (शेर ने), आदमीएँ (आदमी ने), साधुएँ (साधु ने); शेर ने गीदड़ को खाया (हिन्दी), शेर ने गिद्दड़ नूं खादा (पंजाबी) शेरेँ गीदड़ खाई (पहाड़ी)। स्पष्ट है कि हर रूप के प्रातिपदिक के साथ 'एँ' के संयोग से एकवचन कर्त्ता का विभक्ति रूप बनता है। यह नियम पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों तरह के शब्दों के लिए समान रूप से लागू होता है। बहुवचन की स्थिति में कुछ बोलियों में 'एँ' अनुनासिक लगता है। इससे स्पष्ट है कि पहाड़ी में संस्कृत की प्रथमा विभक्ति सुरक्षित है, केवल विसर्ग (:) एँ म बदल गया है—रामः<रामेँ, देशः<देशेँ।

यही 'एँ' पहाड़ी भाषा में करणकारक का विभक्ति चिह्न भी है। मूल रूप में 'एँ' सर्वथा करणकारक का ही विभक्ति प्रत्यय है। पहाड़ी भाषा में कर्तृकारक के 'ने' सम्बन्धी भाव को करण कारक द्वारा अभिव्यक्त करना एक विशेषता है, सम्भवतः यह किन्नौर और लाहुल की तिब्बती भाषा के प्रभाव के कारण हो, यद्यपि यह नियम शौर-सेनी अपभ्रंश में भी रहा है। तिब्बती भाषा में कर्ताकारक को सर्वदा करणकारक द्वारा व्यक्त किया जाता है। वहाँ इसकी ध्वनि भी 'एँ' के समान ही है, यद्यपि लिखने में मूल शब्द में 'स' का संयोग होता है—'ङ' का अर्थ तिब्बती में 'मैं' है और 'ङस' का 'मुझ द्वारा' यद्यपि इसे 'मैंने' ही समझा जाता है, और इसका उच्चारण 'ङस' न

होकर 'ङे' होता है। करणकारक में भी प्रातिपदिकों से 'एँ' के संयोग का कर्ताकारक की तरह ही नियम है। इस प्रकार पंजाबी, हिन्दी और पहाड़ी के दोनों कारक-रूपों को इस प्रकार देखा जा सकता है—

हिन्दी		पंजाबी		पहाड़ी	
कर्ता	**करण**	**कर्ता**	**करण**	**कर्ता**	**करण**
घोड़े ने	घोड़े से	घोड़े ने	घोड़े नाल	घोड़ें	घोड़ें
हाथ ने	हाथ से	हत्थ ने	हत्थ नाल	हौथें	हौथें
माली ने	माली से	माली ने	माली नाल	मालीएँ	मालीएँ
किताब ने	किताब से	किताब ने	किताब नाल	किताबें	किताबें
लड़की ने	लड़की से	कुड़ी ने	कुड़ी नाल	मुन्नीएँ	मुन्नीएँ

पहाड़ी भाषा में कर्ताकारक में हिन्दी और पंजाबी की तरह 'ने' जैसा कोई अलग प्रत्यय नहीं है। प्रातिपदिक का 'एँ' सहित विकारी रूप ही इसका एक मात्र रूप है। करणकारक की अभिव्यक्ति के कुछ अन्य प्रत्यय भी प्रचलित हैं। मूल रूप में करणकारक का 'एँ' सहित विभक्ति रूप हैं, जैसे—कलमें लिख (कलम से लिख), तलुआरीएँ काट (तलवार से काट), रमाले साफ कर (रुमाल से साफ कर) आदि। परन्तु अधिक स्पष्टता के लिए अन्य प्रत्यय भी प्रचलित हैं, जैसे—कन्ने < के संग, साए ∠ साथे ∠ साथ, लोई ∠ लोये ∠ लाइये < लगाकर, कौरी ∠ करके, सूंगे ∠ संगे ∠ संग, सौगी ∠ संग। ये प्रत्यय शौरसेनी अपभ्रंश में भी 'सों', 'सजो' और 'सहूँ' के रूप में प्रचलित थे।

अन्य कारकों की अभिव्यक्ति कारक प्रत्ययों द्वारा की जाती है। कर्मकारक तथा सम्प्रदान दोनों के समान प्रत्यय हैं। मण्डियाली, काँगड़ी, कहलूरी, चम्बयाली बोलियों में 'जो' और सिरमौरी, महासुई में खें, 'लें' तथा कुलुई में 'बें' कर्म-सम्प्रदान के प्रत्यय हैं। इनमें से कोई भी प्रत्यय हिन्दी, पंजाबी या डोगरी में प्रचलित नहीं है। हिन्दी 'को, के लिए', पंजाबी 'नू' तथा डोगरी 'गी' का प्रयोग पहाड़ी में प्रचलित नहीं है, सिवाय नूरपुर के छोटे से सीमावर्ती हिस्से के जहां के 'की' का प्रयोग डोगरी के 'गी' से जोड़ा जा सकता है।

अपादान के मुख्य प्रत्यय 'ते' और 'दो' हैं। 'ते' संस्कृत की इसी विभक्ति के (:) > त् का परिवर्तित रूप है। काँगड़ी और कहलूरी में 'ते' का प्रयोग होता है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, पहाड़ी में कठोर व्यंजन को कोमल में बदलने की प्रवृत्ति है, अतः 'ते' से 'दे' और 'दे' से 'दो' की व्युत्पत्ति हुई है। 'दो' सिरमौरी, जौनसारी, बघाटी और महासुई में अपादान का प्रत्यय है। 'दो' शौरसेनी प्राकृत की भी अपादान की ही विभक्ति थी। मण्डियाली में 'ते' का महाप्राण रूप 'थे' प्रत्यय प्रचलित है।

सिवाय काँगड़ी बोली के किंचित सीमावर्ती क्षेत्र के, समस्त पहाड़ी भाषी क्षेत्र में सम्बन्धकारक का प्रत्यय रा-रे-री है। काँगड़ी के सीमान्त क्षेत्र में पंजाबी प्रत्यय 'दा' का प्रयोग होता है जो डोगरी में भी प्रयुक्त होता है। हिन्दी में केवल सर्वनामों के

साथ रा-रे-री का प्रयोग होता है, संज्ञा के साथ का-के-की ही सम्बन्धकारक के प्रत्यय हैं। परन्तु पहाड़ी में संज्ञा और सर्वनाम दोनों प्रकार के शब्दों के साथ रा-रे-री ही प्रयोग में आते हैं।

अधिकरण कारक के 'में' के अर्थ में पहाड़ी भाषा का मुख्य परसर्ग 'मंझ' है जो सामान्य ध्वनि परिवर्तन के साथ सभी बोलियों में प्रयुक्त होता है—भरमौरी, चुराही, चम्बयाली में 'मंझ', मण्डियाली 'मंझ', काँगड़ी तथा कहलूरी 'ज' या 'च', सिरमौरी-महासुई 'माँझ', बघाटी 'माँय' और कुलुई 'मोंझ'। 'मंझ' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'मध्य' से हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश में भी यह प्रत्यय 'माँझ' और 'महँ' रूप में प्रयुक्त होता रहा है। पुरानी हिन्दी में यह 'माँहि' रूप में बदल चुका था। स्पष्टतः एक ही शब्द 'मंझ' इन विभिन्न रूपों में सामान्य अधिकरण-प्रत्यय है।

'पर' के अर्थ में अधिकरण के दो सर्वव्यापक पहाड़ी परसर्ग 'पाँदे' और 'पर' है। चम्बयाली, काँगड़ी, मण्डियाली, कहलूरी में 'पर', तथा जौनसारी, सिरमौरी, बघाटी, महासुई, कुलुई में 'पाँदे' (या पाँधे) का प्रयोग होता है। 'पाँदे' शब्द संस्कृत 'उपान्त' से व्युत्पन्न हुआ है। कोमल वर्ण की प्रवृत्ति में अन्तिम 'त' वर्ण 'द' में बदल गया है; पूर्व स्वर के लोप के कारण भी ऐसा परिवर्तन स्वाभाविक है—उपाँत > पाँद > पाँदे। इस के अतिरिक्त पहाड़ी की सभी बोलियों में अधिकरण के 'में' के अर्थ में सविभक्ति रूप भी प्रचलित है। प्रादिपदिक में 'एँ' के संयोग से इसकी अभिव्यक्ति होती है—घरेँ कुण ऐ/हा < घर में कौन है ?

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ठ है कि ध्वनि के क्षेत्र में काँगड़ी और कहलूरी दोनों पूर्णतः पहाड़ी भाषा के सभी गुण समोये हुई हैं। कारकों में भी हिन्दी और पंजाबी की प्रवृत्ति पहाड़ी में नहीं पाई जाती। हिन्दी का केवल अधिकरण का 'पर' ही कहलूरी और काँगड़ी में प्रयुक्त होता है। पंजाबी का सम्बन्धकारक का प्रत्यय 'दा' केवल एक मात्र प्रत्यय है जो काँगड़ी के पंजाबी के साथ लगते कुछ सीमाक्षेत्र में प्रचलित है, अन्यत्र सारे क्षेत्र तथा प्रायः समस्त कहलूरी क्षेत्र में पहाड़ी रा-रे-री का प्रयोग होता है। 'दा' की तरह ही दूसरा प्रत्यय जिसका पंजाबी से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, अधिकरण का 'च' है, जिसे पंजाबी 'विच' का संक्षिप्त रूप माना जा सकता है, जो काँगड़ी और कहलूरी के सीमावर्ती क्षेत्र में प्रयुक्त होता है। परन्तु इन क्षेत्रों में पहाड़ी का 'मंझ' प्रत्यय भी समान रूप से प्रचलित है। शेष किसी भी कारक की विभक्तियाँ या कारक परसर्ग हिन्दी और पंजाबी के साथ नहीं मिलते। डोगरी के साथ अधिकरण के 'च', सीमाक्षेत्र के 'दा', तथा करणकारक के 'कन्ने' का मेल जोड़ा जा सकता है। शेष कोई कारक प्रत्यय डोगरी से नहीं मिलते इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि काँगड़ी और कहलूरी में 'कन्ने', 'दा', 'पर' तथा 'च' का प्रयोग आँशिक रूप में होता है। मूल रूप में जिन क्षेत्रों में इनका प्रयोग है उन्हीं में पहाड़ी के प्रत्यय 'सोगी' 'रा-रे-री', 'मंझ' का प्रयोग व्यापक रूप से प्रचलित है। कर्म-सम्प्रदान कारक के प्रत्यय 'जो' का प्रयोग पहाड़ी भाषा की किसी भी पड़ोसी भाषा अर्थात् हिन्दी, पंजाबी, डोगरी या कश्मीरी में नहीं मिलता।

सर्वनाम

पहाड़ी भाषा में सर्वनाम के सम्बन्ध में भी कुछ असामान्य विशेषताएँ हैं। उत्तम पुरुष एकवचन कर्तृकारक रूप 'हउँ' है, जो किंचित स्थानीय ध्वनिभेद से सभी बोलियों में समान रूप से प्रचलित है, जौनसारी से लेकर चम्बा की अन्तिम सीमा और भद्रवाही तक 'हउँ' उत्तम पुरुष एकवचन का अविकारी रूप है। कहलूरी के समस्त क्षेत्र में 'हऊँ' इसी रूप में प्रचलित है,[1] और कांगड़ी के कुछ सीमावर्ती क्षेत्र को छोड़कर शेष बड़े भाग में इसका प्रयोग है।[2] 'हउं' शब्द अपभ्रंश में ठीक इसी रूप में प्रचलित था।[3] इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'अहम्' से हुई है—अहम् > अहअं > हउँ। 'हउँ' का तिर्यक रूप 'मैं' है परन्तु इसका उच्चारण हिन्दी 'मैं' से किंचित भिन्न है और मूलतः पहाड़ी के मुख्य ह्रस्व स्वर एँ के संयोग से व्युत्पन्न है 'में॑'। इस 'में॑' में विभिन्न कारक परसर्गों से मिलने से पूर्व विकृत होने की प्रवृत्ति है जो स्थानीय उच्चारण भेद के कारण भिन्न-भिन्न है, जैसे—सिरमौरी, कहलूरी, काँगड़ी, चम्बयाळी में 'मिं', बघाटी 'माँ,' कुलुई, महासुई 'मूँ'—मिंखे, मिंजो, माँखे, मूँबे आदि। उत्तम पुरुष बहुवचन में दो रूप प्रचलित हैं—'हामे' और 'आसे'। बोलियों के आधार पर इन्हें अलग-अलग करना कठिन है, क्योंकि एक ही बोली में भी दोनों रूप समान्ततः प्रचलित हैं, जैसे असाँरा (आसे से), म्हारा (हामे से) सब बोलियों में एक साथ प्रचलित हैं। पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि श>स>ह बदलने की पहाड़ी की मुख्य विशेषता है। इसलिए 'असां' से 'अहां' रूप भी स्वाभाविकतः प्रचलित है—असांरा>अहांरा, असांजो> अहांजो, आदि। ये दोनों रूप संस्कृत 'अस्म' से व्युत्पन्न हुए हैं—अस्म> असां, अस्मे> अह्मे> हमें।

मध्यम-पुरुष एकवचन कर्तृकारक रूप 'तू' है। इसका तिर्यक रूप 'तें॑' है, जो 'में॑' की तरह कारक-प्रत्यय लगने से पूर्व विभिन्न रूप में विकृत हो जाता है, जो बोली भेद के कारण नहीं बल्कि स्थान भेद के कारण है। एक ही बोली में दो-दो रूप भी प्रचलित हैं जैसे कांगड़ी, कहलूरी, मण्डियाली, चम्बयाली में स्थान-स्थान पर तिजो, तिज्जो, तुःजो सामान्यतः प्रचलित है। सिरमौरी, बघाटी में तेंई या तांई-खे, कुलुई तौबें। 'तू' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'त्वम्' से हुई है—त्वम्>तुहुँ> तू। 'तें' अपभ्रंश 'तइ' का विकृत रूप है जो संस्कृत 'त्वयि' से व्युत्पन्न हुआ है। मध्यम-पुरुष का बहुवचन 'तुम' और 'तुसे' दो रूप हैं। तुम से तुमे, तुहें, तुएं तथा तुस से तुसे, तुसां, तुहाँ रूप ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्ति के कारण स्थान-स्थान पर प्रचलित हैं। ये रूप संस्कृत युष्मद् से निकले हैं—युष्मद्>युष्मअ>तुष्मे> तुसे, युष्मद्>तुष्मअ>प्रा० तुम्हे>तुमे।

परन्तु सर्वनाम के क्षेत्र में सबसे मुख्य विशेषता अन्य अथवा प्रथम पुरुष के सम्बन्ध में है जो शब्द-भेद के कारण नहीं बल्कि मूलाधार के कारण है। कुछेक सीमा-

---

1. शिक्षा विभाग, राज्य भाषा संस्थान हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित शोध पत्रावली (भाग 2), पृ० 48, ले० श्री मनसाराम शर्मा अरुण।
2. वही, भाग 1 पृ० 101, ले० प्रो० चन्द्र वर्कर।
3. हेम चन्द्र: शब्दानुशासन।

वर्ती बोलियों को छोड़कर पहाड़ी की शेष बोलियों में अन्य पुरुष के लिंग-भेद के कारण अलग-अलग प्रातिपदिक हैं। हिन्दी में 'वह' और इसका तिर्यक रूप 'उस' दोनों स्त्रीलिंग और पुल्लिग के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनके लिंग-भेद के कारण अलग-अलग रूप नहीं हैं। इसी तरह 'यह' और 'इस' पुल्लिग के लिए जिस रूप में प्रयुक्त होते हैं, स्त्रीलिंग के लिए भी उसी रूप में प्रयुक्त होते हैं। परन्तु पहाड़ी की मुख्य बोलियों में इनके स्त्रीलिंग और पुल्लिग के लिए अलग-अलग प्रत्यय हैं, जैसे कुलुई में **एई** शोहरू-बें < **इस** लड़के को, परन्तु **एसा** शोहरी-बें <**इस** लड़की को; **तेइ** मरदा रा<**उस** मरद का, परन्तु **तेसा** बेटड़ी रा<उस स्त्री का आदि। पुरुषवाचक अन्य पुरुष और निश्चयवाचक के इस तरह पुल्लिग और स्त्रीलिंग के अलग-अलग रूपों की विशेषत: मुख्यत: सिरमौरी,[1] बघाटी,[2] महासुई, कुलुई, चुराही, चम्बयाली, भटियाली(चम्बयाली),[3] कहलूरी,[4] बोलियों में पाई जाती है। यह भेद प्राय: एकवचन में ही स्पष्ट रहता है, बहुवचन में स्त्रीलिंग और पुल्लिग के रूप समान रहते हैं, जैसे कहलूरी में—तिस कने< उस (पुरुष) के साथ, तिसा कने <उस (स्त्री) के साथ, परन्तु बहुवचन में 'तिन्हाँ कने' पुल्लिग और स्त्रीलिंग के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता है। इसी तरह सिरमौरी में—तेसीखें < उस (पुरुष) को, तीओंखे<उस (स्त्री) को, परन्तु तिन्होंखे < उनको (पुरुषों या स्त्रियों को)। अन्य सर्वनामों के रूपों में समानता नीचे देखी जा सकती है।

हिन्दी	कांगड़ी	कहलूरी	चम्बयाली, मण्डियाली	सिरमौरी, बघाटी, महासुई, कुलुई
वह/उस	सें/तिस	सें/तिस	सें/तेस	सी,से,सो/तेसी, तेई
उन/उन्हों	ते/तिन्हाँ	स्यो, ते/तिन्हाँ	स्यो/तिन्हाँ	ते, से/तिन्हों/तिन्हाँ
यह/इस	एँ/इस	एँ/इस	एँ/एस	ए, ई/एसी, एई
ये/इन्हों	एह/इन्हाँ	एओ/इन्हाँ	यो/इन्हाँ	ए, ई/इन्हों/ इन्हां
कोई	कोई/किसी, कुसी	कोई/किसी	कोई/केसी	कोई/कौसी
कुछ	किछ	किछ	किछ	किछ
क्या	क्या, की	क्या, की	की, क्या	का की
कौन/किस	कुण/कुस, किस	कुण/कुस, किस	कुण/कुस	कुण/कुणी
जो/जिस	जे/जिस	जे/जिस	जे/जेस	जो, जू/जेस,जौस
सब	सभ	सभ	सभ	सेभ
आप	अप्पु	अप्पू	आपू	आपू

1. शिक्षा विभाग, राज्य भाषा संस्थान, हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित "शोध पत्रावली" पृ० 63—64.
2. वही, प० 84—85.
3. वही, भाग 2, पृ० 28.
4. वही, भाग 2, पृ० 51, 84.

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर विभिन्न बोलियों में प्रयुक्त रूपों में समानता लक्षित होती है, वहाँ दूसरी ओर इनका सीधा सम्बन्ध संस्कृत सर्वनाम रूपों से जुड़ता है। इनमें से कुछ अपभ्रंश के मूल रूप हैं। 'से' और 'सी' संस्कृत का 'सः' है, और कुलुई का 'सो' सं० सः के विसर्ग के 'ओ' में बदलने से व्युत्पन्न हुआ है। 'सो' शब्द अपभ्रंश में ठीक इसी रूप में प्रयुक्त होता था। 'ते' संस्कृत का बहुवचन रूप है, जो प्राकृत और अपभ्रंश में भी इसी रूप में प्रयुक्त होता रहा है। 'तिस' मूलतः प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के सम्बन्ध कारक का रूप 'तस्य' है, जिस ने विकारी रूप धारण करके परसर्गों से पूर्व का स्थान ग्रहण किया है—तस्य>तेस>तिस (ह्रस्वीकरण से)। इसी तरह पहाड़ी की सारी बोलियों में प्रयुक्त 'ए' (यह) प्रा० भा० आ० भा० के इदम् से सम्बन्ध रखता है—इदम्>इद>एद>एह>ए। एस, एसी, इसके सम्बन्ध में डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव का कथन है कि 'प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के कर्ता एक-वचन की 'एष'-प्रकृति मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में 'एस' हो गई। पुल्लिंग में 'एसो', स्त्रीलिंग में 'एसा' तथा नपुंसक में 'एस' रूप निर्माण हुआ।[1] पहाड़ी भाषा की विभिन्न बोलियों में 'यह' और 'वह' के पुल्लिंग और स्त्रीलिंग रूप इस प्रकार हैं :—

हिन्दी		सिरमौरी	बघाटी	कहलूरी	कुलुई	चम्बयाली
इस	पु०	एसी	एसी	इस	एई	इस
	स्त्री०	इओं	इओं	इसा	एसा	इसा
उस	पु०	तेसी	तेसी	तिस	तेई	उस
	स्त्री०	तिओं	तिओं	तिसा	तेसा	उसा

बहुवचन में यह लिंग भेद नहीं रहता। वहाँ, दोनों लिंगों के लिए समान रूप रहते हैं—इन्हाँ और तिन्हाँ। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने तिन्ह की व्युत्पत्ति संस्कृत तेषाम् से इस प्रकार बताई है—सं० तेषां>तानां (आकारान्त पुल्लिंग के षष्ठि विभक्ति-प्रत्यय नां के योग से)> म० भा० आ० ताणां—ताणं>तिन्—तिन्ह (तिन्ह पर करण-कारक बहुवचन तेभिः>तेहि का भी प्रभाव है)।[2] इसी के समरूप सं० एषाम् से पहाड़ी इन्हां की व्युत्पत्ति सिद्ध होती है।

पहाड़ी का 'जे' संस्कृत के 'यद्' सर्वनाम के कर्ताकारक के बहुवचन का रूप है, यथा—यः>जो, ये>जे। संस्कृत के 'किम्' से पहाड़ी के प्रश्नवाचक सर्वनाम का निर्माण कः+पुनः के संयोग से 'कुण' रूप हुआ है। 'कोई' अनिश्चयवाचक सर्वनाम सं० किम्+अपि के प्राकृत रूप 'कोइ' का पहाड़ी रूप है, और 'किछ' स० किम्+चित् से व्युत्पन्न हुआ है। अपभ्रंश में इसके दो रूप प्रचलित थे—'कछु' और 'किछु'। स्वरव्यत्यय के कारण 'कछु' से हिन्दी 'कुछ' और 'किछु' से पहाड़ी 'किछ' की व्युत्पत्ति हुई है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का 'आत्मन्' शब्द मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में 'अत' और 'अप्प' दो रूपों में परिणत हुआ। अपभ्रंश में अधिकतः अप्पा, अप्प, अप्पण, अप्पणु, अप्पाण, अप्पउं रूपों का प्रयोग रहा है। पहाड़ी के 'अप्पु' का अपभ्रंश

1. डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव : अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० 178.
2. डॉ० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्‌भव और विकास, पृ० 454.

अप्पउ' से स्वरूप बना है। भीतरी पहाड़ी की कुछ बोलियों में मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण 'आपू' का रूप प्रयोग में आया है। संस्कृत 'सर्व' से मध्यकाल में 'सब्ब' रूप बना। बघाटी बोली में यह सर्वनाम इसी रूप में प्रचलित है। अन्य बोलियों में सरलीकरण के प्रभाव से 'सभ' रूप बना है।

विशेषण

पहाड़ी में विशेषणों के रूप हिन्दी से अधिक भिन्न नहीं हैं—नोआं (नूआं), पराणा, खरा, बुरा, ओछा, बड़ा, काला, लाल, नीला, बांका, उलटा, सीधा गुणवाचक विशेषण समान रूप से प्रचलित हैं। संख्यावाचक सर्वनामों की स्थिति में सामान्य स्थानीय ध्वनि-परिवर्तनों के अतिरिक्त हिन्दी रूप ही प्रचलित है। केवल 'तीन' एक ऐसी संख्या है जिसके विभिन्न बोलियों में अधिक भेद प्रकट होता है, सिरमौरी, महासुई में तीन के लिए चोन शब्द प्रयुक्त होता है, क्योंकि यहाँ सं० 'त्र' प्रायः 'च' में बदलता है, जैसे 'क्षेत्र' से 'खेच'। इसी आधार पर त्रीणि > चिणी > चोण > चोन। कुलुई, मण्डियाली, चम्बयाली, गादि, चुराही, भद्रवाही में 'तीन' का रूप त्राई या त्रै बना है—त्रीणि > त्रीई > त्राई > त्रै। शेष बोलियों में हिन्दी 'तीन' या 'तिन' प्रचलित है। शेष गणनात्मक संख्यावाचक रूप हिन्दी समान ही हैं। क्रमवाचक में पहले चार अंकों के रूप भिन्न हैं—पहला, दूजा—दुजा, त्रिजा, चौथा। इससे आगे हिन्दी 'वां' प्रत्यय 'उआं' रूप में प्रचलित है—पंजुआं, छेउआं, सतुआं आदि। स्वरमध्यग 'ज' के लोप से दूजा, त्रिजा के साथ-साथ दुआ, त्रिआ रूप भी प्रयोग में आते हैं। आवृत्तिवाचक में हिन्दी का 'गुना' प्रत्यय 'गणा' या 'गुणा' रूप में प्रचलित है—दुगणा, तिगणा, त्रिगण, पंजगुणा आदि।

सार्वनामक विशेषणों में से परिमाणवाचक विशेषण कुलुई में 'रा' के तथा शेष बोलियों में 'णा' के संयोग से बनते हैं, अर्थात् कुलुई में एतरा, तेतरा, जेतरा और केतरा तथा अन्य बोलियों में एतणा—इतणा, तेतणा—तितणा, जेतणा—जितणा तथा केतणा—कितणा। परन्तु प्रकारवाचक सार्वनामिक विशेषणों के रूपों में ध्वनि-परिवर्तन के अनुसार रूप किंचित भिन्न हैं—

हिन्दी	**सिरमौरी**	**महासुई**	**कुलुई**	**मण्डियाली, कहलूरी**	**कांगड़ी, चम्बयाली**
ऐसा	इशा	एशो	एंडा	एड़ा	अदेहा
कैसा	किशा	केशो	केंडा	केड़ा	कदेहा
जैसा	जिशा	जेशो	जेंडा	जेडा	जदेहा
तैसा	तिशा	तेशो	तेंडा	तेड़ा	तदेहा

कुलुई रूपों तथा मण्डियाली-कहलूरी रूपों की अन्तिम ध्वनियों में कहीं-कहीं महाप्राणत्व ध्वनित होता है जैसे एंढा, तेंढा, केंढा, जेंढा तथा एढ़ा, तेढ़ा, केढ़ा, जेढ़ा। इनकी व्युत्पत्ति 'दृक्' प्रत्यय से स्पष्ट है। उच्चारण के अन्तर्गत पहाड़ी के ध्वनि-परिवर्तन का उल्लेख किया जा चुका है। उसी के अधीन इनके रूप को देखा जा सकता है—

कीदृश > कइश > किशा, केशो ओकारान्त प्रवृति के कारण; कीदृश > कीडीह् > कदेहा आदि।

जहाँ तक विशेषण-पदों की रूपात्मकता का सम्बन्ध है, पहाड़ी में आकारान्त विशेषण-पद अपने विशेष्य-पदों के लिंग-वचन के अनुसार विकृत होता है। परन्तु इस तरह के परिवर्तन का परिमाप स्थानानुसार भिन्न है। पहाड़ी भाषा के भीतर भाग की बोलियों में विशेषण पद हिन्दी के समान ही विशेष्य पद के लिंग-वचन के अनुसार बदलता है, अर्थात्—

(i) आकारान्त विशेषण पद पुल्लिग बहुवचन विशेष्य के साथ एकारान्त में बदल जाता है—बांके लड़के < अच्छे लड़के, काले कुत्ते, लोमे बूटे < लम्बे वृक्ष। चाहे विशेष्य पद बहुवचन के लिए विकृत न हो परन्तु आकारान्त विशेषण अवश्य एकारान्त हो जाएगा—बांके घर < अच्छे घर, काले बादल आदि।

(ii) आकारान्त विशेषण स्त्रीलिंग विशेष्य पद के लिए ईकारान्त में बदलता है, और चाहे स्त्रीलिंग शब्द एकवचन में हो या बहुवचन में अथवा वह विकारी रूप में हो या अन्यथा, ईकारान्त रूप हर स्थिति में ईकारान्त रहता है—बांकी कुड़ी, बांकी कताब—बांकी कताबा, काली भेड़—काली भेड़ा, हरी कलम-हरी कलमा आदि। इसी तरह विकारी रूप में काली टोपीरा < काली टोपी/टोपियों का, सोहणी छोहटीया तांई < अच्छी लड़की/लड़कियों के लिए आदि।

(iii) आकारान्त विशेषण पद पुल्लिग एकवचन विकारी रूप के लिए एकारान्त में बदलता है, और बहुवचन पुल्लिग विकारी रूप के लिए भी एकारान्त ही रहता है, उसमें अन्तर नहीं आता, उदाहरणार्थ—काले कुता बे < काले कुत्ते या कुत्तों को, बांके शोहरू सौगी < अच्छे लड़के या लड़कों के साथ।

सारांश यह कि पहाड़ी की भीतरी बोलियों में आकारान्त विशेषण पद विशेष्य पद के लिंग-वचन के भेद के अनुसार केवल दो रूपों में बदलता है—एकारान्त और ईकारान्त। परन्तु ज्यों-ज्यों पंजाबी भाषी क्षेत्र के निकट आते हैं, विशेषण के रूप पंजाबी के अनुसार बदलने आरम्भ होते हैं। अतः मण्डियाली, कहलूरी, पालमपुर के आस-पास कांगड़ी में आकारान्त विशेषण पद पुल्लिग विशेष्य पद के साथ तो हिन्दी की तरह रहते हैं, परन्तु स्त्रीलिंग की स्थिति में एक-वचन और बहुवचन में अलग-अलग रूप हो जाते हैं। वहाँ खरी कुड़ी का बहुवचन पंजाबी की तरह खरियां कुड़ियां हो जाता है। इसी तरह न्हेरियाँ राताँ च < अंधेरी रातों में, हरियां डालियां पुर < हरी डालियों पर, खरियां कुड़ियां ते आदि। परन्तु, यहां खरेयां मुण्डुआं ते न होकर खरे मुण्डुआं ते ही रहता है। पंजाबी भाषी-क्षेत्र की सीमावर्त्ती बोली में पंजाबी के अनुसार ही विशेषण शब्द विशेष्य पदों के अनुसार बदलते हैं। परन्तु विकारी रूप में काँगड़ी, चम्बयाली, मण्डियाली आदि भी पंजाबी से भिन्न रूप रखती हैं, जो पहाड़ी की विशेषता है। जहाँ पंजाबी में 'काली घोड़ी नू घा पाओ' होता है, वहाँ इन बोलियों में 'कालिया घोड़िया जो घाह पाआ' होता है।

क्रियापद

क्रियापद का विवेचन करते हुए यदि आरम्भ में ही यह कहा जाए कि पहाड़ी भाषा संज्ञक (Nominal) न होकर क्रिया-विषयक (Verbal) है तो अतिशयोक्ति न होगी। इस के मुख्य दो कारण हैं। इनमें से प्रथम कारण पहाड़ी वाक्य में शब्दक्रम (Syntactical order) की विशिष्टता है। हिन्दी और पंजाबी आदि अन्य भाषाओं में शब्दक्रम प्रायः कर्ता, कर्म और क्रिया है। परन्तु पहाड़ी में इसके विपरीत क्रिया सर्वदा कर्म से पहले आती है। इसमें संदेह नहीं कि आजकल के पहाड़ी लेखक इस क्रम को अपना नहीं रहे हैं, जिसका मुख्य कारण यह है कि जितने भी लेखक पहाड़ी लेख लिख रहे हैं, वे सभी हिन्दी और उर्दू से आए हैं, और मूल रूप में हिन्दी-उर्दू की वाक्य-रचना से शिक्षित-दीक्षित होने के कारण उसी माध्यम को पहाड़ी में भी अपनाते हैं। अपनी हिन्दी-उर्दू की लेखन-कला में बहकर वे बातचीत की पहाड़ी भाषा के मौलिक गुण को बिगाड़ देते हैं। यदि गांवों और मूल निवासियों की बोल-चाल की आम भाषा को देखा जाए तो यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि पहाड़ी भाषा की सब बोलियों में कर्म से पहले ही क्रिया बोलने की मूल प्रवृत्ति है, प्रवृति ही नहीं वरन् आधार-भूत शैली है। पहाड़ी भाषा में "मैं तिजो गलाया था" कहना स्वाभाविक नहीं है, वरन् यही कहना स्वाभाविक है कि "मैं गलाया था तिजो"। इसी तरह 'मैं बुलाया था उसजो' (मैंने बुलाया था उसे)। इसी तरह "शोहरू बे देइरे थी खाना बे फौल" (लड़के को दिये थे खाने को फल), किदी आसा तेरा घौर (कहां है तेरा घर), हऊं चालो घोरा ले (मैं चला घर को), कताब नी पढ़ोंदी तेरे ते (किताब नहीं पढ़ी जाती तेरे से), दाहीए नी खाइंदी रोटी (दर्द से नहीं खाई जाती रोटी), ए आसो मेरा गांव (यह है मेरा गांव) आदि।

इस दिशा में दूसरी विशेषता पहाड़ी में क्रियाओं की संख्या की अधिकता है। यद्यपि पहाड़ी क्रियाओं की संख्या की गिनती नहीं हुई है, परन्तु यदि हिन्दी और पहाड़ी भाषाओं की क्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए, तो स्पष्ट हो जाता है कि पहाड़ी में हिन्दी की अपेक्षा बहुत अधिक प्रचलित क्रियाएं हैं। उदाहरणार्थ जहां हिन्दी में नामधातुओं या संज्ञयक-संयुक्त क्रियाओं (Nominal Compounds) की बहुलता है, वहाँ पहाड़ी भाषा में उनकी तुलना में मूल क्रियाओं की संख्या अधिक है। अर्थात, जहाँ हिन्दी में संज्ञा और विशेषण शब्दों के साथ सहायक क्रिया से भाव प्रकट किया जाता है वहाँ पहाड़ी में मूल क्रियाओं की संख्या अधिक है। हिन्दी में 'करना' और 'होना' ही दो मूल क्रियाएं हैं जिनकी सहायता से संज्ञक संयुक्त क्रियाएं बनती हैं—आक्रमण करना, आक्रमण होना, निर्णय करना/होना, लज्जित होना/करना, कैद करना/होना आदि। परन्तु बोलचाल की पहाड़ी में ऐसे प्रयोग कम और मूल धातु-प्रयोग अधिक है। कुछेक आम बोल-चाल के उदाहरणों से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी—हिन्दी खड़ा होना > पहाड़ी खड़ीना/खड़ना, खड़ा करना > खड़ेरना, पार करना > लंघणा/लांघणा, प्रतीक्षा करना > निहालणा, फूंक मारना > फुकरना, मुक्त होना > मुकणा, पसन्द करना > रुचणा, टट्टी करना > हगणा, पेशाब करना

मूत्रणा/मूचणा, समाप्त होना > निभणा, समाप्त करना > निभंरणा, बीमार होना > दाहिणा, चुनाई करना > चिणना; घटणा < कम होना, बधणा < बढ़ जाना, झूरना < प्यार करना, पखलाणा < अपरिचित बनना, क्रोध करना > किरोधिणा, धूप देणा > धूपणा, खाल उतारना > खलेड़ना, गुआचणा < गुम होना, काम करना > कमोणा < सं० कर्मापयति, तलाश करना > तोपणा, निडाई करना > निंडणा, कंघी करना > पाहरना, प्रातः होना > बिहाणा, तैयार होना > तियारिणा, इकट्ठे होना > कठरोणा ।

पहाड़ी की मुख्य क्रियाएं संस्कृत की हैं जो प्राकृत और अपभ्रंश से उत्तराधिकार में आई हैं । इनमें तत्सम, अर्ध-तत्सम, तद्भव सभी प्रकार के रूप मिलते हैं । परन्तु पहाड़ी भाषा की धातुओं में उनका विशेष महत्व है, जिन्हें भाषा विशेषज्ञों ने 'देशी' नाम दिया है । पहाड़ी भाषा में इनकी अलग श्रेणी है, जिसमें असंख्य ऐसी क्रियाएं शामिल हैं, जिनका संस्कृत से सम्बन्ध ढूंढना कठिन है, उदाहरणार्थ—रुढ़ना < 'बह जाना,' मुछणा 'गूँधना', चटयाणा 'दूर फेंकना', उकलना—कौहणा 'चढ़ना,' हंडणा 'चलना', शाचना 'चिपकना', टालना—तालणा 'छांटना', खोसणा—छड़ाहणा—खोहणा 'छीनना', लुकणा 'छुपना', तोपणा 'तलाश करना', जिकणा 'दबाना', चाणना 'पकाना', ओसणा—औलणा—लौहणा 'उतरना', टुल्हणा 'ऊंघना', पाथणा —पौथणा 'दबाना', छीलणा—छोलणा 'बिलोना', टोलणा 'खोजना', गुआचणा—गुआणा 'गुम होणा,' शचणा—शौचण 'फंसना', रिन्हणा 'पकाना', थुसणा 'टूटना', नठणा 'जाना' ।

ऊपर के कुछेक उदाहरणों से ही स्पष्ट है कि अत्यन्त साधारण और आम प्रयोग की हिन्दी आदि पड़ौसी भाषाओं की क्रियाओं के लिए पहाड़ी में उनसे नितान्त भिन्न क्रियाएं प्रचलित हैं ।

पहाड़ी की सभी बोलियों में प्रेरणार्थक क्रियाओं का प्रत्यय हिन्दी और पंजाबी से भिन्न है । पहाड़ी में यह प्रत्यय 'आ' है, जबकि हिन्दी और पंजाबी में प्रथम प्रेरणार्थक रूप 'ला' द्वारा बनता है । 'ला' का प्रत्य पहाड़ी की किसी बोली में साधारणतः प्रयुक्त नहीं होता, यथा—हिन्दी सोना से सुलाना परन्तु पहाड़ी सुआणा, हिं० खाना से खिलाना परन्तु पहाड़ी खुआणा (भीतर प० खिआणा); इसी तरह सीना से हिं० सिलाना प० सुआणा (सियाणा), देना से हिं० दिलाना प० दुआणा (भी० प० दियागा), आदि ।

सहायक क्रिया के रूप भी सामान्य ध्वनि परिवर्तन के साथ समान रूप से प्रचलित हैं । मूलतः सभी बोलियों में **'होणा'** (संस्कृत 'भू' धातु) सहायक क्रिया का प्रयोग होता है । वर्तमान काल में संस्कृत 'अस्' से प्राप्त रूपों का प्रयोग स्पष्ट है । संस्कृत अस्ति > अस्सि से **'आसा'** रूप बघाटी, क्योंथली और सिरमौरी में प्रचलित हैं । कुछ बोलियों में ध्वनि विकार के कारण यही रूप **'औसौ'** हो गया है । कुलुई में पूर्व 'आ' के लोप से केवल 'सा' ही सहायक क्रिया का रूप हुआ है । जैसा कि ध्वनि शीर्ष में देखा जा चुका है 'सा' मण्डियाली और कहलूरी में 'हा' बन गया है, तथा कांगड़ी में 'ह' के लोप होने पर केवल 'ए' ही सहायक क्रिया का प्रयोग होता है ।

उपर्युक्त पूर्व विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कांगड़ी और कहलूरी को पहाड़ी की अन्य बोलियों से पृथक नहीं किया जा सकता । काँगड़ी और

कहलूरी की भाषा-वैज्ञानिक विशिष्टताओं को पूर्वकथित पहाड़ी की विशेषताओं के साथ आमने सामने रखने से यह तथ्य बिलकुल स्पष्ट हो जाता है, परन्तु पुनरुक्ति के भय से यहाँ इन्हें पूर्णतः दोबारा प्रस्तुत करना उचित नहीं लगता। कांगड़ी और कहलूरी का चम्बयाली तथा मण्डियाली से इतनी समानता है कि एक को दूसरे से [अलग नहीं किया जा सकता। जब मण्डियाली और चम्बयाली को डॉ० ग्रियर्सन उचित रूप से पहाड़ी भाषा में रखते हैं, तो कोई कारण नहीं कि वे कांगड़ी कौ पहाड़ी से अलग रखते बशर्तेकि उन्हें कांगड़ी का वास्तविक नमूना मिलता और वह नमूना कांगड़ा के मूल निवासी द्वारा तैयार होता। यही स्थिति कहलूरी की है। कांगड़ी की अपेक्षा मण्डियाली की ओर इसका अधिक झुकाव है।

पहाड़ी की उप-शाखाएँ (विभाषाएँ)

वास्तव में पहाड़ी भाषा की स्पष्टतः दो उप-शाखाएँ हैं। हिमाचल प्रदेश के मानचित्र पर जरा ध्यान दिया जाए तो इसकी स्थलाकृति के मुख्यतः दो भाग हैं—एक भाग मध्यग्-हिमालय (Mid-Himalaya) में पड़ता है, जिसमें पूर्व-दक्षिण से उत्तर-पश्चिम की ओर क्रमशः किन्नौर जिला, लाहुल-स्पिति जिला के पूर्ण क्षेत्र तथा चम्बा जिला का चम्बा-लाहुल इलाका शामिल है। भाषा-शास्त्रियों ने इस क्षेत्र की भाषा को तिब्बती-बर्मी कहा है, यद्यपि यह तिब्बती, किराती, मुण्डा और भारतीय आर्य भाषाओं का समा-मिश्रण लिए हुए है। इस क्षेत्र से आगे बाह्य-हिमालय (Outer Himalaya) पड़ता है। बाह्य-हिमालय क्षेत्र के भी ठीक उसी दिशा में अर्थात् पूर्व-दक्षिण से उत्तर-पश्चिम की ओर दो प्रमुख भू-भाग हैं। एक **भीतरी भाग** और दूसरा **बाहरी भाग**।

इसी स्थलाकृतिक दृष्टि से भीतरी भाग में हिमाचल-प्रदेश के सिरमौर, सोलन, शिमला, कुल्लु के जिले, कांगड़ा का उत्तरी-पर्वतीय क्षेत्र जहाँ 'गादी' बोली जाती है तथा चम्बा का चुराही और पंगवाली के क्षेत्र शामिल हैं। शेष सभी क्षेत्र बाहरी भाग में पड़ता है। भीतरी भाग पहाड़ी भाषा की **भीतरी उप-शाखा** का क्षेत्र है, और बाह्य भाग बाहरी उप-शाखा के अन्तर्गत आता है। बाहरी उप-शाखा में मुख्यतः मण्डी, बिलासपुर, कांगड़ा हमीरपुर, ऊना और चम्बा के जिले पड़ते हैं। मूलरूप में दोनों उप-शाखाओं में वे सभी गुण विद्यमान हैं, जो पहाड़ी की मुख्य विशेषताएँ हैं और जिनके आधार पर पहाड़ी भाषा भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से पड़ौसी भाषाओं से भिन्न और स्वतंत्र है। फिर भी दोनों उप-शाखाओं की अपनी-अपनी विशिष्टताएं हैं, जिन्हें सारांश में नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

ध्वनि तत्व

(1) यद्यपि पहाड़ी की सभी बोलियों में आदि स्वर के लुप्त होने की प्रवृत्ति है, जैसे—अंगार से गार, अंगीठी > गीठी, अंगोछा > गोछा, अंगूठा > गूठा, एकादशी > कादसी आदि, फिर भी जहाँ भीतरी पहाड़ी में 'अ' के 'औ' में बदलने की प्रवृत्ति है, वहाँ बाहरी पहाड़ी में यह प्रवृत्ति प्राय नहीं है, जैसे—भी० प० औसर < बा० प० असर,

भी० औकल < बा० अकल, भी० बौरत < बा० बरत 'उपवास', भी० कौपट < बा० कपट, भी० डौर < बा० डर आदि।

(2) भीतरी पहाड़ी में तालव्य च-वर्ग तथा वर्त्स्य च-वर्ग अलग-अलग स्वतन्त्र ध्वनियाँ हैं। बाहरी पहाड़ी में च-वर्गीय स्वतन्त्र ध्वनियाँ नहीं रही हैं। संध्वनि (allophone) के रूप में इनका उच्चारण व्यापक है। कहीं-कहीं ये वर्त्स्य न हो कर दन्त्य हो गई हैं।

(3) दोनों उप-शाखाओं में 'ष्' विद्यमान नहीं हैं। परन्तु जहाँ भीतरी पहाड़ी में श् और स् पूर्णतः सुरक्षित और प्रचलित हैं, बाहरी उप-शाखा में 'श्' को 'स्' में बदलने की प्रवृत्ति है, जैसे—भी० शंख बा० संख, भी० शर्त बा० सर्त, भी० शक बा० सक, भी० शीशा बा० सीसा, भी० शोभा बा० सोभा आदि।

(4) 'य्' तथा 'ब्' की श्रुति सभी बोलियों में समान रूप से प्रचलित है। परन्तु जहाँ तक 'ल्', 'ल़्', 'र्', 'ड़्' का सम्बन्ध है, भीतरी उप-शाखा में इनकी श्रुति जितनी व्यापक है, बाहरी में उतनी नहीं है। बाहरी शाखा के सीमावर्ती क्षेत्र में 'ल' वर्ण 'ल़' में बदलता है। मण्डियाली में 'ल़' प्रायः 'ड़' में परिणत होता है। भीतरी में 'ल़' श्रुत हो जाता है।

(5) मध्य भारतीय आर्य भाषा के प्रारम्भिक काल में सरलीकरण की जो प्रवृत्ति चली थी, उसका प्रभाव दोनों उप-शाखाओं में भिन्न रूप से पड़ा है। भीतरी उप-शाखा में संयुक्त से पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है तथा साथ ही संयुक्त अक्षर में से एक का लोप होकर केवल एक व्यंजन रहता है, जैसे—सप्त > सौत, अष्ठ > औठ, पुष्प > फूल, नग्न > नांगा, कण्टक > कोंडा आदि। इसके विपरीत बाहरी पहाड़ी में पूर्व स्वर दीर्घ नहीं हुआ है, यद्यपि द्वित्व कदरे लुप्त हो गया है, जैसे—सं० पृष्ठ > बा० प० पिठ भी० प० पीठ, सं० कर्म > बा० कम भी० कोम, सं० अद्य > बा० अज्ज भी० आज या औज, सं० हस्त > बा० हत्थ भी० हाथ कु० हौथ, आदि। लगभग चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में द्वित्व व्यंजनों का सरलीकरण तथा पूर्ववर्त्ती स्वर का दीर्घीकरण हो चुका था, परन्तु बाहरी पहाड़ी में यह प्रथा अभी प्रचलित नहीं हुई है।

रूप तत्त्व

(1) बाहरी और भीतरी उप-शाखाओं में एक अन्य अन्तर लिंग-भेद के सम्बन्ध में है। बाहरी पहाड़ी में आकारान्त विशेषण शब्द विशेष्य शब्दों के अनुसार स्त्रीलिंग बहुवचन में रूप बदलते हैं, जबकि भीतरी पहाड़ी में ऐसा परिवर्तन नहीं होता जैसे—बा० कालि़यां भेडां भी० काली़ भेड़ा, बा० बांकियां नारां भी० बांकी नार, बा० छैलियां धारां, भी० छैली धारा आदि।

(2) बाहरी उप-शाखा में कर्म-सम्प्रदान कारक के प्रत्यय 'जो' और 'ओ' हैं। भीतरी उपशाखा में इसके विभिन्न प्रत्यय हैं, सिरमौरी-महासुई में खें, कें और लें कुलुई में बें।

(3) बाहरी उप-शाखा में सम्बन्ध कारक के प्रत्यय अधिकतः दा, दे, दी है,

जबकि भीतरी उपशाखा में रा, रे, री का ही प्रचलन हैं।

धातु तत्त्व

(1) बाहरी पहाड़ी में सं० 'भू' धातु से व्युत्पन्न 'हो' तथा 'है' का प्रयोग होता है, जिनमें ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ हा, आ, ऐ, ए स्थान भेद के अनुसार प्रयुक्त होते हैं। भीतरी पहाड़ी में सं० 'अस्' से व्युत्पन्न सहायक क्रिया का प्रयोग होता है जो स्थान भेद के अनुसार औसो, असा या सा रूप में प्रयुक्त होता है। अधिकतः 'असा' रूप लिंग-वचन के आधार पर नहीं बदलता।

(2) बाहरी पहाड़ी में निषेधात्मक भाव से सम्बन्धी भीतरी पहाड़ी का 'नाथी' <नास्ति नकारात्मक सहायक क्रिया का प्रयोग नहीं होता। भीतरी पहाड़ी में 'नाथी' लिंग-वचन के आधार पर परिवर्तित नहीं होता।

(3) पहाड़ी के समस्त क्षेत्र में सम्भाव्य भविष्य प्रायः क्रिया के सामान्य रूप से ही व्यक्त होता है, जैसे मारना, पिटणा, शुणना आदि। परन्तु सामान्य भविष्य बाहरी पहाड़ी में गा, गे, गी द्वारा प्रकट होता है, जो हिन्दी के समान रहता है। भीतरी पहाड़ी में गा, गे, गी की बजाय सामान्य भविष्य का प्रत्यय 'ला' है, जो पुलिंग बहुवचन के लिए 'ले' तथा स्त्रीलिंग एकवचन और बहुवचन के लिए 'ली' में बदलता है। जैसे—मारला 'मारेगा', जाले 'जाएँगे', देली 'देगी'/देंगी।

दोनों उप-शाखाएँ मूलत: एक

दोनों उप-शाखाओं के बीच उपर्युक्त भेद से दोनों के पृथक होने का भाव नहीं है, बल्कि दोनों के बीच विकास-क्रम का भेद है। दोनों उप-शाखाओं के बीच कोई मूलभूत भेद नहीं है। वास्तव में दोनों एक ही **मूलाधार** की दो शाखाएँ हैं, भिन्न आधार या भिन्न लक्षण की पृथक भाषाएँ नहीं हैं। अन्तर केवल विकास-क्रम के चरण से है। एक का रूप कुछ अधिक आधुनिक है और दूसरी का कुछ प्राचीन। भीतरी और बाहरी शाखाओं के अध्ययन से दोनों के विकास-क्रम का पता चलता है, और यह स्पष्ट नजर आता है कि जहाँ तक शब्द विकास का सम्बन्ध है बाहरी शाखा की अपेक्षा भीतरी शाखा का अधिक विकसित रूप है। इसका स्पष्ट प्रमाण व्यंजन द्वित्व के सरलीकरण तथा पूर्ववर्ती स्वर के दीर्घीकरण की प्रक्रिया है। अपभ्रंश की तुलना में आधुनिक भाषाओं की यह प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता है। भारतीय आर्य भाषाओं के क्रमिक विकास के बारे में एक बात स्पष्ट है कि आरम्भ से लेकर ही सरलीकरण की ओर प्रवृत्ति रही है। इस सरलीकरण का एक उदाहरण व्यंजनों का द्वित्वरूप या संयुक्त रूप है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में संयुक्त या द्वित्व अक्षर कहीं भी आते थे। बाद में यदि संस्कृत के किसी शब्द के संयुक्त अक्षर से पूर्व लघु स्वर होता था तो सरलीकरण की प्रवृत्ति में संयुक्त अक्षर एक अक्षर में बदल गया, परन्तु छोड़े गए अक्षर की क्षतिपूर्ति में संयुक्त अक्षर से पूर्व का लघु स्वर दीर्घ स्वर में बदल गया जैसे—'अद्य' से 'आज', 'कर्म' से 'काम'। परन्तु सरलीकरण की इस प्रवृत्ति में संयुक्त या द्वित्व से पूर्व ह्रस्व स्वर के दीर्घ में बदलने का नियम एकदम

प्रचलित नहीं हुआ था। इससे पूर्व ही दूसरा रूप भी बना था, जिसमें द्वित्व या संयुक्त रूप तो रहा और साथ ही इससे पूर्व का ह्रस्व स्वर भी विद्यमान था परन्तु संयुक्त या द्वित्व अक्षर में भेद आ गया था, जैसे 'अद्य' से आरम्भ में 'अज्ज' बना था। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से वर्तमान भारतीय आर्य भाषा तक आते हुए इस सरलीकरण के तीन चरण कहे जा सकते हैं :—

(1) संस्कृत में संयुक्त या द्वित्व अक्षर का अपना नियम था। वहाँ संयुक्त अक्षर ह्रस्व या दीर्घ दोनों स्वरों के बाद आ सकता है, जैसे कर्म, पृष्ठ, कर्ण आदि शब्दों में संयुक्त अक्षर ह्रस्व स्वर के बाद हैं, तथा कार्य, मूल्य आदि शब्दों में संयुक्त अक्षर दीर्घ स्वर के बाद में हैं।

(2) संस्कृत के बाद पूर्व प्राकृत में शब्द के आरम्भ में संयुक्त अक्षर नहीं आते थे। शब्दों के मध्य और अन्त में ज़रूर आते थे, परन्तु ये केवल ह्रस्व स्वर के बाद ही आते थे, दीर्घ के बाद नहीं जैसे सं० अद्य>अज्ज, सं० कर्म>कम्म, सं०भक्त>भत्त। इस चरण में संस्कृत के संयुक्त अक्षर के पूर्व का दीर्घ स्वर भी कई बार ह्रस्व हो गया, जैसे—सं०मूल्य>मुल्ल, स०कार्य>कज्ज, मार्ग>मग्ग, सं० तीक्ष्ण> तिक्खा आदि।

(3) तीसरे चरण में दूसरे चरण के द्वित्व या संयुक्त रूप भी समाप्त हो गए। यहाँ द्वित्व अथवा संयुक्त अक्षर में से एक का लोप हो गया तथा इस लुप्त अक्षर की प्रतिपूर्ति में पूर्व ह्रस्व स्वर दीर्घ हो गया, जैसे सं० कर्ण से कान। अतः तीनों चरण इस प्रकार व्युत्पन्न हुए—अद्य >अज्ज>आज, पृष्ठ >पिठ्ठ<पीठ, मूल्य>मुल्ल>मूल, कार्य <कज्ज<काज, कर्म<कम्म<काम, हस्त>हत्थ>हाथ।

यह सरलीकरण का एक उदाहरण है और इससे किसी भाषा के विकास-क्रम का पता चलता है। इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए यों लगता है कि बाहरी पहाड़ी अधिक प्राचीन रूप में है और भीतरी पहाड़ी अधिक आधुनिक रूप में, क्योंकि जहाँ बाहरी शाखा में संयुक्त अक्षरों की अधिकता है, वहाँ भीतरी शाखा में उतनी ही इनकी न्यूनता है[1] :—

संस्कृत/हिन्दी	बाहरी पहाड़ी	भीतरी पहाड़ी
कार्तिक	कत्तक	काती
कर्म/काम	कम्म	काम/कोम
कज्जल/काजल	कज्जल	काजल
कर्ण/कान	कन्न	कान/कोन
मूल्य	मुल्ल	मूल/मोल
जूता	जुट्टा	जूता/जोड़ा
तिलक	टिक्का	टीका
फूल	फुल्ल	फूल

1. उदाहरण शिक्षा विभाग, राज्य भाषा संस्थान, हिमाचल प्रदेश, द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी–हिमाचली (पहाड़ी) शब्दावली' से।

फाल्गुण	फग्गण	फागण
भात	भत्त	भात/भौत
हस्त	हत्थ	हाथ/हौथ

स्पष्ट है कि बाहरी उप-शाखा चौदहवीं शताब्दी से पहले के गुण छुपाए हुए है, जबकि भीतरी पहाड़ी में वर्तमान हिन्दी के समरूप विकास प्रदर्शित है।

शब्दों के व्यवहार में भी इस बात की पुष्टि होती है। बाहरी और भीतरी के बीच क्रमिक विकास को 'ल' के प्रयोग से देखा जा सकता है--काँगड़ी आदि बाहरी उप-शाखा की बोलियों में 'ल' सुरक्षित है या 'ल़' में बदलता है। मण्डियाली में 'ल' अक्षर 'ड़' में बदलता है और कुलुई, सिरमौरी आदि भीतरी उप-शाखा की बोलियों में यह श्रुति में बदलता है। उदाहरणार्थ--हिन्दी काला>काँगड़ी काल़ा>मण्डियाली काड़ा> कुलुई, महासुई>काआ; हिं आलू>कां० आल़ू>मं० आड़ू>कु०, महा० आऊ आदि।

जहाँ तक दोनों उप-शाखाओं के अन्तर्गत विभिन्न बोलियों का सम्बन्ध है, डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार उनका सामान्य परिचय पहले दिया जा चुका है। डॉ० ग्रियर्सन द्वारा गिनाई बोलियों और उप-बोलियों में निस्सन्देह अतिशयोक्ति हुई है, इस बात को डॉ० ग्रियर्सन स्वयं स्थान-स्थान पर दोहराते हैं। उस समय वर्तमान हिमाचल क्षेत्र में बहुत सी छोटी-छोटी रियासतें थीं। 15 अप्रैल, 1948 को जब पुराने हिमाचल की स्थापना हुई तो भी लगभग 30 रियासतों का समावेश हुआ था। तत्पश्चात् बिलासपुर रियासत का विलय हुआ और एक नवम्बर, 1966 को पंजाब के कांगड़ा, कुल्लू, लाहुल-स्पिति और शिमला जिलों के संयोग से वर्तमान राज्य अस्तित्व में आया। स्पष्ट ही भूत-पूर्व रियासतों की संख्या बहुत अधिक थी। और, चूंकि बोलियों और उप-बोलियों का विवरण रियासतों पर आधारित रहा है, इसलिए इनकी संख्या अधिक होना स्वाभाविक था। भाषाओं के बारे में यह प्रसिद्ध है कि भाषा हर कोस पर बदलती है। हिमाचल प्रदेश जैसे पहाड़ी क्षेत्र में, जहाँ नदी-पहाड़ी की गहरी घाटियाँ हर वादी को एक दूसरे से प्रायः पृथक करती हैं, बोलियों में कुछ अन्तर आना स्वाभाविक है। इस प्रकार की सामान्य भिन्नताओं के अतिरिक्त अन्यथा बोलियों में अत्यधिक साम्यता स्थापित है।

भाग II

कुलुई

अध्याय—1

कुलुई : क्षेत्र और उप-बोलियाँ

कुलुई से अभिप्राय कुल्लू की बोली से है। कुल्लू हिमाचाल प्रदेश का एक जिला है जिसमें कुल्लू विशेष, भीतरी सिराज और बाह्य सिराज के क्षेत्र सम्मिलित हैं। परन्तु जहाँ तक वर्तमान अध्ययन का सम्बन्ध है, यह केवल कुल्लू विशेष से सम्बन्धित है। कुल्लू बहुत प्राचीन प्रदेश रहा है, जिस का उल्लेख और अस्तित्व रामायण और महा-भारत काल से सिद्ध होता है। पहली ईसवी सदी से लेकर लग-भग आठवीं शताब्दी तक कुलूत देश एक प्रसिद्ध राज्य रहा है। इस बात का प्रमाण उस समय की सर्वप्रसिद्ध ऐतिहासिक तथा साहित्यिक पुस्तकों में कुलूत के संदर्भ से स्पष्ट मिल जाता है। कल्हण की राजतरंगिणी, बाणभट्ट की कादम्बरी, विशाखदत्त की मुद्राराक्षस, वराहमिहर की वृहत्संहिता और ह्यू न साँग की भारत यात्रा पुस्तकों का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व किसी से छुपा नहीं है, और इन सब में कुलूत के पर्याप्त संदर्भों से इसकी ख्याति स्वयं-प्रतिष्ठित है।

परन्तु, भाषा के रूप में कुलुई शब्द का प्रयोग अधिक पुराना नहीं है। कुल्लू के लोग अपनी भाषा को कुलुई नाम से सम्भवतः बहुत पुराने समय से नहीं पुकारते थे। वे अपनी भाषा को देशी बोली कहते रहे हैं, इस बात का प्रमाण लोक साहित्य में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त 'देशी बोली' शब्द से स्पष्ट होता है—'देशी बोली देशी खाण,' 'बुरा हेरी बुझदा म्हारी सा देशा री बोली', 'देशी गधे बलायती बोली' जैसी लोकोक्तियों से तो यह भी स्पष्ट होता है कि यहाँ के लोग अपनी बोली के बारे में बड़े संरक्षणशील (Conservative) रहे हैं, तभी वे किसी को हिन्दी, उर्दू आदि भाषा बोलते हुए सुनने पर उसे देसी गधा तो विलायती बोली की उपमा देते हैं। भाषा के रूप में कुलुई शब्द का प्रयोग सम्भवतः सब से पहले एडेलुंग ने 'मिथरी डेट्स' पुस्तक में1806 में किया है। 1871 में रेव० डब्ल्यु० जे० पी० मौरिसन ने अमेरीकन औरियंटल सोसाइटी के सामने कुलु२ की शब्दावली प्रस्तुत की थी। परन्तु वह प्रकाशित न हुई लेकिन उसके बारे में रेव० एस० एच० केल्लोग ने सोसाइटी के जर्नल के खण्ड X (1871) के पृष्ठ xxxvii पर कुछ उल्लेख किया है।[1] उसके बाद ए० एच० डायक ने 'दि कुलु डायलेक्ट आफ हिन्दी' पुस्तक

1. Dr. G.A. Grierson : **Linguistic Survey of India,** Vol. IX, Part IV, p. 670.

में कुलुई बोली पर सर्वप्रथम समुचित प्रकाश डाला। इस में डायक ने कुछ लोक-गीत और शब्दावली देते हुए कुलुई के वैयाकरणिक संरचना पर अध्ययन किया है। यह पुस्तक 1896 में पहली बार छपी। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार ई० ओ'ब्राइन ने भी कुलुई तथा गादी बोलियों पर कुछ रचना लिखी थी, परन्तु वह प्रकाशित न हो सकी। पहाड़ी भाषा की बोलियों में रेव० टी० ग्राहेम बेली ने सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने अन्य बोलियों के साथ-साथ कुलुई पर भी 1908 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "लेंग्वेजिज़ आफ दि नार्दर्न हिमालायाज़" में पूरा विवरण प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् डायक और बेली के कार्यों का लाभ उठाते हुए डॉ० ग्रियर्सन ने "लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया" खण्ड IX भाग IV के पृष्ठ 669 से 713 तक कुलुई का व्याकरण प्रस्तुत किया है। हाल ही में डॉ० पद्मचन्द्र काश्यप ने अपनी रचना में कुलुई का संक्षिप्त परिचय देते हुए कुलुई विशेष तथा सतलुज समूह के बीच सामान्य अन्तर दर्शाया है।[1]

जिस प्रकार कुल्लू की देवभूमि अपने प्राकृतिक सौंदर्य और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए प्रसिद्ध है, उसी प्रकार कुलुई बोली भी अपने वैयाकरणिक और शाब्दिक समृद्धि तथा व्यापकता के लिए अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। डॉ० ग्रियर्सन स्वयं लिखते हैं कि कुलुई और क्योंथली-बघाटी पश्चिमी पहाड़ी भाषा की विशिष्ट बोलियाँ हैं और पश्चिमी पहाड़ी की जो प्रमुख विशेषताएं उल्लिखित हैं, वे इन दोनों बोलियों पर आधारित हैं।[2] वास्तव में पश्चिमी पहाड़ी भाषा का मूल वे कुलुई बोली मानते हैं, क्योंकि जहाँ वे एक ओर कुलुई को क्योंथली-बघाटी के साथ पश्चिमी पहाड़ी की विशिष्ट बोली मानते हैं, वहाँ इसका महत्व पुनः प्रकाशित करते हुए लिखते हैं—

(i) मण्डियाली बोली **दक्षिणी कुलुई** का एक रूप है, जो आगे चल कर काँगड़ी-पंजाबी में विलीन हो जाता है;

(ii) चम्बयाली बोली **कुलुई** का वह रूप है जिसका बाद में जम्मू की डोगरी और भद्रवाही के साथ विलयन हो जाता है।[3]

कुलुई का विस्तार क्षेत्र—

इसमें संदेह नहीं कि हर भाषा या बोली अपने विशेष भौगोलिक सीमा तक सीमित नहीं रहती। उसका पास-पड़ौस की भाषाओं पर प्रभाव पड़ता है, इसी प्रकार जिस प्रकार उनका असर इस पर पड़ता है। परन्तु डॉ० ग्रियर्सन का यह विचार कि (क) कुलुई बोली क्योंथली-बघाटी के साथ पश्चिमी पहाड़ी की मूल बोली है, (ख) मण्डियाली बोली कुलुई का दक्षिणी रूप है जो आगे निकल कर कांगड़ी में प्रसारित होता है तथा (ग) चम्बयाली भी कुलुई का ही रूप है, कुलुई की मूलभूत विशिष्टता तथा उसके प्रभावी महत्व को भली प्रकार प्रकट करता है।

इस प्रकार कुलुई का वास्तविक तथा प्रभावी सीमा-क्षेत्र दोनों बहुत विस्तृत हैं।

1. डा० पद्मचन्द्र काश्यप: कुल्लुई लोक साहित्य, पृ० 220–231.
2. डा० ग्रियर्सन : लिग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया खण्ड IX, भाग IV पृ० 375.
3. वही, पृ० 375.

डॉ० पद्मचन्द्र काश्यप के अनुसार तो 'मोटे तौर पर इस (कुलुई) उपभाषा का क्षेत्र अपनी कई बोलियों के रूप में सारे कुल्लू ज़िला मे लेकर महासू (वर्तमान शिमला) ज़िला के उत्तर में, रामपुर तहसील में सराहन, पूर्वोत्तर में कोटखाई, जुब्बल, थरोच और दक्षिण में बलसन, ठ्योग तथा फागु तक है।[1] डॉ० ग्रियर्सन ने जिस ढंग से भाषा-क्षेत्र का विभाजन किया है, उसके अनुसार कुल्लू तहसील, सेंज और भीतरी सिराज की बोलियां कुल्लू समूह में तथा बाह्य सिराज, शाँगरी, कुम्हारसेन, बुशहर का दक्षिणी भाग तथा कोटगढ़ की बोलियाँ सतलुज समूह में पड़ती हैं। भौगोलिक और प्रशासनिक दृष्टि से सतलुज नदी कुल्लू और शिमला ज़िलों के बीच सीमारेखा स्थापित करती है। भाषाई दृष्टि से भी सतलुज नदी काफी हद तक कुलुई और महासुई के बीच विभाजन-रेखा का काम करती है। परन्तु भाषा भूगोल और प्रशासन के कृत्रिम अवरोधों में जकड़ी रहने वाली वस्तु नहीं है। बाह्य सिराज और सतलुज नदी की दूसरी ओर शाँगरी, कुम्हारसेन, रामपुर बुशहर तथा कोटगढ़ के निवासियों के बीच आदिकाल से लेकर सामाजिक आदान-प्रदान बहुत घनिष्ट और तादात्मक रहा है, और इस पारस्परिक सामाजिक गूढ़ सम्पर्कों के कारण कुलुई-सिराजी का प्रभाव सतलुज नदी की दूसरी ओर के समीप लगते क्षेत्रों पर काफी पड़ा है। यही कारण है, डॉ० ग्रियर्सन ने इस क्षेत्र की बोली को क्योंथली (महासुई) से अलग करके इसे कुलुई और क्योंथली के बीच सेतु का काम करने वाली बताया है।

इसी प्रकार कुलुई बोली का क्षेत्र कुल्लू ज़िले की पश्चिमी सीमा पर समाप्त नहीं होता। भौगोलिक और प्रशासनिक रूप से सारी जोत कुल्लू और काँगड़े ज़िलों के बीच सीमा रेखा निर्धारित करता है। परन्तु भाषाई प्रभाव को सारी जोत रोक नहीं सका है। सारी जोत की दूसरी ओर कोठी कोहड़-सुआड़ क्षेत्र की बोली भी पूर्णतः कुलुई है, यहाँ तक कि काँगड़ी बोली के कोई विशिष्ट लक्षण इसमें विद्यमान नहीं हैं।

इस प्रकार कुलुई बोली के समस्त क्षेत्र को मुख्यतः तीन उप-मण्डलों में बाँटा जा सकता है—जोत रोहताँग के निकट व्यास नदी के स्रोत से लेकर उसकी दोनों ओर औट तक व्यास-नदी क्षेत्र, (2) भीतरी सिराज तथा (3) बाह्य सिराज। सारा क्षेत्र लग-भग 31° तथा 32° उत्तरी अक्षाँश और 76° तथा 78° देशान्तर के मध्य स्थित है। डॉ० ग्रियर्सन ने अपने भाषा सर्वेक्षण में 1891 की जनगणना के अनुसार कुलुई बोलने वालों की संख्या 84,631 बताई है, जिस में बाह्य सिराज की जनसंख्या शामिल नहीं है। उस समय बाह्य सिराज की जनसंख्या लग-भग 20,000 थी। इस प्रकार समस्त कुलुई क्षेत्र में 1891 की जनगणना के अनुसार 1,04,631 जनसंख्या थी। 1961 तथा 1971 की जनगणना में कुल्लू की जनसंख्या क्रमशः 1,52, 925 तथा 1,92,348 है। समस्त कुलुई-भाषी क्षेत्र 5,455 वर्ग किलोमीटर में फैला है।

समस्त क्षेत्र पहाड़ियों और नदी-घाटियों में विभक्त है। उत्तर में लाहुल के साथ इसकी सीमा रोहताँग दर्रा तथा उसकी ऊँची चोटियाँ है जो कुछ मील उत्तर-पश्चिम की ओर चल कर दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ती है और आगे बढ़ती हुई काँगड़ा ज़िला के

1. डा० पद्मचन्द्र कश्यप : कुल्लुई लोक साहित्य, पृ० 221.

बड़ा और छोटा बंघाल क्षेत्र के साथ सीमा बाँधती है । इस शृंखला के जोत सारी पर पहुंचते ही कुलुई बोली बंघाल के क्षेत्र कोठी कोहड़-सुआड़ में घुस-पैठ करती है । यह पर्वत शृंखला आगे चल कर मंडी के साथ सीमा बाँधती है । भवू जोत, तारापुर गढ़ तथा कंडी जोत होती हुई यह पर्वत शृंखला नीची होती हुई औट के निकट पहुँचती है । रोहताँग से औट तक यह कुलुई की उत्तर-पश्चिमी, तथा पश्चिमी सीमा है । वहीं से लारजी के निकट लारजी तथा व्यास के संगम से पुनः दक्षिण की ओर बढ़ती है, वहीं से पर्वत शृंखला धीरे-धीरे ऊँची चढ़ती हुई जलोड़ी जोत पर सबसे अधिक ऊंची हो जाती है । यह शृंखला आगे निकलती हुई अभी भी मण्डी के साथ सीमा बाँधती है, यहाँ तक कि यह बेहणा के निकट सतलुज से जा मिलती है । उससे आगे सतलुज नदी महासुई के साथ सीमा बाँधती है जो रामपुर बुशहर तक पहुँचती है । उससे आगे उत्तर की ओर चढ़ती हुई ऊँची पर्वत शृंखला स्पिति के साथ सीमा बाँधती हुई आगे लाहुल में निकल कर रोहताँग पहुंचती है । इस प्रकार इसके उत्तर में लाहुल, उत्तर-पश्चिम में काँगड़ा, पश्चिम में मण्डी, दक्षिण में शिमला तथा पूर्व में स्पिति के क्षेत्र पड़ते हैं ।

कुलुई में साहित्य का अभाव

कुलुई में कोई प्राचीन साहित्य लिखा है या नहीं, इसके बारे में कोई खोज नहीं हुई है । परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसमें किसी साहित्य की रचना नहीं हुई है । मि० एच० ए० रोज़ ने पंजाब तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबीलों तथा उपजातियों का वर्णन करते हुए, अपनी पुस्तक की भूमिका में कुल्लू का विशेष हवाला देते हुए लिखा है कि कुल्लू के बारे में यह कहना उचित न होगा कि वहाँ कोई साहित्य नहीं लिखा गया है । अवश्य ही साहित्य की रचना हुई होगी ।[1] कुल्लूवादी आदि काल से ऋषि-मुनियों तथा देवताओं की भूमि रही है । यहाँ की जनता धर्मशील और सत्यनिष्ठ रही है । ऋषि और देवस्थानों से धर्म-उपदेश, व्याख्यान और प्रचार जरूर प्रसारित होते रहे होंगे । अतः यदि खोज की जाए तो कुछ लिखित साहित्य के मिलने की पूरी सम्भावना है । श्री चन्द्रशेखर बेबस ने इस सम्बन्ध में संकेत भी किया है, और इस दिशा में उन द्वारा हिम-भारती में उद्धृत कुछ सामग्री हमारी सम्भावना को आशातीत बनाती है ।[2]

जहाँ तक लोक साहित्य का सम्बन्ध है, कुलुई एक समृद्ध बोला है । अपने लोक गीत तथा लोक नाट्य के सम्बन्ध में कुल्लू देश भर में प्रसिद्ध है । डॉ० पद्मचन्द्र काश्यप ने कुलुई लोक साहित्य पर शोध कार्य करके पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है, और आशा है शीघ्र ही अन्य शोधकर्ता इस दिशा में और प्रकाश डालेंगे ।

---

1. H. A. Rose : Tribes and Castes of Punjab and N. W. F. Province, Preface p. ix.
2. 'हिम-भारती' त्रैमासिक पत्रिका, मार्च, 1972 अंक, पृ० 50.

कुलुई की उपबोलियाँ

डॉ० ग्रियर्सन ने कुलुई की तीन उप-बोलियाँ बताई हैं—**कुलुई विशेष, भीतरी सिराजी और सेंजी**। परन्तु सेंजी को अलग उपबोली मानने के कोई स्पष्ट गुण नहीं है। डॉ० ग्रियर्सन स्वयं लिखते हैं कि सेंजी सर्वेक्षण के आरम्भिक कार्यों में कोई अलग बोली ध्यान में नहीं आई है, और न ही इसके कोई नमूने या शब्दावली प्राप्त हुए हैं। उनका कहना है कि ग्राहेम बेली की पुस्तक से लगता है कि सेंजी एक अलग बोली है और उसी को सर्वेक्षण में उद्धृत किया जा रहा है।[1] स्वयं वे सेंजी को भीतरी सिराजी का अभिन्न रूप मानते है, और यह सच भी है। सेंजी और भीतरी सिराजी में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसके अलावा बाह्य-सिराजी को कुलुई की ही उप-बोली माना जाना चाहिए।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है जिस कुलुई का यहाँ विस्तार से अध्ययन हो रहा है वह कुलुई-विशेष है जो प्रमुखतः कुल्लू तहसील (मलाणा को छोड़कर) में बोली जाती है। बाह्य-सिराजी और भीतरी सिराजी इसकी मुख्य दो उप-बोलियाँ हैं। आदर्श कुलुई से भीतरी और बाहरी सिराजी जिन बातों में भिन्न हैं, नीचे उनका उल्लेख किया जाता है :—

(1) संज्ञा

भीतरी पहाड़ी की सभी बोलियों में 'अ' को 'औ' में बदलने की प्रवृत्ति है। कुलुई में यह गुण विशिष्ट है। परन्तु बाह्य और भीतरी सिराजी में कहीं-कहीं इस प्रवृत्ति के अपवाद मिलते हैं, जैसे कु० हौथ, भी० सि० में हौथ और हाथ दोनों प्रचलित हैं और बा० सि० में केवल हाथ प्रचलित है। इसी तरह कु० दौंद, औठ, औग, घौर, न्हौश, मौर, हौछी, बौकरा, तौता आदि बा० सि० में क्रमशः दाँद, आठ, आग, घर, न्हाश, मर, हाछी. बाकरा, ताता तथा भी० सि० में दोनों तरह के रूप प्रचलित हैं।

कुलुई विशेष में आकारान्त ध्वनि हिन्दी की तरह है। परन्तु दोनों सिराजी उपबोलियों में, और विशेषतः बाह्य-सिराजी में, शब्द के अन्त का 'आ' स्वर 'औ' में बदलता है। जैसे—कुलुई में कुता, गधा, घोड़ा, दिहाड़ा (दिन), शेता (श्वेत), बोडा (बड़ा), बेज़ा (बीज) आदि बा० सि० में विशेषतः तथा भी० सि० में प्रायः कुतौ, गधौ, घोड़ौ, धियाड़ौ, शेतौ, बाडौ, बेज़ौ में बदलते हैं। बाह्य-सिराजी में सामान्य क्रिया के रूप भी औकारांत हो जाते हैं जबकि कुलुई में ये हिन्दी के समान रहते हैं और भीतरी सिराजी में दोनों तरह के रूप प्रचलित हैं, वहां वास्तव में 'औ' की ध्वनि 'आ' और 'औ' के बीच की है, जैसे—बा० सि० बेशणौ, डिउणौ, हांडणौ, झूटणौ, चारणों कुलुई में क्रमशः बेशणा (बैठना), डीणा (जाना), होंडणा (चलना), झूटणा (पीना), चारना (चराना) आदि।

---

1. डॉ० ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, खण्ड नौ, भाग चार, पृ० 701.

कारक

भीतरी पहाड़ी की सभी अन्य बोलियों की तरह कुलुई, भीतरी तथा बाह्य सिराजी में बहुवचन का विकारी रूप वही होता है जो एक वचन का विकारी रूप होता है। परन्तु बाह्य सिराजी के कारक-प्रत्ययों में कुछ भिन्नता है। कुलुई तथा भीतरी सिराजी में कर्म तथा सम्प्रदान का प्रत्यय बें है परन्तु बाह्य सिराजी में लें प्रयुक्त होता है। कुलुई तथा भी० सि० में सम्बन्ध का प्रत्यय रा-रे-री है जब कि बा० सि० में यह ओ-ए है। कुलुई तथा भीतरी सिराजी में करण 'ए', 'सोंगे', अपादान 'न' तथा अधिकरण 'मोंझे', 'पांधे', 'न' प्रत्ययों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, जो बाह्य-सिराजी में क्रमशः 'के', 'का' तथा 'दी' द्वारा प्रतिस्थापित होते हैं।

विशेषण

विशेषणों में कोई अन्तर नहीं है, सिवाय इसके कि बाह्य सिराजी में आकारान्त विशेषण संज्ञाओं की तरह ही औकारान्त में बदलते हैं, जैसे—जौ घोड़ौ हेरनालें बड़ौ अच्छौ और बलवान तौ 'वह घोड़ा देखने को बड़ा अच्छा और बलवान था।'

सर्वनाम

अन्य गुणों की तरह ही सर्वनामों के क्षेत्र में भी भीतरी सिराजी अन्य दोनों कुलुई और बाह्य सिराजी के बीच सेतु का काम करती है। कर्ताकारक अविकारी रूप में सभी बोलियों में सब सर्वनाम समान हैं। एक वचन में विकारी रूप भी प्रायः समान है अर्थात् उत्तम पुरुष हाऊँ से मूँ, मध्यम पुरुष तू से तौ तथा अन्य पुरुष सो से तेई में बदल जाते हैं। परन्तु उत्तम तथा मध्यम पुरुष के बहुवचन में कुछ भेद विद्यमान है। कुलुई में स-युक्त रूप प्रचलित हैं और बाह्य सिराजी में म-युक्त, जबकि भीतरी सिराजी में दोनों तरह के रूप प्रयुक्त होते हैं। कुलुई में हाऊँ से आसे तथा तू से तुसे बहुवचन रूप बनते हैं जो क्रमशः आसा तथा तुसा में विकृत हो जाते हैं, जब उनके साथ कारक प्रत्यय लगते हैं। बाह्य सिराजी में हाऊँ या हूँ से हामे तथा तू से तुमे बहुवचन रूप हैं तथा कारक प्रत्यय के साथ ये हामा और तुमा में बदल जाते हैं। इस प्रकार जहाँ कुलुई में आसा-बे, आसा-न, आसा पाँधे; तुसा-बे, तुसा-न, तुसा-पाँधे रूप प्रचलित हैं, वहाँ बाह्य सिराजी में हामा-का, हामा-ले, हामा-दी; तुमा-का, तुमा-ले, तुमा-दी रूपों का प्रयोग है, और भीतरी सिराजी में ये दोनों प्रकार के रूप साथ-साथ प्रचलित हैं। सम्बन्धकारक की स्थिति में कुलुई में भी दोनों रूप साथ-साथ प्रचलित हैं; कुलुई में आसा-रा भी कहा जाता है और म्हारा भी।

क्रियापद

पहाड़ी की सभी बोलियों में सहायक क्रिया के रूप सं० अस् धातु से विकसित हुए हैं। जौनसारी, सिरमौरी, बघाटी तथा महासुई में वह रूप अंसो, औसो या आसा

प्रचलित है । बाह्य सिराजी में आसा में 'सा' का लोप हो गया है, अथवा 'स' धीमे 'ह' में बदल चुका है । 'श' का 'स' और 'स' का 'ह्' में बदलने का नियम अन्यत्र दिया जा चुका है । अतः बाह्य सिराजी में 'औसा' 'आसा' में से पूर्व अक्षर 'औ' या 'आ' ही सहायक क्रिया का सर्वाधिक प्रचलित रूप है। यह 'औ' या 'आ' लिंग वचन या पुरुष के आधार पर नहीं बदलता । इसके विपरीत कुलुई में 'औसा' या 'आसा' का पूर्व अक्षर लुप्त होकर अन्तिम अक्षर 'सा' सहायक क्रिया का काम देता है । 'सा' केवल वचन के आधार पर बदलता है जब 'सा' से 'सी' शब्द हिन्दी 'हैं' का अर्थ देता है। भीतरी सिराजी में भी यही 'सा' सहायक क्रिया है।

कुलुई में सहायक क्रिया का भूतकालिक रूप 'थी' है जिसका कहीं-कहीं उच्चारण 'ती' भी मिलता है। 'थी' सभी लिंग, वचन और पुरुष में समान रूप से प्रचलित है। इस में किसी तरह का विकार नहीं आता। भीतरी सिराजी में भी यही रूप प्रयुक्त होता है। परन्तु बाह्य सिराजी में ऐसी स्थिति नहीं है। यहाँ भूतकालिक सहायक क्रिया का रूप 'तौ' या 'ता' है। पुल्लिग बहुवचन में 'तौ' प्रायः तै में बदलता है, और स्त्रीलिंग की स्थिति में दोनों एक और बहुवचन के लिए 'ती' रूप प्रयुक्त होता है ।

अध्याय—2

कुलुई की शब्द सम्पत्ति

भाषा का विषय प्रायः शुष्क और नीरस अध्ययन होता है, परन्तु इस दिशा में कुलुई बोली एक अपवाद है। इसका अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक और रुचिकर है, जिसके मुख्य लक्षण इसमें समाविष्ट विभिन्न प्रकार के तत्त्व हैं। और इस विभिन्नता का मुख्य कारण यह है कि कुलुई बोली भिन्न परिवार की भाषाओं से घिरी हुई है। उत्तर में यह लाहुल और स्पिति की भाषा से संलग्न है, जो तिब्बती-बर्मी परिवार से सम्बन्ध रखती है। इसके पश्चिम में किन्नौरी भाषी क्षेत्र है जो किरात और मुण्डा भाषाओं का मिश्रण है। साथ ही मलाणा का कनाशी भाषी क्षेत्र पड़ता है जिसका भाषा की दृष्टि से अपना ही महत्त्व है। इसी क्रम से कुलुई के दक्षिण में महासुई तथा पश्चिम की ओर मण्डियाली और कांगड़ी बोलियाँ पड़ती हैं जो भारतीय-आर्य परिवार की पहाड़ी भाषा की बोलियाँ हैं। कुलुई बोली को अपने वर्तमान रूप तक पहुँचने के लिए जिन परिस्थितियों में से गुज़रना पड़ा है, वे स्वाभाविकतः तथा स्पष्टतः वही हैं जिनका उल्लेख पहले ही पहाड़ी भाषा के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में सविस्तार किया गया है। हम यह देख चुके हैं और भली प्रकार जानते हैं कि जहाँ इस क्षेत्र में प्रागैतिहासिक काल में यक्ष, नाग, वानर, पिशाच, दैत्य, दानव और उसी तरह बाद में गन्धर्व, किन्नर, किरात, भील, कोल आदि जातियों का बोलबाला रहा हैं, और उनकी बोली के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता, वहाँ इतिहास के प्रारम्भिक काल से लेकर यह क्षेत्र वैदिक ऋषि-मुनियों की तपोभूमि तथा देवस्थान रहा है, और आर्य भाषा वैदिक, लौकिक प्राकृतिक तथा अपभ्रंश रूप से गुज़रती हुई हम तक पहुँची है। इस लम्बी अवधि में इतिहास ने कितनी ही करवटें ली हैं, बेशुमार उथल-पुथल देखे हैं और असंख्य संघर्षों का सामना किया है। इतिहास साक्षी है कि भारत में आदि काल से लेकर आर्यों के प्रतिष्ठित हो जाने के बाद ग्रीक, शक, हूण, मिस्र, इरानियों, अरबों, तुर्कों, पठानों, मुगलों, पुर्तगाल डच, फ्रेंच और अंग्रेजों के आगमन और आक्रमण हुए। वे स्वयं भारत की संस्कृति और भाषा से प्रभावित हुए, और साथ ही उन्होंने यहाँ की भाषा-संस्कृति को प्रभावित किया। सैकड़ों वर्षों तक उनके संगठित शासन प्रचलित रहे हैं। स्वाभाविकतः यहाँ के आदि और मूल निवासियों के साथ बाहर से आए विदेशी भाषा बोलने वालों, जिन्होंने स्थायी रिहायश की, के साथ सम्पर्क और सम्बन्ध स्थापित रहे हैं। मूल निवासियों और बाहर

से आए विदेशियों के पारस्परिक सम्बन्ध और सामाजिक आदान-प्रदान से भाषा में जो रेलपेल हुई है उसके परिणामस्वरूप वर्तमान भाषा में कई तत्वों का समावेश लक्षित होता है।

कुलुई बोली इस दिशा में अपवाद नहीं हो सकती। इस पर भी वे सभी प्रभाव पड़े हैं जो देश की अन्य भाषाओं और बोलियों पर पड़े हैं। अत: संस्कृत, प्राकृत, देशी, फारसी, अरबी, अंग्रेजी आदि कई भाषाओं से कुलुई के शब्द-भण्डार में वृद्धि हुई है। इसकी शब्द सम्पत्ति का हम निम्नलिखित शीर्षकों में अध्ययन कर सकते हैं :—

(1) तत्सम शब्द,
(2) तद्भव शब्द,
(3) देशी शब्द,
(4) विदेशी शब्द,
(5) अनार्य भाषाओं के शब्द,
(6) आधुनिक भारतीय भाषाओं से उधार लिए शब्द।

(1) तत्सम शब्द

तत्सम का अर्थ है उसी समान। अत: तत्सम शब्दों से अभिप्राय उन शब्दों से है जो संस्कृत से ठीक उसी रूप में वर्तमान भाषाओं या बोलियों में प्रयुक्त होते हों। तत्सम शब्द प्राय: दो तरह से आते हैं। एक साहित्य के माध्यम से दूसरे बोल-चाल के माध्यम से। साहित्य लिखते हुए बहुत से शब्द ठीक संस्कृत रूप में ही लिखे जाते हैं और बाद में वे आम बोलचाल के शब्द बन जाते हैं। दूसरे शब्द वे हैं जो आरम्भ से ही उसी रूप में आए हों चाहे रीति-रिवाज में विशिष्ट शब्दों के कारण या आम बोलचाल में पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रयोग के कारण।

कुलुई में साहित्य रचना नहीं मिलती, इस बात का पहले भी उल्लेख किया गया है। फिर भी, इसमें अनेक संस्कृत शब्द ऐसे हैं जो बिना किसी विकार के आज तक प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं। ये शब्द कुल्लू के लोगों को संस्कृत से पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी रूप में संस्कृत से विरासत में मिले हैं। इनमें से कुछेक शब्द इस प्रकार हैं :—

अंग, अंत, अति, अन्न, अम्बर, आशा, आत्मा, आदर, इंद्र, ऋषि, ऋण, एक, ओर, ओम्, ज्ञान (गुरू नी ज्ञान, खोंज़ू मुसल कूट्ट धान), कण, काया, काल, कपट, कील, कुण्ड, क्रोध, कथा, क्षुद्, कर्म, खार (चार खार नाज़), खुर, गुण, गुरु, गीत, गोत्र, ग्रह, गति, घोर, चूष्, चूर्ण, चिह्न, जाल, जंत्र, डी, ढौक, डोर, ताप, तारा, तुर, तंत्र, ते त्राण, तोल, तुलसी, तिल, तालु, त्याग, तीर्थ, तपस्या, दया, दयालु, देश, दूत, द्वार, देह, दाह, दूर, द्रोह, दान, देव, देवी, दोष, दशा, दुह, धन, धार, धूप (धूपणा), धर्म, धार (पाणी री धार), धाना, ध्यान, नाग, नाश, नारद, नीति, नरक, नगर, पाप, पाठ, पूजा, पाश, पशु, प्रेत, पंच, पिष्, प्राण, प्रचार, बिल, बिंदु, बल, बुद्धि, भोजन, भोग, भीति, भाग, भाष् (देऊबे भाषणा), मन, माया, मणि, मुक्ति, माघ, मिश, माला, मुण्ड, मुसल, मोह, मूर्ति, मान, मांस, मंत्र, मुख, मेल, महात्मा, मिश (गुस्सा), मूल, राशि, रोग, मित्र, रुध्

(जैसे कौखे रुधू होला), रथ, रंग, राग, रस, राहु, राशि, रोष, रेखा, रुच् (रुचणा), रुष् (रुषणा), रोप, राम, लोक, लेख, लग्न, लीला, लेप, शूल, शिला, शंख, शोभा, शिघ्, शुक (शुकणा), शेष, शिव, शिवरात्रि, शील, संग, समेत, सन्त, साधू, सुख, सवत, सूत्र, हल, स्वाद, हवन, सूतक (जैसे सूतक न्हौठा) आदि ।

कुलुई में बहुत-सी संस्कृत की तत्सम धातुएँ प्रयोग में आती हैं । संस्कृत में मूल धातु का केवल अन्य रूप बनाने का काम होता है, अपने-आप में ठीक उसी रूप में संस्कृत धातु प्रयोग में नहीं आती है । परन्तु कुलुई में संस्कृत तत्सम धातु आज्ञार्थ में ठीक उसी रूप में प्रयोग में आती है, जैसे—सं० कील्, कुलुई में 'एईबे कील' (इसको कील दो), सं० चूष् कुलुई में 'पाणी चूष' (पानी को चूस), सं० शिघ् कुलुई में 'बास शिघ' (गंध ले) आदि । कुछ तत्सम शब्दों का अर्थ किंचित इधर-उधर हो गया है, उदाहरणार्थ, संस्कृत में √क्षुद्' का अर्थ हिलाना, हटाना, खिसकाना है, कुलुई में इसका अर्थ हटाकर साफ करना है । इसी तरह संस्कृत में √डी' का अर्थ 'उड़ना' या 'जाना' है, कुलुई में इसका अर्थ केवल 'जाना' रह गया है । संस्कृत में √तुर' का अर्थ 'दौड़ना', 'दबाना', 'आगे धकेलना' है, परन्तु कुलुई में 'आगे घुस जाना' है । वैदिक संस्कृत में √ढौक' का अर्थ 'पहुँचना', 'निकट लाना', 'प्रस्तुत करना' है । कुलुई में 'ढौक' आम प्रचलित शब्द है, जिसका अर्थ 'पकड़ना' है—कताब ढौक 'किताब पकड़' । इसी तरह संस्कृत में 'त्राण' का अर्थ 'रक्षा' है, परन्तु कुलुई में इसका अर्थ 'शक्ति' हो गया है, जैसे—प्राण सी त्राण नी रौहू 'प्राण है, शक्ति नहीं रही' ।

ऊपर के विवरण में दिखाए सभी आम बोल-चाल के शब्द हैं । तत्सम शब्दों में दिन-प्रति-दिन वृद्धि हो रही है । इसका मुख्य कारण शिक्षा का प्रसार है । ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रसार होता जा रहा है, तत्सम शब्दों में वृद्धि होती जा रही है । इस वृद्धि की दो दिशाएँ हैं । प्रथम दिशा में शिक्षित व्यक्तियों के उच्चारण का अशिक्षित व्यक्तियों के उच्चारण पर प्रभाव हो जाने के कारण शुद्ध उच्चारण प्रयोग होने लगे हैं । यदि कुछ वर्षों पहले अशिक्षित समाज में अमरत, आतमा, इंदर, मंतर, जंतर, तंतर, रतन, गरिह शब्दों का प्रयोग था अब शुद्ध अमृत, आत्मा, इंद्र, मंत्र, यंत्र, तंत्र, रत्न, गृह (गृह पूजा) उच्चारण अधिक सुनने में आते हैं । यह प्रवृत्ति ध्वनि के शिथिल स्वरूप से तीव्र स्वरूप की ओर अधिमानता के कारण भी है । इसका एक और लाभ भी देखने में आ रहा है । जहाँ मामूली-मामूली दूरी पर ही, बल्कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, उच्चारण-भेद दिखाई देता था, अब वह भेद भी बड़ी तेजी से समाप्त होता जा रहा है । जहाँ कुछ लोग दौशा, तौप, नौगर, बौल, रौथ, धौर्म, कौथा, नौरक, ओंग, शौंख, रौस, मौन शब्द बोलते थे, तथा अन्य क्रमशः दैशा, तैप, नैगर, बैल, रैथ, धैर्म, कैथा, नैरक, ऐंग, शैंख, रैस, मैन आदि उच्चारण किया करते थे, वहाँ अब सभी एक जगह आकर अधिकतः प्रयुक्त रूप दशा, तप, नगर, बल, रथ, धर्म, कथा, नरक, अंग, शंख, रस, मन उच्चारण समझते और करते हैं ।

तत्सम शब्दों की वृद्धि की दूसरी दिशा साहित्यिक रचना के क्षेत्र से सम्बन्धित है । हाल ही में कुलुई में छुट-पुट साहित्यिक रचनाएँ हो रही हैं । इन रचनाओं के

माध्यम से नये तत्सम शब्द आम बोल-चाल की भाषा में भी आने लगे हैं। इसके परिणाम-स्वरूप जहां एक ओर नये तत्सम शब्द बोल-चाल की भाषा का रूप धारण कर रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर बहुत से तद्भव शब्द तत्सम रूप धारण करने लगे हैं। अब नरायण पतिष्ठा, जयकार, निरिकार, मसांत, नौतरे शब्द क्रमशः नारायण, प्रतिष्ठा, जयकार, निराकार, मासांत, नवरात्रि बन गए हैं।

(2) तद्भव शब्द

तद्भव का अर्थ है 'उससे उत्पन्न' या 'उसके अनुरूप'। अर्थात तद्भव वे शब्द हैं जो संस्कृत शब्दों के ठीक समान नहीं हैं, बल्कि उनमें कुछ भेद आ गया है। परन्तु यह भेद विशेष क्रम से आया होता है। जब वैदिक भाषा लौकिक संस्कृत में, संस्कृत भाषा प्राकृत में, प्राकृत भाषा अपभ्रंश में, और अपभ्रंश भाषा वर्तमान विभिन्न आधुनिक आर्य भाषाओं में परिवर्तित हुई थी, तो इस परिवर्तन का विशेष क्रम रहा है। शब्द रूपों के ये परिवर्तन विशेष गति से होते रहे हैं, और ये परिवर्तन शब्द रूपों के अनुसार विभिन्न नियमों से घटित हुए हैं। उदाहरणार्थ, एक नियम यह रहा है कि जब प्राचीन भारतीय आर्य भाषा अर्थात् संस्कृत के किसी संयुक्त अक्षर से पूर्व लघु स्वर होता था तो बाद की भाषाओंमें सरलीकरण की प्रवृत्ति रही है ओर इस प्रवृत्ति में संयुक्त अक्षर एकअक्षर में बदल गया, परन्तु छोड़े गए अक्षर की क्षतिपूर्ति में संयुक्त अक्षर से पूर्व का लघुस्वर दीर्घस्वर में बदल गया—जैसे'अद्य'से'आज','कर्म'से 'काम', 'सप्त' से 'सात'आदि। परन्तु सरलीकरण की इस प्रवृति में संयुक्त या द्वित्व से पूर्व ह्रस्व स्वर के दीर्घ में बदलने और संयुक्त में से एक के लोप होने का नियम एकदम प्रचलित नहीं हुआ था। इससे पूर्व ही दूसरा रूप भी बना था, जिसमें द्वित्व अक्षर तो बना रहा, परन्तु कुछ परिवर्तित रूप में और वह भी केवल ह्रस्व स्वर के बाद। इस प्रकार आधुनिक भाषाओं में तद्भव शब्द तीन चरणों में से होकर पहुँचे हैं—(1) संस्कृत > (2) आरम्भिक प्राकृत > (3) बाद की प्राकृत। या यों कह सकते हैं कि संस्कृत > प्राकृत > आधुनिक। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं, जैसे—अद्य > अज्ज > आज, पृष्ठ > पिट्ठ > पीठ, कर्म > कम्म > काम, सप्त > सत्त > सात आदि। कुलुई में अनेक तद्भव शब्द हैं, उदाहरणार्थ कर्ण > कोन, हस्त > हौथ, गर्भ > गौभ, ह्यस् > हीज, द्युति > दोथी, अक्षर > आखर, मस्तक > मौथा, अस्ति > औथी, पस्त्य > पौथा, प्रस्तर > पाथर, वार्त्ता > भारथा, वर्तिक > बौती आदि। परन्तु कुलुई के सभी तद्भव शब्द ठीक प्राकृत नियमों के अनुसार विकसित हुए हों, ऐसी बात नहीं है। किसी भी भाषा या बोली में ठीक प्राकृत नियमों से तद्भव शब्द बने नहीं मिलते हैं। हर भाषा या बोली के अपने नियम रहे हैं, या विभिन्न नियम प्रचलित रहे हैं, शब्द-रूप के विकास के कई नियम रहे हैं, जिनमें से एक उदाहरणार्थ 'त' अक्षर लीजिए। आरम्भ में 'त' सुरक्षित था। बाद में 'त' अक्षर 'द' में बदला और अन्तिम चरण में 'द' फिर 'अ' में बदला या लुप्त हो गया। परन्तु यह प्रवृत्ति न सभी भाषाओं में समान थी और न ही एक ही भाषा में सभी शब्दों में ऐसा परिवर्तन समान रूप से प्रचलित हुआ।

यही कारण है कि कुछ शब्द रूपों को विद्वानों ने तद्भव न कहकर अर्ध-तत्सम

कहा है । अर्थात् जो शब्द तद्भव के नियमों के अनुसार न बनकर अन्य रूप में विकसित हुए उन्हें अर्ध-तत्सम कहा गया है । उदाहरणार्थ तद्भव रूपों के नियमों के अनुसार संस्कृत कृष्ण से कण्ण > काण्ह > कान्ह रूप बनने चाहिए और बने भी । परन्तु साथ ही कृष्ण से किसण > किसनु रूप भी बने । ये अर्ध-तत्सम रूप हैं । धर्म से तद्भव रूप धम्म होना चाहिए या धाम । परन्तु शब्द धरम प्रचलित है जो अर्ध-तत्सम है । कुलुई में तद्भव और अर्ध-तत्सम दोनों तरह के अनेक शब्द विद्यमान हैं । ऐसे भी रूप हैं जो न मूल तद्भव नियमों से बने हैं, न अर्ध-तत्सम नियम से, वरन् अपने ही नियम से व्युत्पन्न हुए हैं । जैसे संस्कृत सर्षप से तद्भव रूप इस प्रकार बने—सर्षप > सस्सप > सस्सव > सासौं । इसी से अर्धतत्सम रूप इस प्रकार विकसित हुए—सर्षप > सरिसव > सरिसो > सरसों[1] । परन्तु कुलुई में इसके रूप इस प्रकार व्युत्पन्न हुए हैं—सर्षप < शाप > शाव > शाअ > शाई ।

अतः संस्कृत शब्द चाहे किसी रूप में, तत्सम के अतिरिक्त अन्य तरह से, फेर-बदल के साथ आज विद्यमान हैं वे सभी तद्भव ही कहे जाने चाहिए । कुलुई में तद्भव शब्द असंख्य हैं । उन सबको प्रस्तुत करना यहां जगह इजाज़त नहीं देती । इनमें से अनेक शब्द स्वरों और व्यंजनों की उत्पत्ति में दिए गए हैं और वहीं देखे जा सकते हैं । कुछेक अन्य तद्भव शब्द यहां उदाहरणस्वरूप दिए जाते हैं—

अमरत < अमृत, आरशू < आदर्शिका, आपणा < आत्मन, आंज < अन्त्र, आगे < अग्र, आगल् < अर्गल, इश्ट < इष्ट, उल्ह < ऊधस, उआंस < अमावास्य, ऊना < ऊर्ण, ऊझे < ऊर्ध्व, ऊखल < उलूखल, एंडा < एतादृश, ओठ < ओष्ठ, ओड़ी < औड्रिक, औतरा < अपुत्रक, औधा < अर्ध, औग < अग्नि ।

कुण्ही < कफोणी, कलार < कल्याहार, काउड़ा < काक, काणा < काण, कोंडा < कंटक, कोल्ह < कुलाय, खोर्हा < खर, खिला < खिल, खिशखिशी < खुरखुर, गोरू < गोरूप, गरका < गरिमन्, गाई < गौ, गोरा < गौर, गोदला < गोधूलि, ग्रां < ग्राम, गोंठ < ग्रंथि, घाम < घर्म, घुघु < घूक, गौंच < गौ + मूत्र, गाची < गत्रिका ।

चुकरी < चक्षुरोग, चुट < त्रुट, चांड < चण्ड, छेत < क्षेत्र, छील < क्षल्य, जाच < यात्रा, जूं < युगल (हौल जूँ), चाकर < चकोर, चाकला < चक्कल, चूंज < चञ्चु, चतर < चतुर, चूनें < चूर्ण, चितरा < चित्र, चूलू < चुलु (पाणी रा चूलू), चूचू < चूचुक, चूंडा < चूडाल, चेट्ट < चेटक, छेलू < छग, छाऊं < छाया, छिडा < छिद्र, छूरा < छुरिका, जोंघ < जङ्घ, जौऊ < जौ < यव, जों < यम, जौश < यश, जौटा < जटा, जिण < जन, जीभ < जिह्वा, जतन < यत्न, जामू < जम्बु, जौजरा < जर्जर, जागरा < जागरण, जान्हू < जानु, जुआंई < जामातृ, जीऊ < जीव (पशु), जीऊ < जीव (प्राण, आत्मा), जीण < जीवन, झस < झष्, झीड़ी < झिटि ।

टांग < टङ्गा, टीका < तिलक, ठाकर < ठक्कुर, डण्ड < दण्ड, डाइण < डाकिनी, ढौल > ढोल, तौछ (णा) < तक्ष, तुश < तुष, तौट (णा) < तड, तरखाण < तक्षन, तौखे < तत्र, ताणा < तान (धागा), तोंबड़ा < तुम्ब, तरांबा < ताम्र,

1. डॉ० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० 212.

तीच्छा < तीक्ष्ण, तुन्ह (णा) < तुण् (किरडा तुन्हणा), तुरही < तूर्य, तेज़ < तेजस्, दछणा < दक्षिणा, दाढ़ (ना) < दंश, दागुदा < दग्ध, दरड (णा) < दरणम्, दाड़ू < दाडिम, दिहाइण < दुहिता, दाढ़ी < दाढिका, दाची < दात्रिका, दाच < दात्रम, दयाउणा < दयालु, दाउआं < दामन (बौछू रा दाउआं), ने < नी, दीउआ < दीवा < दीपक, जूब < दूर्वा, धतूरा < धतूरक, दोंद < दन्त, दोंदल < दन्तुर, धरणी < धरणि, धोंला < धवल, धणिया < धान्या, धुक (णा) < धुक्ष, धुआं < धूम्र, धूड़ < धूलि, धूई < धूलिका, धौज < ध्वज, न्हौश < नौश < नख, नाती < नप्तृ, नटेइया < नर्तक, नौला < नलकम, नूआं < नव, निहसी < निःसह, नौ < नव, नाटी < नाट्यम, नारसिंघ < नरसिंह।

पौद < पर्द, पांख < पक्ष, पंछी < पक्षी, पनाह < पुनः (पनाह पाणा), पून < पुण्य, परमेशर < परमेश्वर, पूनू < पूर्णिमा, पुहाल < पशु < पाल, पिहर < पितृ + गृह, बौत < वर्त्मन, फलुंगु < फल्गु, फाका (धाणा रा फाका मारना) < फक्क, बागर < वायु, बराल < विडाल, फलाहर < फलाहार, भरोट्ट < भार, बूटा < बृक्ष, भौई < भय, भाड़ा < भाटम्, भांडा < भांडक (वर्तन), मंढारी < भण्डारिन्, भारी < भारिक (भारी कुण केरना), भौर < भृ, भौंरा < भ्रमर, मौल़ < मल, मौल < मल्ल, मौसक < मशक, मींज़ < मस्तिष्क, मीला < अम्ल, मेहां < महिष, मेहीं < महिषी, मूशा < मूषक, मठेल (णा) < मद, मौल़श < मश, मींज़ < मेदस।

रौशी < रज्जु, रौज़णा < रंजनम् (तृप्त होना), रोंड < रण्डा (फूहड़ स्त्री), रोगी < रुग्न, रुंड < रुण्ड (जैसे रुंड-मुंडला माण्हु = बिना सिर का आदमी), रुहणी सं० रुह् धातु से, रोपा < सं० रोप् धातु से, रूखा < रूक्ष, रोढ़ा < सं० आरुढ (जिस पर घराट खड़ा होता है और पानी के बल से चलता है), रूपा < रुप्यम, लाख < लक्षकम, लछमी < लक्ष्मी, लेंगड़ा < लङ्ग, लिढ < लङ्ग (उपपति, प्रेमी)।

यहां कुलुई के केवल कुछेक तद्भव शब्दों का परिचय दिया गया है, और जैसा कि पहले भी लिखा गया है, कुछ अन्य तद्भव शब्दों को देखने का अगले पृष्ठों और अध्यायों में भी अवसर मिलेगा। वास्तव में कुलुई बोली में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। इसका मुख्य कारण यह है कि कुलुई मुख्यतः दैनिक बोलचाल की भाषा है। हिन्दी में प्रयुक्त कितने ही तद्भव शब्द कुलुई में भी प्रयुक्त होते हैं, परन्तु उन्हें यहां दिखाना आवश्यक नहीं समझा जाता।

(3) देशी

देशी शब्द किसे कहते हैं, इसके बारे में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। मैक्समूलर के अनुसार आंचलिक शब्द देशी शब्द कहलाते हैं।[1] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि देशी शब्द वे हैं जो भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हैं।[2] डॉ० उदयनारायण तिवारी

---

1. F. Maxmular : The Science of Language : Translation by Dr. Udey Narain Tiwari, p. 116.
2. डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० 68.

देशी शब्दों से उन शब्दों का तात्पर्य लेते हैं 'जो भारत के आदिवासियों की भाषाओं तथा बोलियों से वैदिक तथा पाणिनीय संस्कृत एवं प्राकृत तथा नव्य आर्य भाषाओं में समय-समय पर आए हैं।[1] डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार देशज शब्द उन्हें कहते हैं जो (तत्सम, तद्भव, विदेशी) 'तीन में किसी में न हों अर्थात् उनकी व्युत्पत्ति का पता न हो, जो उसी क्षेत्र में जन्मे हों'।[2] डॉ० हरदेव बाहरी भारतीय आर्येतर शब्दों को देशी शब्द समूह का एक अंगमात्र मानते हैं। वे इनके साथ अनुकरणात्मक शब्दों को भी प्रमुख स्थान देते हैं।[3]

चाहे परिभाषाएँ कुछ भी हों, सभी विद्वान एक बात पर सहमत होते हुए नज़र आते हैं, और वह यह कि जिन शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं होती वे देशज या देशी कहलाते हैं। ऐसे शब्द जिनकी उत्पत्ति संस्कृत के प्रत्ययों या धातुओं से सिद्ध नहीं होती विद्वानों द्वारा 'देशी' कहलाए गए हैं। कुलुई में देशी शब्द का बाहुल्य है। इसमें अनेक ऐसे शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्ति समझना कठिन ही नहीं असम्भव सा लगता है। कुछ शब्दों को तो खींचा-तानी करने पर संस्कृत से जोड़ा जा सकता है, परन्तु यह सम्पर्क इतना दूर का लगता है कि इनके संस्कृत परिवार के होने में विश्वास नहीं आता। उदाहरण-स्वरूप ये शब्द दिये जा सकते हैं—छीशणा = सं० भ्रक्षणम् (मालिश करना), निलिघिणा = सं० म्लान (मुरझाना), जाइरू = सं० उत्सर (पानी का चश्मा), दुहरू = सं० दम्पत्ति, तरौबका = सं० त्वङ्ग (छलांग देना), झीष = सं० उषस् (सवेरा), झोंख = सं० शंका (चिंता), नाहलू = सं० नाभि आदि।

प्राकृत वैयाकरणों ने उन शब्दों को देशी की सूची में रखा है जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से सिद्ध नहीं हो सकती थी। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार 'ये लक्षणे न सिद्धा, न प्रसिद्धा संस्कृताभिधानषु' जो लक्षण द्वारा संस्कृत से सिद्ध न हो सकते हों, और न ही संस्कृत के अभिधान में आते हों, वे प्राय: देशज शब्द कहलाते हैं। अत: देशी शब्द यदि संस्कृत से सम्बन्धित नहीं हो सकते तो वे किसी विदेशी भाषा के भी नहीं आ सकते। क्योंकि दूसरे स्थान या देश से आए शब्द 'विदेशी' नाम से अलग श्रेणी में आ जाते हैं। स्पष्टत: देशी शब्द उस भाषा या बोली विशेष के अपने मूल शब्द ही होंगे। जो चाहे आर्य भाषा से पहले उनकी मूल भाषा के अवशेष हों या बाद में ध्वनि के अनुक्रमण द्वारा व्युत्पन्न हों। कुलुई में ऐसे शब्दों के कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं :—

आरिए 'झूठ', आंगी 'अलग,' आरखण 'कफोणी', इलकण 'चील', इटका 'सख्त' (विशेषत: आटा का सख्त होना), उबण 'गेहूँ के खेत में एक घास जो गेहूँ के साथ आसानी से पहचाना नहीं जाता', उबड़-खाबड़ 'असमतल', उघण 'अन्दर का कमरा,' उगू (करना) 'बायकाट', ऊँच 'बहाना', उंबला 'उलटा', ऊरा 'बहुत चलने के बाद जब पिंडली में दर्द हो जाए तो "ऊरा एणा" कहते हैं', उल्ह 'थन', ओग 'कीला', ओड़ा 'खेतों की सीमा के लिए गाढ़ा तिरछा पत्थर, ओणख 'तंग होणा', ओबरा 'कमरा', ओड़क

1. डा० उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० 97.
2. डा० भोलानाथ तिवारी : भाषा विज्ञान, पृ० 404.
3. डा० हरदेव बाहरी "हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास" में तृतीय खण्ड पृ 323-4.

'उत्तर', औ:ड़ 'जोड़ों में दर्द' ।

कंकणा 'टेढ़ा-मेढ़ा', कुश्क 'बिच्छु बूटी', किढ़ 'धूलि से भरी वायु' और 'Halo' 'प्रभामण्डल', करिंगशा 'चिल्लाहट', करेंगटा 'टेढ़-मेढ़ा', कोशा 'काठ की थाली,' कियाड़ी 'गर्दन का अगला भाग', खाज़ी 'चर्म-रोग', खाता 'बड़ा खेत', खशखशा 'खुर्दरा', खेशड़ी 'लंगोटी', खोबरू 'दीवार में सामान रखने के लिए बनाया छेद', गाश 'वर्षा', खेज़ा 'झंझट', खेपरा 'मखौटा', घाही 'रीछ', खुआरा 'रीठा' ।

विद्वानों का मत है कि देशी शब्द अधिकत: तालव्य और मूर्धन्य वर्णों से आरम्भ होते हैं।[1] कुलुई में ऐसे वर्णों से आरम्भ होने वाले शब्द अनेक हैं, जिनमें से कुछ उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए जाते हैं—चेका 'कमर', चौश 'अकस्मात कमर में दर्द', चिहक (चौश), चा:भ 'दलदल', चिलढ़ा 'पानी में आटा घोल कर तवे पर घी के ऊपर पकाई रोटी', चौदू 'कमज़ोर और छोटे कद का आदमी', चेता 'इलाज', चाम्बड़ा 'पतीला', चोर 'शहतूत की एक किस्म', चाटा 'तंग' और 'पत्थर का ढेर', चौठा 'काला', चाहड़ 'बड़ी चट्टान', चाथर 'पतीला आदि का निचला तल', चेहुर 'सूर-लूगड़ी बनाने के लिए सड़ाया गया अनाज', चाउड़ 'लकड़ी का बना बरामदा', चेफला 'चपटा', चिफला 'फिसलने योग्य', चेंड 'ईर्ष्या', चोकण 'पकाई दाल, सब्ज़ी या मांस आदि', चोल्हा 'अन्य सदस्यों से चोर कर बनाया भोजन', छाबड़ 'बांस आदि का चौड़ा टोकरा' ।

छेका 'जल्दी', छाणग 'पवित्रता के लिए छिड़काव', छोण 'घास की छत', छलिंग 'चिंगारी', छोइण 'कड़ियाँ', छूड़ा 'काफी', छोत 'क्रियाक्रम', ‍़मका 'तड़का' छौबका 'छलांग', छीड़ी 'जलाने की लकड़ी', छौली 'मकी', छोरगण 'चकमक' ।

ज़ाकण 'दाढ़', जुआर 'फसल आदि का काम पूरा करने के लिए लगाए गाँव के आदमी जिन्हें केवल दो वक्त का खाना दिया जाता है', ज़ुआड़ 'पशुओं द्वारा फसल का नुकसान', ज़ीढ़ा 'सख्त जो पकाए जाने के योग्य न हो', जुक 'नीचे—केवल बैठने और रखने के अर्थ में, जैसे जुक बेश (नीचे बैठ), जुक डाह (नीचे रख)', जौल 'पत्थरों और झाड़ियों से भरा क्षेत्र', जाऊ 'वाष्प' ।

झिंह 'मायूसी, गमगीनी', झूथा' लम्बे-लम्बे बिखरे बाल', झीकड़ 'पट्टू', झोरका 'चौड़े पत्ते का एक पौधा', झीर 'जलाने की पतली लकड़ी', झार'gregarious growth', झीफ 'घना घास', झोकड़ 'झाड़ियाँ', झीउण 'कद्दू-ककड़ी आदि पौधों के चढ़ने के लिए शाखाओं सहित तना', झिमटी 'पुराने समय में बालों का एक रिवाज, माथे से चोटी तक बीच में साफ, दोनों ओर लम्बे बाल', झौखा 'शोर', झोंख 'चिंता', झीक 'गुस्सा', झलकदा 'सख्त गर्म जो जला दे' ।

टाला 'मकान की सबसे ऊपर की मंजिल, टेर 'गर्दन में मोच', टाटा 'गूँगा', टाहू 'मुंह', टीर 'छोटा और पतला वृक्ष', टिश 'औजार से तख्ता समतल करना', टिपला 'बूँद', टुंबला 'उलटा', टेपरा 'भींगी आंखवाला', टुंहूक 'घास का सजाया ढेर', टिमणा 'चभोना', टूरा 'खड़े कान वाला' ।

ठार 'घुटने और पैर के बीच टांग का अगला भाग', ठाबला 'लकड़ी का बड़ा

1. डा० उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, प्रथम खण्ड पृ० 20.

बर्तन', ठुरडा 'पैर'।

डाबरा 'परात', डोई 'काठ की कड़छी', डुगरू 'दूध दुहने के लिए लकड़ी का गहरा बर्तन', डेंठा 'डंडा', डांफ 'ठगना'—(गंवारू शब्द माना जाता है), डाँस 'डाँफ', डाना 'अंडा', डेंगा 'टेढ़ा', ढेक 'खेत का अन्दर का किनारा', ढाक 'कमर में बाँधने का भाव, या कपड़ा', ढीह्र 'फोड़ा', ढोंउसू 'विशेष प्रकार का नगारा'।

यहाँ क्रिया शब्दों को नहीं दिया जा रहा है, क्योंकि देशी क्रियाओं की अलग श्रेणी है, और उन्हें आगे 'क्रियापद' अध्याय में दिखाया गया है। मूर्धन्य तथा तालव्य के अतिरिक्त अन्य देशी शब्दों के कुछ उदाहरण और देखे जा सकते हैं :—

तीक 'निशाना', तुधका 'तोदा', थाव 'भेड़ों के लिए पहाड़ों पर चरागाह', थाकड़ 'ऊन काटने से पूर्व भेड़ के शरीर पर ऊन साफ करने के लिए विशेष कंघी', थोःर 'ढेर', थौंची 'गाए-बैल के बाँधने की अपनी-अपनी जगह', थिपी 'एक खेल विशेष', थेड़ 'रोटियों का ढेर', थोथर 'गाल', थौःर 'वृक्ष पर नरम पत्तों का गुच्छा'।

दार्‌ठा 'अन्न रखने के लिए एक बड़ी कोठड़ी', दराघ 'एक ढोल विशेष', दरिघड़ा 'चीथड़ा', धामधिम 'गहरी नींद', निखड़ 'कमज़ोर'।

पतोसड़ 'भट्टा', पांज 'बाँट', पेहरू 'भेड़-बकरियाँ', पौठ 'जवान बकरी', भुरका 'लकड़ी का गिलास'।

फाढ़ा 'गोद', फाट 'पहाड़ों पर घास का क्षेत्र', फाड़ 'तख्ता', फेटा 'वक्र', फेंबड़ा 'एक प्रकार का भोजन', फेंफणा (नाक) 'चपटा', फनेकड़ा = फेंफणा, फारा 'सोज़िश'।

बेउड़ 'खेत का बाहर का किनारा', बेटड़ी 'स्त्री', बाहुड़ 'मिट्टी का फर्श', बाठर 'नया चेला', बाथल् 'असिंचित भूमि', बाधण 'सुराही'।

भोक 'बड़ा छेद' सं० भुक, भुगरू 'चूरा', भौरलू 'बांस की टोकरी', भेखल् 'एक कांटेदार झाड़ी', भेटी 'निकट'।

मींज 'चरबी', मांढ 'मुश्किल', मठिंगला 'हाथ से बनाया ढेला,' मंढेल 'ढेला', मूथू 'गर्दन', मेइड़ 'फर्श का निचला भाग', मोका 'सख्त पेट दर्द', मौका 'तुतलाने वाला व्यक्ति (तोतला)'।

रागड़ा 'छोटा घड़ा', रींगला 'तत्तैया', रोखला 'हाथ रहित', रेट्ट 'धागों आदि का गोला', रिल्हा 'चीथड़ा', रूड़ 'खुश्क साली'।

लाबर 'रान', लेगा 'गीला', लुछकदा 'गीला', लिचड़ी 'आँख की मैल', लीचा 'कमज़ोर', लाटा 'लंगड़ा'।

शांघणा 'झड़ियाँ साफ करना', शेकट 'लकड़ी आदि का टुकड़ा', शाखरा 'जवान बैल', शाड़ 'क्यारी', शाढ़ा 'खुरमानी', सेला 'बकरी की ऊन का चोगा', हीक 'छाती'।

जैसा कि पहले भी लिखा गया है देशी शब्दों में अनुकरणात्मक शब्दों का विशेष महत्व है। कुलुई में अनेक अनुकार ध्वनि-युक्त शब्दों का बाहुल्य है, जैसे **गड़ाउड़ा** (बादल की गर्ज), **शणाऊ** (नदी की शण-शण ध्वनि), **गणाट** (गर्जन), **तरफोड़िना** (तड़पना), **लेराकचोचा** (चीख-पुकार), **रड़खड़ा** (उबड़-खाबड़), **चुरबरांदी** (चुन-चुर करती), **खशखशा** 'खुरदुरा', **खड़कणा** (खड़खड़ करना), **भौड़कणा** 'बुड़-बुड़ करना',

ठणकदा (टनटन करता हुआ), **झरौहरा** (झर-झराता), **लौड़ाघौड़ा** 'हेर-फेर', **चण-कदा** (चन-चन करता), **शगकदा** (शय-शण करता, जब उबलते पानी में आवाज़ आने लगती है), **शलिहुकी** (सीटी), **ठिणमिणी** (घंटी-घड़याल), **फिम्फरी** (फरफराती तितली), **दंदखड़ी** (दांत बजना), **दगदगी** (हृदय की धड़कन), **धकधकी** 'दगदगी', **कुड़्-मुड़्** (गोल-मटोल), **तरीड़खिणा** (गुस्से में बुड़बुड़ाना), **धुकधुकी** 'दगदगी', **भण-भणी** (बुरा लगना), **ढणमणाठ** (खाली कमरे की आवाज़, गुम्बद), झिंचणी (रस्सी का झूला)। इस प्रकार अनुकरण तथा प्रतीकों पर आधारित अनेक शब्द कुलुई में प्रचलित हैं। ऐसे शब्दों में क्रियाओं का भी विशेष महत्त्व है, जिन्हें क्रियापद के अन्तर्गत दिखाया जाएगा।

(4) विदेशी शब्द

आधुनिक भारतीय अन्य भाषाओं की तरह कुलुई में भी विदेशी शब्दों का विशेष समावेश है। ऐसे शब्दों में फारसी, अरबी और अंग्रेज़ी शब्दों का बाहुल्य है। इनमें से अधिकतर शब्द तो राजस्व नीति और कचहरियों से सम्बन्धित हैं, जिनका आना इसलिए स्वाभाविक है, कि कचहरियों और माल के आम प्रचलित शब्द धीरे-धीरे साधारण रूप धारण कर लेते हैं और सामान्य शब्दावली के अभिन्न अंग बन जाते हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत से अन्य शब्द हैं जो समाज के अन्य पहलुओं से सम्बन्धित हैं तथा जो हिन्दी और उर्दू के माध्यम से कुलुई में प्रवेश कर चुके हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो उर्दू में उतने आम प्रचलित नहीं हैं परन्तु कुलुई में दैनिक प्रयोग का आम रूप धारण कर चुके हैं। ऐसे शब्द प्रधानतः ठीक मूल भाषा के तत्सम रूप में हैं, परन्तु ऐसे भी शब्द हैं जिनमें ध्वन्यात्मक परिवर्तन आया है। उर्दू में अरबी का रिज़्क़ शब्द उस कदर आम प्रचलित नहीं है, जिस कदर इसका तद्भव रूप रिज़क (कभी-कभी रिच्क) कुलुई में दैनिक प्रयोग का शब्द बन चुका है—कुणीरा रिज़क सा, तेइरा रिज़क निभू, आप-अपणा रिज़क आदि। इसी तरह उर्दू में अरबी का 'जबर' का अधिक प्रयोग नहीं मिलता। परन्तु कुलुई में 'ज़बर' रोज़मर्रा का शब्द है। हाँ, इसके अर्थ में थोड़ा सा अन्तर आ गया है। अरबी में 'जबर' का अर्थ शक्ति, अधिकता, हिंसा, दमन है। परन्तु कुलुई में इसका अर्थ 'शक्तिवाला', 'ताकतवाला' है—ए बड़ा ज़बर सा (यह बड़ा ताकतवर है)। पुनः, उर्दू में फारसी के 'ज़ोर' शब्द का प्रयोग अधिकतः संयुक्त रूप में होता है, जैसे ज़ोरदार, ज़ोरावर; ऐकिक रूप में इसका इतना प्रयोग नहीं है, जितना कुलुई में—एई आगे बड़ा ज़ोर सा (इसके पास बड़ा ज़ोर है)। इसी तरह अरबी 'जौक़' का अर्थ प्रायः 'व्यक्तियों का समूह' है—जौक़-दर-जौक़। कुलुई में यह आम प्रचलित शब्द है, परन्तु इसका अर्थ प्रायः 'ढेर' रूप में प्रचलित है, जैसे—शिखारा जौक (शिकार का ढेर)। फारसी में 'साफ़ी' का अर्थ 'झाड़न' है, परन्तु उर्दू में बहुत कम प्रयुक्त होता है। कुलुई में 'साफी' तम्बाकू पीते समय चिलम के नीचे रखा कपड़े का गीला टुकड़ा है, ताकि तम्बाकू मुंह में न आए। नीचे कुलुई में कुछेक आम प्रचलित विदेशी शब्दों की सूची दी जाती है—

अरबी—असर, असल, अकल, अवल, असूल, अरज़, तराज़ (एहतराज़), ज़रा (अजरा), उजरत, सान (एहसान), अखबार, इश्तहार, तलाह (इतलाह), फुआह (अफवाह), लाज (इलाज), औस्त, मान (ईमान), मानत (इमानत), इमतहान, उज़र, इज़त (इज़्ज़त), अतर, इलाका, उमर, खीर (आखीर), ज़ाहर (ज़ाहिर), करार (इकरार), इमला, मीद (उमीद), इंतज़ाम, इंतकाल (इन्तकाल), नाम (इनाम), लाद (औलाद), काफी, कताब (किताब), खुरसी, कसर, कब्ज़ा, कदर, कुरकी, किस्त, कायदा, कनून (क़ानून), किश्मत (क़िस्मत), कसूर (क़सूर), कत्तई, कलम, केइद (कैद), कीमत, खसारा (कोमा रा खसारा पाऊ), खालस (खालिस), खाली, खराब, खर्च, खर्चा, खुलासी, गाज़ी, ज़राब (जुराब), ज़िरह (जरह), जिस्म, जलसा, जाज़त (इजाज़त), जमाइत (जमायत), जमा, जुआब (जवाब), जहाज़ (जहाज़), जदी, जसूस (जासूस), जाल्ह (जाहिल), तवीज (तजवीज़), तरक्की, तरकीब, तहसील, तसल्ली, तसवीर, तस्दीक, तरीफ (तारीफ) तलाश (तालाश), तमीज़, तनाज़ा, ताकत, तबीयत, तकलीफ, तकसीम, तकदीर, ताःना, तलाक, दालत (अदालत), दाखला, दरज, दाउआ<दावा, दमाग (दिमाग), दुआइत (दवात), दुआई (दवा), दौलत, धोंस, नाज़र, मसूर (नासूर), नबज़, नतीजा, नज़ला, नुसखा, नसल, नशा, नौदर (नज़र), नफह्, नकद, नकशा, नकसान (नुकसान), नकल, नीत (नियत), फाका (फ़ाक़ह), फाइदा, फरज़, फरक, फसल, फजूल, फौज, फैसला, बज़न (वज़न), बकील (वकील), बाकफ (वाक़िफ), बाकी, बालग (बालिग), बहस, बदल, बरी होना, बसूल (वसूल), बकाया, बारस (वारिस) बियान, बसीयत, बैं करना, बरका (वरक़), माल, मालक (मालिक), माहिर, महफल, महनत, मदरसा, मदाला, मद्दई, मुराफा, मरज़ी, मरमत, मज़ारा (मुज़ारह), मसाफर (मुसाफिर), मुश्तरीका (मुश्तरकह), मुश्किल, मशवरा, मशहूर, मसाला, मिसरी, मसीबत, मज़बूत, मतलब, मुआफ, मामला, मावज़ा, ममूली (मामूली), मकाबला (मुकाबिला), मकदमा, मकान, मनादी, मनहूस, मनशा, मुनशी, मंज़ूर, मौसम, मौका, मरासण (मिरासन), मियाद, ज़ादा (ज़्यादा), जेउर (ज़ेवर), जां (ज़ाया), ज़ब्त, ज़िदकरा (ज़िद्दी), ज़रूरत, ज़िला, ज़माना, राज़ी, रियायत, रोःब (रुअब जमाना), रकबा, रुका, (रुकह), रकम, रमाल (रुमाल), रूह (जैसे रुह—राखस), रौनक, रियासत, लिहाज़, लिफाफा, लफज़, शामलात, शान, शजरा, शरारत, शरबत, शरत, शुरू, शरीफ, शक, शकल, शादत, सालम (सालिम, पूरा), सुआल (सवाल), सेइल (सैर), साबण (साबुन), सामी (आसामी), सेहत, सफाई, सिफर, सलाह, सुलह, हाजर (हाजिर), हाल, ज्हामत (हजामत), हद (जैसे हद शोटी केरिया), र्हामी (हरामी), स्हाब (हिसाब), हक, हुकम, हुकत (हिक्मत), लुहाई(हलवाई), होंसला (हौसला), हीला (जैसे हीला-बहाना केरदा), हाजमा, हिबा, हुतहुता (हुद-हुद), हरज (हरज), हिमत, हुव-हुब (हू-बहू)।

फारसी—आदमी, (आ) ज़ाद, अफसोस, अगर, अंदाज़ा, अंदर, अवारा, उआज़ (आवाज़), करिंडा (कारिंदा), कारूआई (कार्रवाई), कारखाना, कारदार, कुरती, कारीगर, काश्त, कागद (कागज़), किसती (किशती), कुशती, कमीना, कोशत (कोशिश), गुज़ारा, गुरज़, गिरबी, गुलसोसन, खराक (खुराक), खानदान, गंजाइश (गुँजाइश),

गुआह (गवाह), गमास्ता (गुमाशता), चादर, चाक (जैसे पेट-चाक), चलाक (चालाक), चाकर (नौकर-चाकर), चुगली (चुगली), चंदा, जादू, जगीर (जागीर), पजामा (पाजामा), जाइदाद (जायदाद), जुआन (जवान), जोश, ताज़ा, धागा (तागा), तियार (तय्यार), तीर, तेज़, तरीका, दारू (इलाज, दवाई) दरुआज़ा (दरवाज़ा), दोस्त, दोगला, दकान (दुकान), दल्हीज़ (दहलीज़), नायब, नशाण (निशान), नर्म, नगरानी, निमदा, नमूना, नोकर, पाहुचा (पाइंचा), पौड़दा (परदा), परहेज़, पशम, पदीना (पोदीना), पियाला, पेच, फरंगी, बज़ार (बाज़ार), बाज़ी, बगीचा, बखश (जैसे बखश देउआ), बखशीश, बराबर, बिस्तरा, बहाना, बेलचा, बमार (बीमार), बेहोश, माह (माश), मौलश (मालिश), मरद, मज़ा, मज़दूर, मस्त, मुफत, मूमबती, मेख, यार, ज़कीन (यकीन), ज़ीमीं (ज़मीन), रसीद, शीखा (शिकार), सौदा, सेऊ (सेब, सेऊ), सुस्त, सज़ा।

तुर्की—उड़दू (उर्दू), कंलगी (कलगी), काबू, कुली, तमगा, तुपक (बंदूक-'तोप' से), तोप, खचर, बहादर (बहादुर), बरूद (बारूद), चाकू, कैंची, ल्हाश (लाश), बेबी (बाजी, बड़ी बहन), बंदूक (बंदूक), गलीचा, दरोगा, मचलका, चमचा, बुछका (बुकचा)।

पुर्तगाली—अलमारी, कमीज़, कप्तान, कनस्तर, कमरा, इस्तरी, गदाम (गुदाम), गोभी, चाबी, चार (अचार), तमाकू (तम्बाकू), पस्तौल (पिस्तौल), पादरी, पीपा, बिस्कुट, बालटी, बटन, बोतल, मिस्तरी, मेज, नलाम (निलाम), तौलिया, संतरा, सागू (दाणा)।

फ्रांसीसा—ग्रेज़ (अंग्रेज), कारतूस, कोपन (कूपन)।

अंग्रेज़ी—अफसर, इंजण, इंसपिकटर, कापी, कंट्रोल, कंपनी, कोट, कम्पोडर, कार्ड, क्लर्क, कमेटी, गार्ड, जेल, टिकट, टिकस, डाक्टर, ड्राइवर, डिग्री, डिपू, दर्जन, नर्स, नोट, नोटस, पार्सल, पेंसल, पुलस, फार्म, पेन, पील (अपील), पेंट, फीस, फोट्ठ, फेशन, बकसा, बोट, बास्कोट, बाईसिकल, बूट, बनेन, बरंट, बटन, माश्टर, मनिआडर, मनेजर, मशीन, मिंट, मील, मोटर, रपोर्ट, रेल, रेडू, रबड़, राशन, लैम्प, लालटीन, लेट, लाइन, समन, स्प्रे, सिनमा, सूट, सिगरिट, साइटी (सोसाइटी), स्कूल, सार्टिफकेट, स्लेट, श्टाम, हस्पताल, होटल।

सरलीकरण की प्रवृत्ति

विदेशी शब्दों के उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि कुलुई में विदेशी शब्दों के अपनाए जाने पर ध्वन्यात्मक परिवर्तन की प्रवृत्ति लग-भग वही रही है जो प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के मध्यकालीन रूप के परिवर्तन में हुई है : जैसे—पूर्व स्वर का लोप-लाज़<इलाज, मान<इमान, तलाह<इतलाह। 'ब' को श्रुति हुई है—दुआई<दवाई, दुआत<दवात, दरुआज़ा<दरवाज़ा आदि, या 'ब' प्रायः 'ब' में बदल गया है। इसी तरह 'क़' पूर्णतः 'क' में, 'ख़' प्रायः 'ख' और 'फ़' पूर्णतः 'फ' में बदल गए हैं। **च-वर्गीय अक्षरों की च-वर्गीय रूप में बदलने की प्रवृत्ति विदेशी शब्दों की दिशा में भी स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में विस्तार से आगे विचार किया जाएगा।**

इसी सम्बन्ध में एक दूसरी बात भी व्यक्त होती है, और वह यह कि कुलुई में विदेशी शब्दों के अपनाए जाने की स्थिति में सरलीकरण की प्रवृत्ति का प्रभाव रहा है। वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में सरलता की प्रवृत्ति बड़ी प्रवल रही है। प्रायः यह प्रवृत्ति मुख्यतः दो दिशाओं में अग्रसर हुई है, प्रथम संस्कृत की विभक्तियों के स्थान पर स्वतन्त्र कारकों का अस्तित्व में आना तथा दूसरे संयुक्त अक्षरों का लुप्त होना। परन्तु इस सरलीकरण की एक तीसरी दिशा भी है और वह प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के कठिन शब्दों की अधिमानता में विदेशी शब्दों का प्रयोग है। कुलुई में यह बात उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। संस्कृत के स्वतन्त्र, ध्वनि, प्रयत्न, साक्षी, पाठशाला, समाचारपत्र, पुरस्कार, प्रस्ताव, प्रसन्न, अधिकार, उपस्थित, व्यय, विशेष, प्रश्न, निर्धन, अशुद्ध, सम्पत्ति, संदेह आदि कठिन शब्दों की बजाय क्रमशः (आ) ज़ाद, उआज, कोश्त, गुआह, स्कूल, अखबार, (इ) नाम, तबीज (तजवीज़), खुश, हक, हाज़र, खर्च, खास, सुआल, गरीब, गलत, जाइदाद, शक आदि विदेशी शब्दों ने समाज में स्थान ग्राहण किया है। जहाँ तक कठिन विदेशी शब्दों के आगमन का प्रश्न है, उनके साथ कुछ विशेष धारणाओं की पृष्ठभूमि है। उर्दू ज़बां काफी समय तक प्रशासन और न्यायालय की भाषा रही है। अतः फारसी और अरबी के कई कठिन शब्द इन प्रथाओं के माध्यम से प्रवेश कर चुके हैं, और अब सामान्य समझ और प्रयोग के शब्द बन गए हैं, जैसे—

(क) **माल-राजस्व तथा कर**—मामला, तस्दीक, तकसीम. इंतकाल, रूबरू, दाखलखारज, शनाखत, जमाबंदी, पटवारी, कानूगो, क़िश्त, गरदाउरी आदि।

(ख) **न्यायालय तथा विधि**—(अ) दालत, कुर्क, जरा (उजरा), चकौहरी, तहसील, तसीलदार, नायब, दिवानी, फौजदारी, मकदमा, मुखतियार, दाउआ, कानून, पेशी, जमानत, (अ) पील, मरफा, मुद्दई, मदाला, गुआह, चलान, समन, दरखास्त आदि।

(ग) **शासन**—नौकर, तनखाह, स्तीफा, दफतर, अरज़ी, खज़ाना, स्हाब, बदली, फौज, सरकार, मुस्तकिल, हुकम, कसूर, उज़र, प्यादा आदि।

(घ) **शिक्षा**—बस्ता, तख्ती, कलम, दुआइत, कागद, मदरसा, इमला, इमतहान, नतीजा, मुंशी, इंस्पिक्टर, मेज़, खुर्सी, बरज़िश, स्लेट, सियाही, जमाइत, मनीटर, कताब आदि।

(ङ) **संस्कृति**—गलीचा, निमदा, पाहुचा, पौड़दा, पशम, रेशम, शाल, सलुआर, कुर्ता, कोट, साफा, पियाला, ज़ीरा, मेइदा, बदाम, सौदा, सौहर, शादी आदि।

अद्भुत संमिश्रण

कुलुई में विदेशी शब्द इस कदर घुलमिल गए हैं कि उन्हें अब विदेशी पहचानना कठिन है। हर भाषा में शब्द-निर्माण प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और विदेशी भाषाओं के उपसर्गों ओर परसर्गों से हुआ करता है। परन्तु कुलुई में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से आए तत्सम, तद्भव, देशीय तथा विदेशी शब्दों का इतना अद्भुत तादात्मय है कि

अब यह कहना कठिन है कि कौन-सा शब्द किस स्रोत से आया है। बोल-चाल की भाषा में विभिन्न स्रोतों के शब्द एक-रूपता धारण कर ही लेते हैं, परन्तु एक ही शब्द, एक ही वाक्यांश में दो विभिन्न स्रोतों के शब्दों का मेल बड़ा रोमांचकारी है। जैसे—'सान-गुण नी बुझदा' में 'सान' अरबी शब्द 'एहसान' है और 'गुण' संस्कृत शब्द है। इसी तरह 'राअदेऊ' में 'राअ' अरबी शब्द 'रिआया' है और 'देऊ' संस्कृत 'देव' अर्थात 'जनता का देवता।' कुछ और उदाहरण देखने योग्य हैं—

'बख़श' फारसी + 'देऊआ' सं० देव	= बखश देऊआ 'हे देवता क्षमा करें'।
'मान' संस्कृत + 'इज़त' अरबी इज्ज़त	= मान-इज़त नी रौही 'कोई इज्ज़त न रही।
'मुण्ड' संस्कृत + 'नौदरी' अ० नज़र	= मुण्डा-नौदरी नी बोलदा 'सामने नहीं कहता।'
'लाज़' अ० इलाज + 'कारी' सं० कार्य	= लाज़कारी ता रज़ केरी 'इलाज आदि तो बहुत किया।'
'रुह' अरबी + 'राख्स' सं० राक्षस	= रुह-राखस भी निभे 'राक्षस आदि भी समाप्त हुए।'
'सेर' फारसी + 'टौल्हा' देशी	= सेर-टौल्हा नी दें दे 'भोजन-कपड़ा नहीं देते।'
'ओकती' सं० औषधि + 'दारू' फारसी	= ओकती-दारू बकते केरी 'इलाज समय पर करना'।

इसी तरह नाता-रिश्ता (सं० नातृ + फा० रिश्ता), ज़ेउर-गहणे (अ० ज़ेवर + हिं० गहना), सौदा-पतरा (फा० सौदा + सं० पत्र), मान-धर्म (अ० ईमान + सं० धर्म), नाऊं-नशाण (सं० नाम + फा० निशान), राशण-पाणी (अंग्रे० राशन + हिं० पानी)

कुलुई में विदेशी शब्दों का सहयोग इसकी शब्दावली में वृद्धि करने में कई तरह से बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। एक ही भाव की दो भाषाओं के शब्दों से भिन्नता प्रकट हुई है। 'भूचाल' के लिए कुलुई में 'हिलण' (हिन्दी 'हिलना' से) तथा 'ज़ौज़री' (अरबी 'ज़लज़ला') शब्द प्रचलित हैं। परन्तु दोनों में भेद है। साधारण भूकम्प हो तो 'ज़ौज़री', परन्तु भारी भूकम्प हो जिसमें हानि भी बहुत हो तो 'हिलण' होता है। 'खातर' शब्द के दो अर्थ हैं—'तेरी खातर आऊ हाऊं' में इसका सम्बन्ध अरबी 'खातिर' से है (तेरी खातिर आया मैं), परन्तु 'आलू री खातर' में 'खातर' शब्द सं० 'क्षेत्र' का तद्भव रूप है। कुलुई में 'फाका' शब्द दो अर्थों में प्रचलित है। जब इसका अर्थ 'किसी भोज्य पदार्थ को मुट्ठी में भरकर मुंह में डालकर खा लेना हो तो इसका सम्बन्ध संस्कृत शब्द **'फक्क'** (निगलना) से है, जैसे—चाउला रा फाका मारू। जब इसका अर्थ 'फाके लगना' है तो इसका सम्बन्ध अरबी शब्द **'फाकह'** (अनशन, उपवास) से है, जैसे 'सारी दिहाड़ फाका लागा'। फारसी का 'दरगाह' आम प्रचलित शब्द है, परन्तु यह 'मठ, मढ़ी, मस्जिद, मक़बरा' नहीं है, बल्कि 'किसी पुण्य स्थान पर कर्ज चुकाना है, जैसे 'नी देणा ता दरगाह

देई' । फारसी 'पाइंचा' से प्रसूत कुलुई 'पाहुचा' का अर्थ 'पाजामे की एक टांग' नहीं है, बल्कि 'एक ऐसा मोज़े का जोड़ा है जो घुटने से टखने तक ऊनी कपड़े का बना होता है' । इसी तरह अरबी शब्द 'मिज़ाज' से कुलुई रूप 'जमाज' बना तो अर्थ में भी कुछ अन्तर आ गया है । मिज़ाज का अर्थ 'स्वभाव, तबीयत, मनोवृत्ति' है । परन्तु कुलुई 'जमाज' का अर्थ 'नाज़-नखरा' है और उससे विशेषण 'जमाजतला' (नखरेबाज़) भी आम प्रचलित शब्द है ।

(5) अनार्य भाषाओं के शब्द

पुस्तक के पूर्व भाग में पहाड़ी भाषा के उद्‌भव और विकास पर चर्चा करते हुए यह उल्लेख किया जा चुका है कि आर्य लोगों के इस भूखण्ड में पदार्पण करने से पूर्व इस भू-खण्ड में कोल,किन्नर, किरात और खश जातियों का बोल-बाला रहा है । हमारे प्राचीन अभिलेख इस बात के प्रमाण हैं कि ये सभी समय-समय पर सुसभ्य और सुसंस्कृत जातियां रही हैं, यहां तक कि इनकी रीति-रिवाज और संस्कृति का आर्य संस्कृति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । संस्कृत साहित्य में खश, किन्नर, किरात जातियों का स्थान-स्थान पर संदर्भ आता है । इन में से खश तो आर्य जाति से ही सम्बन्धित माने जाते हैं, यद्यपि जो भाषा वे बोलते थे वह भारतीय आर्य भाषा नहीं थी । हिमाचल प्रदेश के भीतरी पाहड़ी का लोक-साहित्य खशों के हवालों से भरपूर है । किन्नौर, शिमला, सोलन, सिरमौर ज़िलों में इन से सम्बन्धित कितनी ही लोक-गाथाएं प्रचलित हैं । उपरि-शिमला और किन्नौर में आज भी खशों को उच्च-राजपूत परिवार समझा जाता है । यों लगता है कि कुल्लू में खश लोग समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त न कर सके थे, या उन्होंने इस क्षेत्रमें अत्याचार ढाएहोंगे क्योंकि समस्त कुल्लू क्षेत्र में खश के नाम से गाली दी जाती है । खशों का कुल्लू में प्रभाव रहा है, इस बात का प्रमाण इसी बात से स्पष्ट हो जाता है । किन्नर लोग कुल्लू केसाथ लगते किन्नौर ज़िला में आज भी प्रतिष्ठित समाज के रूप में रहते हैं। मलाणा गांव किरातों-किन्नरों का गढ़ है । मलाणा कुल्लूका प्राचीन काल से एक भाग रहा है,यद्यपि यहां के लोगों की भाषा और संस्कृति मूल कुल्लू वादी से भिन्न रही है। कुल्लू की आबादी में वर्तमान कनैतों और कोलियों का बहुत बड़ा अनुपात है । इनका सम्बन्ध प्राचीन खश और कोल जातियों से सिद्ध होता है ।

कोल भाषा को अब मुण्डा भाषा कहा जाता है । हम यह देख चुके हैं कि पहाड़ी की अन्य बोलियों के साथ-साथ कुलुई में क्रिया की अश्लिष्टता का मुख्य कारण मुण्डा भाषा का प्रभाव है । मुण्डा का कुलुई पर यह प्रभाव क्रियाओं के रूपों तक सीमित नहीं है । इसका शब्द भण्डार भी अनेक मुण्डा शब्दों को अपनाए हुए है । संथाली में **कजिया** का अर्थ लड़ाई-झगड़ा है और कुलुई में यह आम प्रचचित शब्द है तथा इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे —पाऊ कज़िया ?' (डाल दिया झगड़ा ?) । संथाली का एक और शब्द **'बतर'** है जो मौसम के अर्थ में प्रयुक्त होता है । कुलुई में भी इसका इसी भाव में आम प्रयोग होता है और कुलुई में मुख्यतः **'बातर'** शब्द का प्रयोग खेतों में नमी का भाव देता है—बातर खरी सा की नी ? (नमी ठीक है या नहीं) । इसी तरह 'झप-झप', 'लकलकी', 'धकधक'

आदि अनेक संथाली अनुकरणात्मक शब्द कुलुई में प्रचलित हैं।

कुलुई के अनार्य शब्दों में 'किराती' का विशिष्ट स्थान है। विद्वानों का मत है कि कनाशी और किन्नौरी भाषाओं में जो शब्द तिब्बती, चीनी और संस्कृत से बाहर हैं, वे किराती हैं तथा उनका मुण्डा भाषा से सीधा सम्बन्ध है। 'मलाणा' की भाषा को डा० ग्रियर्सन ने 'कनाशी' नाम दिया है। इसके लगभग पच्चास प्रतिशत शब्द किराती हैं। यह बड़ी विचित्र बात है कि चारों ओर से आर्य परिवार की भाषा से घिरी होने के बावजूद भी मलाणा की भाषा अपने प्राचीन रूप को सुरक्षित रखे हुए है। उसका लगभग आधा शब्द-भण्डार न आर्य परिवार से है और न तिब्बती से सम्बन्धित है। मलाणा ने न केवल प्राचीन भाषा को सुरक्षित रखा है, वरन् उसने कुलुई को बहुत से अनार्य शब्द प्रदान किए हैं। कुलुई में स्त्री के लिए प्रयुक्त शब्द **'बेटड़ी'** मलाणा का मूल किराती शब्द है। सारे पहाड़ी क्षेत्र में पाजामा केवल एक शब्द से अभिव्यक्त होता है और वह मलाणा का किराती शब्द **'सूथण'** है। इसी तरह कुलुई में जवान बैल के लिए प्रयुक्त **'शाखरा'** शब्द मलाणा का 'शाकरस्' है। कुल्लू में माता और पिता के लिए आम प्रचलित क्रमशः शब्द **'या'** और **'बा'** का सम्बन्ध भले ही संस्कृत 'जननी' और अरबी 'बाप' या हिन्दी 'बाबा' से जोड़ दिया जाए परन्तु असल में ये दोनों शब्द मूल रूप में किराती शब्द हैं जो मलाणा में इसी रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह कुलुई **'खाख'** मलाणा-किराती 'खखँग (मुंह, विशेषतः खुला मुंह), कु० **मुथू** कि० मुथुँग् (गर्दन), कु० **ठुरडा** कि० 'टुरडा' (पैर), कु० **फेटै** कि० 'फेटे' (बाद, 'तेबे न फेटे' उसके बाद) कु० **रियास** कि० 'रियास' (घना जंगल) कु० मांजा, कि० मांजांग (चारपाई) आदि अनेक शब्द सीधे और पूर्णतः किराती रूप हैं, तथा अनेक अन्य शब्दों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन आया है। उदाहरणार्थ कि० कोर्थींग् कु० कंठी, कु० सिराजी 'चेई' कि० चेमी (बेटी), कु० सि० 'चीश' कि० तीह् (पानी-प्यास), कु० सि० 'छेउड़ी' कि० छेस् (स्त्री), कु० सि० 'चोन' कि० शुम, तिब्बती सुम (तीन) आदि। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि आर्य से पूर्व किरात जाति का इस भूखण्ड से विशेष सम्बन्ध रहा है। महाभारत, रामायण और कुमारसम्भव में इनका स्थान-स्थान पर संदर्भ आता है, और इन का जो हाव-भाव तथा प्रभाव क्षेत्र दिखाया है, उनसे इनका इसी क्षेत्र से स्पष्ट सम्बन्ध जुड़ता है।

जहाँ तक खश जाति के शब्दों का सम्बन्ध है, पहाड़ी क्षेत्र की शब्दावली में उन का विशेष अंशदान है। कुलुई में जो पहले 'देशी' शब्दों के अन्तर्गत सूची दी गई है, उनमें से अनेक शब्द खशों की भाषा से सम्बन्ध रखते हैं, जिसे विद्वान खश प्राकृत भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ अन्य शब्द भी दिए जाते हैं जो न केवल कुल्लू में वरन समस्त पहाड़ी क्षेत्र में बोले जाते हैं। खशों से सम्बन्धित 'हारों' (गाथाओं) में इन शब्दों का प्रयोग मिलता है।[1] चरेड़ा 'पक्षी का बच्चा', चोपड़ 'मक्खन', हुणा 'जिसका ओठ कटा हो', झूरी 'प्यार', झूमण 'बुरका', खापरा 'बूढ़ा', छेका 'जल्दी', टेंडा 'आँख', टापरी 'खेतों में बनी छोटी झोंपड़ी', टुल्हणा 'ऊंघना', टब्बर 'कुटुम्ब', तकड़ा-तगड़ा

1. देखिए हिम-भारती, दिसम्बर, 1971, पृ० 18-20.

'मज़बूत', तकली—ठरना 'ऊन कातने के लकड़ी के औज़ार', निहासे 'एक प्रकार की गाली', फाडी 'आखरी' आदि ।

श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 'किन्नर जाति का सबसे पुराना स्तर है किरात। आर्यों से पहले खशों के साथ उसका समागम हुआ मालूम होता है।[1] उनके अनुसार किन्नौरी भाषा में संस्कृत, तिब्बती और किराती भाषाओं के तत्त्व मिले हैं। स्पष्टत: किन्नौरी भाषा में जहाँ एक ओर भारतीय आर्य भाषा संस्कृत का अंशदान है, वहाँ दूसरी ओर अनार्य भाषा किराती, और तिब्बत की भाषा तिब्बती का भी इसमें मिश्रण है। संस्कृत भाषा के शब्द और गुण उसने अपनी पड़ौसी भारतीय आर्य भाषा से लिए हैं जिनमें कुलुई एक है। और, इसके बदले में किन्नौरी ने अपनी अनार्य किराती भाषा से पड़ौसी बोलियों को प्रभावित किया है। इस बात का प्रमाण न केवल कुलुई वरन् पड़ौस की अन्य पहाड़ी की बोलियों में विद्यमान ऐसे किन्नौरी शब्दों से मिलता है जिनका सम्बन्ध संस्कृत या तिब्बती से नहीं है। कांगड़ी, मण्डियाली, चम्बयाली, कुलुई आदि पहाड़ी की सभी बोलियों में प्रयुक्त डूँगा या डूघा (गहरा) शब्द किन्नौरी का डूंगेस् है। इसीतरह पहाड़ी की सभी बोलियों में चटाई के लिए स्थानीय शब्द मांजरी, मांदरी या बंदरी कुछ और नहीं किन्नौरी का किराती शब्द 'मंदली' है। 'खुले मुंह' के लिए पहाड़ी में आम प्रचलित शब्द 'खाख' किन्नौरी-किराती 'खाखंङ्' है, जो मलाणा में 'खखंग' रह गया है। इसी तरह किन्नौरी-किराती का 'कदम' के लिए शब्द 'गोम्फा' कुलुई और महासुई में 'गोईं' तथा मण्डियालो, बिलासपुरी तथा कांगड़ी आदि अन्य बोलियों में 'गैं' रह गया है। इसी तरह 'शोर' के लिए पहाड़ी तथा हिन्दी की कुछ ग्रामीण बोलियों में प्रयुक्त 'रौला' शब्द भी सम्भवत: किराती शब्द 'रोलङ्' से आया हो। यही स्थिति किराती 'टब्बर' की है जो पहाड़ी में आमतौर परतथा हिन्दी की ग्रामीण बोलियों में प्राय: 'परिवार' के लिए प्रयुक्त होता है।

किन्नौरी किराती के कुलुई में प्रचलित कुछ और शब्द भी देखे जा सकते हैं,जो उदाहरणस्वरूप यहाँ दिए जा रहे हैं:—

किन्नौरी–किराती 'गाचिंग्'=कुलुई गाची (अंगोछा, कमरकस), कि० कि० रापोटों=कु० रेट्ट (बड़ी अट्टी), कि० कि० 'कुशनङ्'=कु० कुशी (अट्टी), 'टोकटो-क्यांग्'=टकटक (आहट), 'सोनिङ्'=सोन्ह (इशारा), 'पशरिङ्'=पाशड़ (करवट), 'मारी'=माड़ा (खराब), 'खाशरा'=खशखशा (खुरदुरा), 'लाटा'=टाटा (गूंगा), 'अकू'=काकू (चाचा), 'ठोटी'=ठूठी (चिलम), 'गूलिङ्'=गूली (चूतड़, जांघ),'लारो' =लाड़ा (दुल्हा), ठुरेनमू=ठुरना, ठोर मारना (दौड़ना), 'डोकङ्'=ढौग (हि० ढांक, पहाड़), 'सूथण'=सूथण (पाजामा), 'गोप'=गप (बहुत, जैसे—गप मीठा सा), 'टीपू' =टीपू (बूंद, हिन्दी का टपकना इसी से देशी धातु बनी है), 'चोपरङ्=चोपड़(मक्खन, हिंदी की चुपड़ना किराती चोपड़ से ही देशी क्रिया बन गई है।)

यह ज्ञातव्य है कि किनौरी-किराती में शब्द का अन्तिम अक्षर बोला नहीं जाता या धीमा अथवा रूक के उच्चरित होता है। इसलिए डूंगेस्, खाखंक्, रोलङ्, गाचिङ्

1. राहुल सांकृत्यायन : किन्नर देश, पृ० 292.

आदि शब्दों के पहाड़ी रूप डूंगा, खाख, रोला, गाची-ध्वनि प्रवृत्ति के अनुकूल हैं।

(6) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं से उधार लिए शब्द

कोई भी भाषा अपने ओस-पड़ोस की भाषाओं के प्रभाव से खाली नहीं रह सकती। भाषा समाज के व्यवहार की वस्तु है। जिस प्रकार समाज में हर प्रकार के आदमी मिलते हैं, उसी प्रकार विभिन्न बोलियों तथा भाषाओं में भी आदान-प्रदान होता रहता है। कुल्लू के लोग कुल्लू से बाहर कामों पर जाते रहे हैं, वे वापसी पर अपने साथ बाहर की भाषाओं के शब्द लाते रहे हैं। बाहर से व्यापारी लोग आते रहे हैं और उनकी भाषाओं के शब्द कुलुई के अंग बन गए हैं। जिस कदर एक भाषा दूसरी भाषाओं के शब्द और गुण ग्रहण कर सकती है, उसी कदर वह अधिक सम्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त, यह एक सर्वव्यापी तथ्य है, कि भारत की विभिन्न भाषाओं में मूलभूत समानता पाई जाती है। इस समानता के पीछे भारत की श्रेष्ठ संस्कृति है, जिसने न केवल विभिन्न सम्प्रदायों को एक सूत्र में बाँधे रखा है, अपितु इनकी भाषाओं को भी समान रूप प्रदान किया है। कुलुई में अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के शब्दों के उदाहरण निम्न रूप से देखे जा सकते हैं :—

गढ़वाली—कल्यार=कलार<कल्याहार, कूंजी <कुंचिका, आगल़<आर्गल, गोठ<गोष्ठि, खाब<कु० खाख (मुँह), जियू<जीव, ध्याण=ध्याइण<दुहिता, परार (पिछले से पिछल वर्ष), पौर<परुत, पराल़ (भूसा), पाल़ा (तुषार), भूईं<भूमि, मुँदड़ो=मुँदड़ी (अंगूठी), जोई<युवती, बलद (बैल), स्यूँ<सीमा, सूर<सुरा, ऊन, भैंरू<भैरव, ऐशू<एषम्, आखर, गोरू (मवेशी), लछण<लक्षण, डाइण=डैण <डाकिनी, थान, घाम (गर्मी), घिऊ<घृत।

पंजाबी—औखा (कठिन), टिकणा=टेकणा, ठुकणा=ठोकणा, डाँग, डुघा, ठुँगा, तगड़ा=तकड़ा, टुर=तुर, धक्क=धाक, पौंचा=पाहुचा, फाका, फिट्टे (मुँह), बाँका, मुकणा, मंजा=माँज़ा, लक्कड़=लकड़, लोड़ (कुलुई में लोड़ का अर्थ माँग नहीं है, बल्कि 'चाहिए' है) खीसा, निगर, निरा, खप्प, खटणा, घुटणा, पुगणा, नठणा, सदका, दिहाड़ा, जट्टा=कु० ज़ोटा, नेड़े, बेल=कु० बेह्‌ल, सियाणा, नियाणा=याणा।

भोजपुरी—जोई (पत्नी), ढेबुआ (पैसा), ओछ=ओछा (छोटा), ओठ, भूईं (भूमि), ज़ोर, बाछी=बौछी (बछिया), गोरू<गोरूप, गेहूँ, मुण्ड, पोथी, बधन<वर्धन, गुआल= गुआला, पाहुन=पाहुणा, घाम<घर्म, किआरी, पीठा <पिष्टक, छूरी, छेनी, जतन= ज़तन<यत्न, झूमक=झूमकू, संझा=सोंझा<संध्या, हाट, कटारी, ठाकुर, ठठेरा, ठेला, डोर=डोरि, डबरा=डाबरा (पीतल का चौड़ा बर्तन), डेरा, डाइनि=डाइण< डाकिनी, दाई <धातृ, नाती <नप्तृ, माहुर=कु० माहुरा (विष)।

मगही—उलटी (कै), कड़ी (छप्पर में लगाने की लकड़ी), कच्छा=काछा, कदीमी (मौरूसी), करारा, कलमी (कलम लगाया फल-पौधा), काँसा, कागज़ी (नर्म), काढ़ा=काढ़ू, किल्ली=किली, कोठी, कोदइ=कोदरा (एक अन्न), खलड़ी (खाल), खूर<क्षुर, गाभिन=गौभण, गारा (मिट्टी का मसाला), गोरू (मवेशी), घानी, घाम

(गर्मी), चीन्हना (पहचानना), चुनचुनी (शरीर में खुजली), चोखा (शुद्ध) छींका =कु० छीका (रस्सियों से बना बर्तन रखने का थैला), छूछा = छू.छा (सादा, कंजूस), जबर (बलवान), जीउ < जीव, जुआन (जवान), जोर, टिपना =कु० टिपणा (दबाना) ठिकरी, डोरी (रस्सी), ढुकना =कु० ढुकणा, (घुसना), ढेबुआ (पैसा), तड़के (सवेरे), दगदगी—धुकधुकी—धकधकी (हृदय की धड़कन), नाता (सम्बन्ध), नाता-गोता =कु० नाता-पोता, पतियाना (विश्वास करना-कराना), फुल्ला =कु० फुला (आँख का रोग), बटलोई =कु० बटलूई या बटूंई, बासमती, बिगहा =कु० बीघा, बिसरना (भूलना), बुक्का (हृदय), भनभनी =कु० भणभणी (बुरा लगना), मसाल =कु० मसौला (मिशाल), मसालची, रंदा, रोपा, रोट (बड़ी रोटी), लाँघना (पार करना), लीद (पशुओं का मल), लोटकी (छोटा लोटा), सरह (रिवाज), साढ़ू (साली का पति), हाट, हाड़-माँस, हेरना (देखना) ।

छतीसगढ़ी—ओबरी, आखर, इरखा =कु० हिरख < ईर्ष्या, ऊन, एतरा (इतना), केतरा (कितना), कटोरा, कात < कृत (कटारी), कागद, काढ़ा, गूंह (टट्टी), घाम, चूची =कु० चू.चू., छोटका (छोटा), चोखा, झोंथा =कु० जूथा, झूथा (यूथ), टोपा, ठाकुर, डाइन = डाइण, डोरा, दूजे, देउल < देवकुल, बलद (बैल), मड़ा = कु० मौड़ा < मृतक, माउली < मातृ+ली, निंहचै < निश्चय, भीती, भीतर, भाजी, हूम ।

निमाड़ी—आँगण, आणी (लाई), एतरा (इतना) ऊखल, कदी (कभी) काजली (काली, कजाली गाई), काठी, काली, काला (काला), कुण (कौण), कूकड़ो = कूकड़, केतरो =कु० केतरा (कितना), खीचा =कु० खीसा (जेब), घाम, घीऊ < घृत, चोखा, छान =कु० छान (छप्पर), डेल =कु० डेह्ल (ड्योढ़ी), ताता = तौता (गर्म), दुई (दो), धीरा (धीरे, ठेहरो), न्हाटो =कु० न्हौठा (गया), नेड़ा =कु० नेड़ (निकट), परात (बड़ी थाली), पियर =कु० पिहर-पेउका (मायका), भाँडा (बर्तन), मुँदड़ी (अँगूठी), रूपा (चाँदी), लाड़ा (दुलहा), लाड़ी, सई =कु० सेई (समान), सउक = सउका (सौत), हाऊ =कु० हाऊं (मैं), हाँक =कु० हाक (पुकार), हाड़का (हड्डी) ।

अध्याय—3

ध्वनि तत्त्व

भाषा ध्वनियों का समूह होती है। किसी भी आवाज़ को जो हमारे कानों में पड़े, ध्वनि कहते हैं। एक पत्थर के दूसरे पत्थर या वस्तु के साथ टकराने से जो 'टक' सी आवाज़ निकलती है, या पानी में किसी वस्तु के गिरने से जो 'छल' सा शब्द निकलता है, साधारण शब्दों में ये सभी ध्वनियाँ हैं। किन्तु भाषा-विज्ञान में किसी भाषा विशेष की केवल किसी सार्थक ध्वनि को ही ध्वनि कहते हैं। यहाँ केवल वही आवाज़ या शब्द ध्वनि है, जिसका कोई अर्थ निकले। किसी भाषा में अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त छोटी सी छोटी आवाज़ जिससे अर्थ स्पष्ट हो जाए, उस भाषा की ध्वनि कहलाती है। जब हम 'सात' और 'साठ' शब्द कहते हैं, तो हमें तुरन्त पता लगता है कि 'त' और 'ठ' अलग-अलग ध्वनियाँ हैं, क्योंकि उन के कारण ही 'सात' का अर्थ 'साठ' से भिन्न है। कान, जान, मान, दान, थान शब्दों के आदि के सभी व्यंजन ध्वन्यात्मक दृष्टि से एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। ये पृथक्-पृथक् ध्वनियाँ हैं।

चूँकि ध्वनि भाषा की मूल विशेषता है, अतः हर भाषा की ध्वनियाँ ही वस्तुतः प्रथम आधार हैं जिनके कारण एक भाषा दूसरे से भिन्न होती है। हर भाषा की अपनी-अपनी ध्वनियाँ होती हैं, और इनकी संख्या भी हर भाषा में अलग होती है। किसी भाषा में ध्वनियों की संख्या अधिक होती है, और किसी में कम।

हिन्दी आदि भारतीय आर्य भाषाओं की ध्वनियाँ संस्कृत से आई हैं। परन्तु हर एक में न संस्कृत की सभी ध्वनियाँ सुरक्षित हैं, और न ही सब का हू-बहू वही रूप आज तक पहुँच सका है। विद्वानों ने संस्कृत की ध्वनियों की विभिन्न संख्याएँ गिनाई हैं। वायुपुराण तथा कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में त्रेसठ ध्वनियों का उल्लेख है। पाणिनीय शिक्षा में चौसठ वर्ण माने हुए हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 68 अक्षरों का उल्लेख मिलता है। उस समय अ, इ, उ और ऋ के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन-तीन रूप होते थे। इसी तरह ए, ऐ, ओ और औ के दीर्घ और प्लुत दो-दो रूप मिलते हैं। हिन्दी में वर्णों की संख्या अधिक कम रह गई है।

स्वर-ध्वनि

कुलुई भाषा को भी अपनी स्वर-सम्पति संस्कृत से ही मिली है; परन्तु इस लम्बे समय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में से गुज़रते हुए इनकी संख्या कम हो गई

है, परन्तु हिन्दी से कहीं अधिक है। संस्कृत की कुछ ध्वनियां वर्तमान हिन्दी में पहुँचने तक अपना उच्चारण बदल चुकी हैं, परन्तु इनमें से कुछ कुलुई में सुरक्षित हैं। कुलुई में हिन्दी के ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के अतिरिक्त उनके प्लुत रूप भी विद्यमान हैं। हिन्दी की मुख्य ध्वनियां देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं, परन्तु कुलुई की अतिरिक्त ध्वनियों को देवनागरी लिपि में व्यक्त करना कठिन है। इसकी उच्चारण सम्बन्धी अपनी विशिष्टताओं को व्यक्त करने के लिए देवनागरी लिपि में कुछ चिह्नों का प्रयोग करना होगा।

अ, आ

हिन्दी में **अ** और **आ** दो कण्ठ-स्वर हैं। कुलुई में इनके कई उच्चारण सुनने में आते हैं, जिन्हें साधारणतः इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

'**अ**' कुलुई का अर्धविवृत मध्य स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वा अपने प्राकृतिक स्थिति से किंचित पीछे हटती है और इसका मध्य भाग कदरे ऊपर उठता है। ओठ कदरे खुल जाते हैं, परन्तु न अधिक ज्यादा न अधिक संकर होते हैं। **अ** का व्यवहार अनेक शब्दों में मिलता है, जैसे—**सट-पट**, **लटा**-फटा, नगर आदि। कुलुई में 'अ' शब्दों के आरम्भ में बहुत कम प्रयुक्त होता है, क्योंकि कुलुई में आरम्भिक 'अ' प्रायः 'ओॅ' में बदल जाता है। यहां तक कि कई स्थानों में उपर्युक्त उदाहरणों के उच्चारण भी प्रायः सोॅट-पोॅट, लोॅटा-फोॅटा, नोॅगर मिलेंगे। शब्दों के मध्य और अन्त में इसका उच्चारण स्पष्ट मिल जाता है। इसका सबसे उत्तम उच्चारण तीन अक्षरों वाले शब्दों के दूसरे अक्षर के साथ मिलता है, जैसे—बा**ग**र, चा**द**र, सा**ब**ण, बा**ब**ण, गौ**भ**ण शब्दों के मोटे अक्षरों के साथ इसका उच्चारण स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है।

'**अॅ**' कुलुई में ह्रस्व स्वर 'अ' का और अधिक ह्रस्व रूप है। इसे 'अ' का लघु उच्चारण कहना चाहिए। द्रुत गति के साथ शब्दों के उच्चारण होने पर इस स्वर का प्रयोग होता है। अपने से अगले शब्द में स्वराघात के कारण प्रायः ऐसा होता है। उदाहरणार्थ, '**मौगर**' शब्द में '**ग**' के साथ 'अ' स्वर है। परन्तु जब यही शब्द '**मौगरा**' रूप में प्रयुक्त होता है, तो '**ग**' का '**अ**' और अधिक लघु सुनाई देता है, मानो 'मौग्रा'। इसी तरह **शाधर** परन्तु शाधॅरा, चाकल परन्तु चाकॅला, पौ**तल** परन्तु पातॅला आदि।

'अऽ' विवृत अग्र स्वर है। यह 'अ' से अधिक दीर्घ, परन्तु 'आ' से अधिक ह्रस्व स्वर है। इसे मान स्वर 'आ' का ह्रस्व रूप माना जा सकता है। इसका उच्चारण भी मान स्वर 'आ' के कदरे आगे से होता है। जिह्वा का मध्य से कुछ पीछे का भाग ऊपर उठता है। ओठ खुले होते हैं परन्तु अधिक फैलते नहीं। इसके उच्चारण में ओठों में हल्की सी हरकत होती है। इसका मुख्य उदाहरण अऽसारा 'हमारा', अऽपणा < अपना, जऽला 'जाहिल' आदि शब्दों में मिलता है। इनका उच्चारण न क्रमशः असारा, अपणा और जला है तथा न ही आसारा, आपणा और जाला आदि। इसी तरह 'शऽला' शब्द न तो 'शला' है और न ही 'शाला' बल्कि यों लगता है जैसे 'शअला' (कदरे खुला)। शअबर' (लाठी), 'लअबर' (पट), 'गअबड़' (पशु) आदि शब्दों में क्रमशः श, ल और ग के साथ

तो 'अऽ' स्वर है और तीनों शब्दों के 'ब' में 'अ' स्वर है।

इस स्वर के दूसरे स्पष्ट उदाहरण हिन्दी के कुछ द्वित्वाक्षर वाले शब्दों के कुलुई रूप में मिलते हैं, जैसे—हिन्दी कच्चा कुलुई कऽचा, हिं० पत्थर कु० पऽथर, हिं० बंदर कु० बऽदंर, हिं० झब्बल कु० झऽबल हिं० ठण्डा कु०ठऽण्डा आदि। जैसाकि पहले लिखा गया है कुलुई में आदि 'अ' स्वर 'ओ' में बदलता है। परन्तु कुलुई शब्दों में यदि कहीं 'अ' स्वर आरम्भ में सुनाई देता है तो यह प्राय: 'अऽ' ही है, जैसे—अऽपणा, अऽसारा, अऽखर 'अक्षर', अऽगला 'अगला', आदि। कुलुई का यह स्वर तिब्बती भाषा का प्रभाव लक्षित करता है। तिब्बती में व्यंजनों का उच्चारण हिन्दी की तरह नहीं होता। वहाँ 'क' का उच्चारण कऽ है। इसी तरह ख >खऽ, ल>लऽ, ज >जऽ आदि। व्यंजनों की ऐसी दीर्घ ध्वनि के कारण ही तिब्बती के कई व्यंजन मूलरूप में ही सार्थक हैं, जैसे—ख 'मुंह', ङ 'मैं', ज 'चाय', 'फ' पिता, ब 'गौ', र 'बकरी' आदि।

'आ' कुलुई का विवृत, दीर्घ, पश्च स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वा का पिछला भाग कुछ ऊपर उठता है, 'अ' से भी कदरे पिछला भाग। परन्तु जिह्वा का अगला भाग प्राय: समतल रहता है। मुख उपर्युक्त सभी 'अ' की अपेक्षा अधिक खुलता है। यह स्वर कुलुई के आदि, मध्य और अन्त सभी स्थिति में मिलता है, जैसे—आरशू 'आरसी', आटा, धागा, चाल, काला, शेता 'सफैद' आदि।

इ, ई

कुलुई ध्वनियों में सबसे अधिक कठिन स्पष्टीकरण तालव्य स्वरों का है। जिन लेखकों ने कुलुई को देवनागरी लिपि में लिखने का प्रयत्न किया है, उनमें इ और ई का प्रयोग समान नहीं मिलता। यदि कोई लेखक किसी शब्द को 'इ' से लिखता है, तो दूसरा उसे 'ई' से लिखता है। यही नहीं, एक ही लेखक एक ही शब्द को विभिन्न स्थानों पर कहीं इ से और कहीं ई से लिखता है, जैसे कहीं 'इन्हांबे' कहीं 'ईन्हांबे' (इनको), 'शिल्हा' या 'शील्हा' (सायदार), 'गुआइरा' या 'गुआईरा' (खोया है) 'निहाइणा' या 'निहाईणा' (नहाना) 'त्रिजा' या 'त्रीजा' (तृतीय) 'शिखा' या 'शीखा' (शिकार) आदि। इसका मुख्य कारण यह है कि जहां कुलुई में 'इ' और 'ई' का प्रयोग मिलता है, वहां इस दिशा में इन दोनों से भिन्न अन्य ध्वनि भी है जो दोनों से अधिक प्रयुक्त होती है।

'इ' कुलुई में संवृत, ह्रस्व, अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जीभ का अग्रभाग कठोर तालु के साथ साधारण स्पर्श करता है, तालु पर जोर नहीं डालता, बल्कि स्पर्श शिथिल रहता है। ओठ कुछ अधिक फैले होते हैं। शब्दों के आरम्भ में यह इलमा-न (तुरन्त), इजत (इज्जत), इलकण (चील), इटका (सख्त) जैसे शब्दों में मिलता है। अन्त में इसका प्रयोग नहीं होता, परन्तु मध्य में इसका रूप अधिक मिलता है, जैसे—काइल (एक वृक्ष), घाइल (घायल), निहालणा (नि+भालना) आदि।

'ई' दीर्घ, संवृत, अग्रस्वर है। इसके उच्चारण में जीभ का अग्र भाग ऊपर उठकर कठोर तालु के निकट स्पर्श करता है। 'इ' की अपेक्षा स्पर्श अधिक दृढ़ है। परन्तु कुलुई 'ई' का स्थान हिन्दी 'ई' से कदरे नीचे है, जीभ के दोनों किनारों का स्पर्श उतना कठोर

तालु के निकट नहीं है जितना हिन्दी में होता है । ओठ कदरे खुले और फैले हुए रहते हैं । इसका प्रयोग शब्दों के आदि, मध्य और अन्त में मिलता है, जैसे—ईण (गिद्ध), ईशर (नाज़ुक), महीन (बारीक), तीर, ज़ोई (पत्नी), बेटड़ी (स्त्री) आदि ।

इस श्रणी में, इन दोनों से भिन्न ध्वनि को 'इँ' द्वारा दिखाया जा सकता है । कुलुई में 'इँ' अत्यधिक प्रचलित ध्वनि है । इसका उच्चारण ह्रस्वता तथा दीर्घता की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों इ और ई के बीच है । इसके उच्चारण में जिह्वा कदरे सीधी रहती है । अर्थात् इ और ई में जहां जिह्वा अधिक गोल हो जाती है इँ में उतनी गोल नहीं होती । इ में जिह्वा के दोनों पार्श्व ऊपर तालु से कुछ अग्र भाग पर स्पर्श करते हैं, ई में कठोर तालु के निकट परन्तु इँ में इन दोनों के बीच का भाग तालु से छूता है । जीभ तालु के निकट जाकर मुख विवर को संकरा तो करती है, परन्तु जीभ के दोनों सिरे तालु से लग-कर अर्धवृत बना देते हैं । तालु के साथ जीभ का सम्बन्ध न अधिक सुदृढ़ है न अधिक शिथिल । ओठ न 'ई' की तरह अधिक फैले होते है न 'उ' जैसे गोलाकार । इसका प्रयोग कुलुई में अधिक है, जैसे—रिँण < ऋण, तिँजी > तृतीय, शिँमा < श्लेष्मा, भाइँड़ 'धर्म भाई' आदि ।

उ, ऊ

'उ' कुलुई में संवृत, ह्रस्व, पश्च स्वर है । इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग किंचित ऊपर उठता है, परन्तु बहुत अधिक नहीं उठता। ओठ आगे को बढ़ते है, परन्तु पूर्ण वृत्ताकार नहीं होते । हिन्दी 'उ' की अपेक्षा कुलुई 'उ' अधिक शिथिल है । यह शब्दों के आदि, मध्य और अन्त में प्रयुक्त होता है, जैसे—उथड़ा 'ऊंचा', उमर, काउणी (एक अनाज), कड़ुआ 'कड़वा', घुगु 'कबूतर', कुतु (छोटा कुत्ता) आदि ।

'ऊ' संवृत, दीर्घ, पश्च स्वर है । इसका उच्चारण मान स्वर ऊ से कुछ नीचे होता है । 'उ' की अपेक्षा 'ऊ' के उच्चारण में जिह्वा का पिछला भाग अधिक ऊपर उठता है और लगभग पूर्ण संवृत की स्थिति में होता है । ओठ अधिक वृत्ताकार होते हैं । इसका प्रयोग शब्दों के अन्त में अधिक होता है । यों भी कुलुई उ-कारांत प्रधान है, परन्तु इनमें से 'ऊ' सबसे अधिक अन्त में प्रयुक्त होता है । नाथू, भगतू, ध्यानू आदि संज्ञा-नामों में 'ऊ' ही प्रचलित है । बोलू, उठू, शाधू आदि क्रिया के भूतकालिक रूप में भी 'ऊ' का ही प्रयोग है । आदि और मध्य में इसका प्रयोग कम होता है, जैसे—ऊना 'ऊन', शूल़ 'पेठ दर्द', दूत आदि ।

उपर्युक्त दोनों से भिन्न कुलुई में एक अन्य ध्वनि को 'उँ' रूप से दिखाया जा सकता है । इसका उच्चारण-स्थान इतना पीछे नहीं है जितना हिन्दी 'ऊ' का है । इसमें जीभ का स्पर्श कोमल तालु से होता है, और यह स्पर्श शिथिल है । दीर्घता की दृष्टि से यह उ और ऊ के बीच की ध्वनि है, परन्तु 'ऊ' के अधिक निकट है । ओठ वृत्ताकार होते हैं, परन्तु पूर्ण वृत्तमुखी नहीं । ओठ बहुत आगे नहीं निकलते । इसका उच्चारण शब्द के आदि मध्य और अन्त में मिलता है, जैसे—उँण्डाएँ (यूँही), उँम्बला (उलटा), बिउँन्त (तजबीज़), बेउँड़ (निचला किनारा), बेउँरा (पागल), देउँ < देव, हिउँ < हिम, घिउँ

'घृत', सेउँ < सेतु आदि :

ए, ऐ

कुलुई में **'ए'** हिन्दी 'ए' की भांति है। यह अवृतमुखी, अग्र, अर्धसंवृत और दृढ़ स्वर है। इसमें मुँह लगभग इतना ही खुलता है जितना 'अ' के लिए खुलता है, ओठ मामूली से अधिक विस्तृत होते हैं। कुलुई 'ए' शब्दों के अन्त में प्राय: प्रयुक्त नहीं होता। शेष शब्द के आदि और मध्य में इसका प्रयोग होता है, जैसे—एतरा 'इतना', एणा 'आना', केबड़ा 'कितना', छेत 'खेत', कड़ेड़ 'अभिमान', नेड़ 'निकट' आदि।

'एँ' कुलुई में 'ए' का ह्रस्व रूप है। इसका उच्चारण-स्थान ए तथा ऐ के लगभग मध्य कदरे ऐ की ओर झुका है। इसके उच्चारण में जीभ केन्द्र की ओर खिच जाती है, और मध्य भाग किंचित दब जाता है। ए से एँ में जाने के लिए मुँह अधिक खुल जाता है और जीभ का तालु से स्पर्श ढीला हो जाता है, अर्थात् जीभ के दोनों पहलु ऊपर की दाढ़ों की जड़ों से स्पर्श करते हैं, परन्तु ए जैसे दृढ़ता से नहीं। यह स्वर अधिकत: शब्दों के अन्त में प्रयुक्त होता है, यहाँ तक कि हिन्दी के ए से अन्त होने वाले शब्द कुलुई में प्राय: एँ-अन्तिम हो जाते हैं, जैसे—हिन्दी केले>कुलुई केलेँ, हिं० चेले>कु० चेलेँ, हिं० जिले>कु० जिलेँ, हिं० करेले>कु० करेलेँ आदि। कर्ता-कारक में शब्द का विकारी रूप अर्थात् 'ने' की अभिव्यक्ति के लिए शब्द में जो विकार आता है, वह यही 'एँ', है—एइएँ 'इसने', शोहरूएँ 'लड़के ने', बेटेँ 'बेटेने' आदि। इसी विकारी रूप से ही इस ध्वनि का ठीक उच्चारण पहचाना जा सकता है। कर्म-कारक का प्रत्यय 'बेँ' (को) इसी ध्वनि में हैं—मूंबेँ 'मुझे', शोहरी-बेँ 'लड़की को' आदि। आरम्भ में एँ प्रयुक्त नहीं होता। मध्य में इसका उच्चारण सुनने में आता है। लिखित लेखों में आजकल लेखक शब्दों के अन्त में जो 'ऐ' का प्रयोग करते हैं, वह वास्तव में 'एँ' है। आजकल मुद्रण कठिनाई के कारण इसे 'ऐ' रूप में ही लिखा जा रहा है। परन्तु उचित यह है कि इसे 'ए' से लिखा जाए अन्यथा लिखित कुलुई हिन्दी से बहुत दूर चले जाएगी। एँ का उच्चारण ए की अपेक्षा 'ऐ' से निस्सन्देह अधिक निकट है, परन्तु केवल इस निकटता के कारण पहले, दूजे, सीधे, बड़े, केले, बेटे आदि असंख्य हिन्दी शब्दों को, जो कुलुई में आम बोल-चाल के शब्द हैं, पहलै, दूजै, सीधै, बड़ै, केलै, बेटै आदि रूप में लिखना अधिक उचित न होगा। मूल रूप में यह मान स्वर एँ के अधिक निकट है।

'ऐ' अर्धविवृत, दीर्घ, अग्रस्वर है। कुलुई 'ऐ' अपने अनुरूप 'एँ' से दो दिशाओं में भिन्न है—एक जीभ की स्थिति और दूसरे ओठों का आकार। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है एँ में जीभ के दोनों पहलु ऊपर की दाढ़ों की अन्दरूनी जड़ों से स्पर्श करते हैं, परन्तु 'ऐ' में जिह्वा दाढ़ों की जड़ों को नहीं, प्रत्युत सिरों को छूती है। ऐ' में ओठों का आकार अग्रस्वरों में से 'इ' को छोड़ कर अन्य सबसे अधिक फैला होता है। 'ऐ' में ओष्ठों का फैलाव 'ई' से कुछ ही अधिक होता है। इस ध्वनि का सबसे स्पष्ट उच्चारण उन शब्दों में सुनाई देता है जहां संस्कृत या हिन्दी 'अ' को 'ऐ' बदल दिया जाता है। नियमत: कुलुई में 'अ' को 'ओँ' में बदलने की प्रवृत्ति है जो भीतरी पहाड़ी की सभी

बोलियों की मुख्य विशेषता है। परन्तु शहरों के निकट के निवासी इस मौलिक प्रवृत्ति का जान-बूझ कर या बाहरी प्रभाव के कारण पालन नहीं करते। इस प्रकार 'डर' को डो`र (डौर) न कह करके 'डैर' कहते हैं। इसी तरह, 'चल' को 'चौल' न कह करके 'चैल', मत>मौत>मैत, पकना>पौकणा>पैकणा, आदि।

ओ, औ

कुलुई में **'ओ'** अर्धसंवृत, दीर्घ, पश्चस्वर है। यह वृतमुखी स्वर है, परन्तु इसमें 'ऊ' की अपेक्षा ओष्ठ कम गोलाकार होते हैं। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग कोमल तालु से छूता है, परन्तु जीभ तालु में जाकर मुख विवर को 'ऊ' जितना संकरा नहीं करती। ओ का प्रयोग शब्दों के आदि मध्य और अन्त में समान रूप से मिलता है—ओश 'ओस', ओठ 'ओष्ठ', ओबरा 'कमरा', लोक 'लोग', 'कमोड़ी 'चींटी', रो, धो, ढो, सो आदि।

कुलुई का **'ओ`'** अर्धविवृत पश्चस्वर है। इसका उच्चारण 'ओ' और 'औ' के बीच कदरे औ के निकट है। जैसे ए और ऐ की अपेक्षा ए` का प्रयोग कुलुई में अधिक है, वैसे ही ओ और औ की अपेक्षा 'ओ`' का प्रयोग कहीं अधिक है। 'ओ`' में ओ की अपेक्षा मुँह अधिक खुलता है, ओठों का आकार कम गोलाकार होता है, और अधिक फैलते हुए दीखते हैं। ओ उच्चरित करते समय जीभ का जो पश्च-भाग कोमल तालु से स्पर्श करता है, 'ओ`' में उससे भी किंचित पिछला भाग कोमल तालु से स्पर्श करता है, परन्तु स्पर्श कुछ शिथिल होता है। अंग्रेज़ी के ब्लॉक, रॉक, आदि में जो 'औ' की सी ध्वनि होती है, कुलुई 'ओ`' उसके निकट तो है, परन्तु कुछ भेद ज़रूर है। अंग्रेज़ी 'ऑ' का स्थान नीचे 'आ' की ओर है, परन्तु कुलुई 'ओ`' की कदरे ओ की ओर ऊपर को है। इसका प्रयोग आरम्भ, मध्य और अन्त में मिलता है, जैसे—ओ`ग>अग्नि, ओ`ज़ > अद्य, ओ`ठ< अष्ट, शो`ड़ 'सड़', को` 'कहाँ' आदि।

कुलुई में आज कल ओ` को प्रायः **'औ'** रूप में लिखा जा रहा है, क्योंकि कुलुई में मूल 'औ' का रूप 'अउ' में परिणत होता नज़र आ रहा है। मूलतः **'औ'** का स्थान 'ओ`' से कुछ ऊपर है। औ में ओष्ठ ओ` से अधिक गोलाई की ओर झुकते हैं। औ का अधिकतः प्रयोग संध्यक्षर के रूप में होता है। तब इसका ओ` से भेद स्पष्ट प्रकट होता है, जैसे—मो`त (मत) परन्तु मौत (मृत्यु), ओ`खे` (यहां) परन्तु औखे` (कठिनता से), ओ`ज़ (आज) परन्तु औज़ (अपवित्रता) आदि।

इस प्रकार स्वरों के उच्चारण में जिह्वा के अग्र, मध्य तथा पश्च भाग के प्रयुक्त होने तथा जिह्वा की तालु से ऊँचाई (संवृत) और निचाई (विवृत) होने के आधार पर कुलुई के स्वरों को निम्नलिखित स्थिति में व्यक्त किया जा सकता है :—

	अग्र	मध्य	पश्च
संवृत	ई		ऊ
	इ		उँ
	ई`		उ

अर्धसंवृत	ए		ओ
	एॅ		औ
अर्धविवृत	ऐ	अ	ओॅ
विवृत	अऽ	अॅ	आ

प्लुत ध्वनियाँ

कुलुई में प्लुत ध्वनियाँ हिन्दी तथा कुछ अन्य आर्य भाषाओं से अधिक व्यवहार में आती हैं। सम्बोधन तथा आह्वान में तो प्लुत ध्वनियों का प्रयोग मिलता ही है, कुलुई में यह कोई खास बात नहीं। इस सम्बन्ध में कुलुई में एक दूसरी मुख्य विशेषता है, और वह यह कि अधिकता, प्रमुखता या अधिमानता दिखाने के लिए ध्वनि सर्वदा प्लुत हो जाती है। कुल्लू के लोग जब कोई अधिकता, न्यूनता या विशेषता आदि दिखाना चाहते हों तो बहुत, अधिक, अति, अत्यधिक आदि विशेषण या क्रिया-विशेषण का प्रयोग नहीं करते, वरन् मूल शब्द के प्रथम स्वर को लम्बा कर देते हैं। यदि किसी ने बहुत काला साँप देख लिया तो 'बहुत ही काला था' नहीं कहते, बल्कि 'काला' में 'का' के 'आ' स्वर को लम्बा कर देंगे, जैसे 'का३ला'। लम्बा कितना था ? उत्तर होगा 'लो३मा' (बहुत ही लम्बा)। तू ने क्या किया ? उत्तर होगा 'खी३ट मारी' (बहुत तेज़ भागा)। इसी तरह बहुत खट्टा को 'मी३ला', अधिक ऊँचे को 'उ३थड़ा', बहुत ही छोटा को 'हो३छा'। बहुत अधिक चौड़ा को 'बे३र्ला' कहते हैं। इस प्रकार सभी तरह की स्वर ध्वनियाँ प्लुत हो जाती हैं और कुलुई बोली की यह सामान्य विशेषता है और साधारण बोल-चाल में इसका व्यापक और आम प्रयोग होता है। यह विशेषता केवल विशेषण और क्रिया-विशेषण शब्दों तक ही सिमित नहीं है। संज्ञा और क्रिया शब्दों में भी प्लुत स्वरों का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ यदि 'ठीक', 'बिलकुल', 'स्पष्ट' आदि की अभि-व्यक्ति करनी हो तो इन विशेषण शब्दों का प्रयोग नहीं होता बल्कि इनके विशेष्य शब्दों के स्वर को प्लुत किया जाता है, जैसे—ना३का पांधे पाई 'ठीक नाक पर मारा'; से३उआ पांधे झ़ौड़ू 'बिलकुल पुल पर गिरा'; खां३दी घेरे पुहता सो 'बिलकुल (खाना) खाते ही पहुँचा वह', लि३खी-लिखिया थौकू 'लिख-लिखकर थक गया' आदि। इस प्रकार विशेषणों और क्रिया-विशेषणों का काम प्लुत स्वरों से ही लिया जाता है।

अनुनासिकता

कुलुई में प्रायः सभी स्वरों के अनुनासिक रूप मिलते हैं। अनुनासिकता में स्वरों का उच्चारण स्थान तो वही रहता है, परन्तु उच्चारण करते समय बाहर निकलने वाली वायु मुँह और नाक से साथ-साथ निकलती है :—

अं : अंबर, अंट-शंट, मंतर,

अऽं : अऽंजा > अंत्र, नऽंगा 'नंगा', बऽंदर, ठऽंडा 'ठण्डा',

आं : चांड 'नखरा', टांग, लाँघणा 'पार करना',

इं : इंजण 'इंजन', 'पिंज़ण, लिंगटा 'दुम',

इं̆ : इं̆च़, पिं̆च़, पिं̆घा,
ईं : ईंट, ढींग, ठींग, हींग,
उं : टुंबला, मुंड, शुंड,
उं̆ : उँ̆डा, उँ̆बल़ा, हिउँ̆,
ऊं : ऊंघ, चूंढा, टूंडा,
एं : एंडा, तेंडा, लेंगड़ा, फेंबड़ा,
एँ : चेँ-चेँ, भेँपरा,
ऐं : सैंगी, सैंसा, च़ैंदरा,
ओं : ओंस, छ़ोंदा, रोंदा, तोंबड़ा,
ओँ : लोँगर, झ़ोँख, शल़ोँ,
औं : कौंधा, गौंच, कौंल़ा

कुलुई में अनुनासिकता की कुछ प्रवृतियां भी पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत 'म' व्यंजन अनुनासिक में बदल जाता है, यथा—कोमल > कोंल़ा, हिम > हिउँ, अहम् > हाऊँ, ग्राम > गराँ, नाम > नाऊँ आदि।

इसी तरह हिन्दी क्रिया का 'ना' कुलुई में 'णा' में बदल जाता है और इसके वर्तमानकालिक कृदन्त का रूप अनुनासिक में बदल जाता है—खाना > खाणा > खाँदा (खाता), जाना > जाँदा (जाता), आना > एणा > एंदा (आता), सोना > सोणा > सोंदा (सोता) आदि। यह अनुनासिकता केवल स्वरांत धातुओं में होती है। अन्य में नहीं।

इसके विपरीत ऐसे उदाहरण हैं जहाँ अनुनासिकता कुलुई में आकर लुप्त हो गई है। शब्दों में प्रथम अक्षर में अनुस्वार या अनुनासिक हो तो कुलुई में इसका प्रायः लोप हो जाता है, जैसे हिं० फंसना कु० फसणा, गंवाना > गुआणा, गंवार > गुआर, फूंकना > फूकणा, माँस > मास आदि।

इसी आधार पर यदि शब्द 'अं' से आरम्भ होता हो तो उसका पूर्णतः लोप हो जाता है—अंगीठी > गीठी, अंगूठा > गूठा, अंगूठी > गूठी, अंगार > गार, अंगोछा > गोछा आदि।

कई ऐसे उदाहरण हैं जहाँ केवल अनुनासिकता के कारण ही अर्थ में भेद आ जाता है, जैसे—गोठ (महफिल) परन्तु गोंठ (गांठ), बाका (खोलो) परन्तु बाँका (अच्छा), रोग (बीमारी) परन्तु रोंग (रंग) आदि।

स्वर-संयोग

सिद्धान्त रूप में संयुक्त स्वर और स्वर-संयोग के दो भिन्न रूप हैं। हिन्दी के आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ संयुक्त स्वर हैं। इस दृष्टि से कुलुई अऽ, एँ, ओँ संयुक्त स्वर हैं। संयुक्त-स्वर में दो स्वरों का ऐसा मिश्रण होता है कि दोनों अपना स्वतन्त्र रूप छोड़ कर एक नया रूप धारण करते हैं। अपना अलग व्यक्तित्व खो कर एक नई सत्ता को जन्म देते हैं। दोनों का उच्चारण अलग-अलग नहीं रहता। स्वर-संयोग में दो या अधिक स्वरों

की एक दूसरे के साथ-साथ आने पर अलग सत्ता लग-भग स्थापित रहती है। सब का उच्चारण अलग-अलग रहता है। यहाँ दो स्वर एक रूप धारण नहीं करते; दो स्वर पास-पास होते हैं परन्तु अपना अलग व्यक्तित्व कायम रखे होते हैं। कुलुई भाषा में इस तरह के स्वर-संयोग बहुत हैं :—

आ+इ आइ : आइड़ा (कदरे गूँगा), काइल (एक वृक्ष), लाइक (लायक), खाइला (खाया जाएगा)।

आ+ई आई : जाईला (सख्त), त्राई (तीन), भाई, ढाई।

आ+उ आउ : आउला (कच्चे भुने दाने), काउड़ा (कौवा), धाउड़ा (अधूरा), माउला (मामा)।

आ+ऊ आऊ : आऊंदा (चूल्हे का पिछला भाग), घाऊ (घाव), झाऊं (ऊपर)।

आ+एँ आएँ : आएँ, बणाएँ, खाएँ, बटाएँ।

इ+अ इअ : मिअत (मजदूरी), जिअम (जी लेंगे), पिअम (पी लेंगे)।

इ+आ इआ : सिआ (सिला), मिआल (जलती लकड़ी) दिआल (दयालु)। य-श्रुति के कारण इनके रूप क्रमशः सिया, मियाल, दियाल हो जाएंगे।

इ+उ इउ : शिउल (बड़ा किलटा), जिउड़ा (तबीयत), दिउड़ा।

इ+उँ इउँ : घिउँ (घृत), हिउँ (हिम), बिउँन्त (तजवीज), निउँदा (निमंत्रण)।

इ+एँ इएँ : जिएँ (जी गए), पिएँ (पी लिए)।

ई+अ ईअ : बीअण (धनिया), मीअण (झब्बल)।

ई+आ ईआ : जीआ (जीओ), पीआ (पीओ) छीआ (चित्रण)।

ई+इ ईइ : पीइला (पिया जाएगा), जीइणा (जिया जाना)।

ई+उ ईउ : सीउण (सूई), बीउन (भेड़ की मींगनें), रीउंश (एक लकड़ी विशेष)।

ई+ऊ ईऊ : पीऊ (पिया), जीऊ (जिया), सीऊं (सीमा)।

ई+एँ ईएँ : बेटीएँ (बेटी ने), भाईएँ (भाई ने), शोहरीएँ (लड़की ने), मामीएँ (मामी ने)।

उ+आ उआ : उआर (इस ओर), उआँस (अमावास्य), दुआंज़ (अलग कर), चुआड़ (छील), डुआर (द्वार), सुआर (सवार), पुआस (उपवास)।

उ+इ उइ : उइन (इस में), भुइण।

उ+ई उई : हुई, धुई (धुआं)।

उ+एँ उएँ : हुएँ, जुएँ, मुछुएँ।

ऊ+आ ऊआ : रुचूआ (पसन्द आया), शोटूआ (फेंक गया), रातूआ (रात हुई)।

ऊ+ई ऊई : दूई (दो), बूई (बुआ), शूई (कल)।

ऊ+एँ उएँ : लोचूएँ (थक गए), पूछूएँ (पूछ ही लिया), धाचुएँ (पाल ही लिया)।

ए+आ एआ: नेआ (ले जाओ), देआ (दो), लेआ (लो)।

ए+इ एइ : मेइड़ (फर्श), देइणा (दिया जाना)।

ए+ई एई : नेई (ले जाना), देई (दे देना), लेई (ले लेना)।

ए+उ एउ : जेउड़ा (पशु बांधने की रस्सी), नेउड़ा (शिकार की तरी), रेउड़ी (रेवड़ी)।

ए+ऊ एऊ : लेऊ (लिया), नेऊ (लेगया)।

ओ+आ ओआ : धोआ (धो दो), सोआ (सो लो), ढोआ (वाहन करो), रोआ (रो लो)।

ओ+इ ओइ : डोइका (मछली की किसम का जीव), ओइर (मुँह पर दाग), कोइला (कोयला)।

ओ+ई ओई: ज़ोई (पत्नी), पोई (पड़ी), डोई (काठ की कड़छी), भणोई (बहनोई)।

ओ+ऊ ओऊ : खोऊ (खो दिया), धोऊ (धो दिया), ढोऊ (वाहन किया)।

ओ+एँ ओएँ : खोएँ, ढोएँ, धोएँ।

औ+इ औइ : शौइरी (सैरी संक्रान्त)।

औ+ई औई : नौई (नदी), खौई (मैल)।

औ+उ औउ : औउरा (अधूरा), कौउड़ा (कड़वा), औउरी (अधूरी)।

औ+ऊ औऊ : शौऊ (सौ)।

कुलुई में दो से अधिक स्वरों का भी साथ-साथ प्रयोग मिलता है—तीन स्वरों का संयोग—

आ इ आ : खाइआ, निहाइआ।

आ ई एँ : भाईएँ (भाई ने)।

आ उ आ : खाउआ (खाया गया), बणाउआ (बनाया गया), बचाउआ (बचाया गया)।

आ उ ई : खाउई, बणाउई, बचाउई (बचाई गई)।

आ उ एँ : खाउएँ, बणाउएँ, बचाउएँ (बचाए गए)।

ई उ आ : पीउआ (पिया गया), ज़ीउआ, सींउआ, संज़ीउआ (दीया)।

ई उ ई, : पीउई, ज़ीउई, सींउई।

ई उ एँ : पीउएँ, ज़ीउएँ, सींउएँ।

इ आ इ : धिआइणी (विवाहित बहिनें), पिआइणा (पिलाया जाना) जिआइणा (जीवित कराना)।

ए उँ आ : देउँआ (हे ! देव), सेउँआ रा (सेब का), रेउँआ (तबीयत)।

ए उ ई : देउई (दी गई), नेउई (ले जाई गई), लेउई (ले ली गई)।

ए उ एँ : परेउएँ (पूरे हुए), नेउएँ (ले जाए गए)।

ओ उ आ : खोउआ (खोया गया), धोउआ (धोया गया), सोउआ (सोया गया)।

ओ उ ई : खोउई, धोउई, सोउई, रोउई।

ओ उ एँ : खोउएँ, धोउएँ, सोउएँ, परोउएँ (परोए गए)।
ए इ एँ : तेइएँ (उसने)।
ओ ई एँ : जोईएँ (पत्नी ने), भणोईएँ (बहनोई ने)।

चार स्वरों का संयोग—

कुलुई की क्रियाओं के विभिन्न प्रयोगों में चार स्वरों का भी एक साथ संयोग होता है। कुछेक उदाहरणों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाएगी :

आ उ इ आ : खाउइआ (खाया जा कर), निहाउइआ (नहा कर)।
आ उ इ एँ : खाउइएँ न्हीसी (खाया ही न गया), बणाउइएँ, पाउइएँ।
ई उ इ एँ : पीउइएँ, जीउइएँ, सींउइएँ।
ओ उ इ एँ : धोउइएँ बेठें (धो कर बैठ गए), सोउइएँ, रोउईएँ न्हीमुई (रोया ही न गया)

(नोट : य-श्रुति के कारण उपर्युक्त उदाहरणों में इ आ स्वर 'इया' हो जाते हैं)

श्रुति (Glide)

कुलुई में श्रुति का विशेष महत्व है। 'य' और 'व' हिन्दी में भी श्रुतिपरक हैं। परन्तु कुलुई में 'य' और 'व' ही नहीं, वरन् अन्तस्थ श्रेणी के शेष 'र' और 'ल' तथा उत्क्षिप्त 'ड़' तथा 'ल़' भी इस क्षेत्र में आते हैं। 'र' और 'ल' का श्रुतिपरक होना कुलुई का पूर्व-वैदिक भाषा से सम्बन्ध जोड़ता है, क्योंकि प्राग्वैदिक आर्यभाषा में 'र' और 'ल' भी अर्धस्वर थे।[1] इसी लिए ये अन्तस्थ श्रेणी में हैं।

श्रुति में 'य' का सम्बन्ध अग्रस्वरों से है। इसका उच्चारण विशेषतः इ, ई तथा ए, अऽ के सदृश होने लगता है। 'प्यारा' का उच्चारण पिआरा होता है। इसी तरह प्याला या पिआला, घियाना या घिआना, सियाणा या सिआणा आदि। इस स्थिति में 'य' के लिए उच्चारण में जीभ की हरकत ध्यान देने योग्य है। जीभ का अग्रभाग किंचित ऊपर उठता है। 'इ' के उच्चारण स्थान के निकट तालु से स्पर्श करता है और फिर तुरन्त आगे को फैल जाता है तथा 'ए' की ओर ढलने लगता है। उच्चारण लघु है। मूलतः शब्दों के आरम्भ में 'य' प्रायः 'ज' में बदलता है, जैसे—यजमान > जजमान, योगिनी > जोगणी, योग > जोग आदि। परन्तु मध्य और अन्त में 'य' सुरक्षित तो है, लेकिन श्रुति में बदल जाता है, यहाँ इसका उच्चारण इ+अ से मिलता है, जैसे—बिआली < ब्याली < अप० बिआलिअ (रात का खान), शिआल़ < शियाल़ < सं० शृंगाल, काइया < काया, पराइआ हिं० पराया आदि।

श्रुति में 'व' का सम्बन्ध पश्चस्वरों से है। इसका उच्चारण उ-ऊ-आ के सदृश है। वास्तव में कुलुई में 'व' व्यंजन नहीं है इसका उल्लेख व्यंजन ध्वनियों के अन्तर्गत किया गया है। कुलुई में 'देव' का रूप 'देऊँ' है। परन्तु जब कारक प्रयोग के लिए इस का विकारी रूप बनता है तो 'देउआ' बनता है जो प्रायः 'देवा' समान है। अतः 'व' कुलुई

1. डा० हरदेव बाहरी : हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप, पृ० 116.

में उ—ऊ—ओ—औ से परिवर्तनीय है—सुपना < सं० स्वप्न, सूना < सं० स्वर्ण, देउर < सं० देवर, लूण < सं० लवण, दानू < सं० दानव, माण्हु < मानव, जौर < सं० ज्वर आदि। इसी तरह तवा > तौउआ, दीवा > दिउआ, दरवाज़ा > दरुआज़ा आदि। 'व' का 'उआ' में परिवर्तन सहजता के कारण है। ठण्डे स्थानों पर 'व' का दन्त्योष्ठ्य उच्चारण सुविधा-जनक नहीं है। सामान्य बोल-चाल में 'य' की अपेक्षा 'व' श्रुति का संध्यात्मक रूप उओ या औ अधिक मिलता है। जब 'व' की ध्वनि सन्धि नहीं करती तो 'व' ध्वनि 'ब' में बदल जाती है—वलि > बोॅली, वर्ष > बोॅर्ष आदि। श्रुतिरूप 'व' के उच्चारण में जीभ ऊपर को उठती है और फिर पीछे की ओर झुक जाती है। इसमें ओठों का आकार भी कदरे गोलाकार हो जाता है।

जहां तक अन्तस्थ व्यंजनों के शेष 'र', 'ल', 'ल़' की श्रुति का सम्बन्ध है, यों लगता है, जैसे कुलुई बोली 'र' तथा 'ल', 'ल़' रहित है। कुछ स्थितियों में तो ये इतने धीमे उच्चरित होते हैं कि साधारणतः सुनाई नहीं देते और इन्हें पहचानना कठिन है। 'एइरा मुंह भाः ता भाः' में कोई नहीं कह सकता कि 'भाः' वस्तुतः 'भाल़' है, अर्थात् भाल़ ता भाल (देख तो देख)। इसी तरह "भौलू-न की सा ?" वाक्य में अन्य भाषा-भाषी तो दरकिनार स्वयं कुलुई आसानी से यह नहीं कह सकते कि "भौलू" शब्द वास्तव में "भौरलू" है। इसी तरह "बुन्ह औंआं ड़ै" में यद्यपि 'औंआं' मूलरूप में 'औल़णा' है (सम्भवतः < सं० गल् से) परन्तु यह अपने मूल उच्चारण में बोला ही नहीं जाता, अन्यथा इसका रूप 'औलणा' हो जाएगा जिसका अर्थ 'अलूणा' अर्थात् 'कम नमक वाला' हो जाएगा।

मूलरूप में 'र' मूर्धन्य व्यंजन है और साधारणतः इसका मुख्य प्रयोग इसी रूप में होता है—रौशी, कौरथ, सौरग, भार, चार आदि। परन्तु यदि किसी शब्द या वाक्य में 'र' के तुरंत बाद इसी वर्ग का व्यंजन आए तो इसकी ध्वनि श्रुत कर जाती है। तब 'र' का पूरा उच्चारण नहीं होता, बल्कि इसकी ध्वनि अपने से पूर्व स्वर में मिल जाती है, और अगले वर्ण की ध्वनि से मेल खाकर नयी ध्वनि पैदा होती है जो इस उच्चारण से बिल्कुल भिन्न होती है। ऐसी स्थिति तब होती है जब 'र' से पूर्व दीर्घ स्वर हो और 'र' के बाद इसी के उच्चारण-स्थान का व्यंजन हो। 'र' का उच्चारण-स्थान मूर्धन्य है। अतः इसके पश्चात् अन्य मूर्धन्य वर्ण ट, ठ, ड, ढ, न, ल़ तथा ल के आने से 'र' का उच्चारण बदल जाता है। 'र' के उच्चारण के लिए जीभ मूर्धा पर पहुँचती है और चूँकि तुरन्त बाद पुनः मूर्धा का स्पर्श करना है अतः अपने स्थान को छूने से पहले ही अगले मूर्धन्य शब्द को उच्चरित करती है और इस तरह 'र' पूर्णतः लुप्त हो जाता है, अथवा मामूली-सी ध्वनि निकलती है। इस स्थिति में जीभ 'र' के लिए मूर्धा तक नहीं पहुंचती, केवल जीभ के पार्श्व दाढ़ों के सिरों तक ही जा टकराते हैं, और इस तरह कोमल 'ह' अथवा 'अ' के निकट की ध्वनि उत्पन्न होती है—मौअ्ना (मरना), भौअ्ना (भरना), घौअ्ठ (घौरठ < घराट), तौअ्ना (तौरना < तैरना), बाहअ्ला (बाहरला < बाहर का), बेएला (बेरला—'चौड़ा'), दाअ्ठा (दारठा—'संदूक'), कौअ्डा (कौरडा—'कठिन') ठुअ्डा (ठुरडा—पैर)। मूर्धन्य वर्णों से पूर्व ही 'र' श्रुति में बदलता है, अन्य से पूर्व

नहीं। इस बात को उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है—'चीरना' के धातु 'चीर' में 'ला' लगाने से श्रुति होती है चीअ्ला (चीरला—चीरेगा) परन्तु 'ता' लगाने से 'र' पूरा उच्चारण देता है चीरता (कृपया चीरो)। इसी तरह धौअ्न (धौरन<धरणी) परन्तु धौरत (धरति), केअ्ना (केरना 'करना'), केअला (केरला 'करेगा') परन्तु केरता (कीजिए) आदि।

कुल्लूई में 'र' की तरह ही 'ड़' भी श्रुति-परक है। इसके श्रुति में बदलने के भी वही नियम हैं जो 'र' के हैं। परन्तु ध्वनि में थोड़ा-सा अन्तर है। 'र' की श्रुति में जीभ के दोनों किनारों के पिछले भाग का मामूली-सा स्पर्श दाढ़ों (molars) के सिरों पर होता है। इसके विपरीत 'ड़' की स्थिति में जीभ का अग्रभाग कदरे मुड़कर मूर्धा से किंचित स्पर्श करता है—घौअना (घौड़ना, मारना), झौअना (झौड़ना, गिरना), शौअना (शौड़ना, सड़ना), रोअला (रोड़ला, छेड़ेगा), आदि।

कुलुई में 'ल' और 'ल़' अलग-अलग ध्वनियाँ हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण "व्यंजन ध्वनि" अध्याय में कर दिया गया है। दोनों 'ल' और 'ल़' श्रुतिपरक हैं, परन्तु दोनों के नियम अलग-अलग हैं, और इस दृष्टि से 'ल' की अपेक्षा 'ल़' की श्रुति अधिक व्यापक है। 'ल़' शब्दों के आरम्भ में प्रयुक्त नहीं होता, परन्तु जहाँ भी 'ल़' का प्रयोग होता है, अथवा शब्दों में जो भी इसकी स्थिति हो, इसकी ध्वनि श्रुति में ढल जाती है। इसके पूर्व और पश्चात् कैसी भी ध्वनि हो, इसकी ध्वनि का लोप हो जाता है—काअ (काल़, अकाल), पराअ (पराल़), गुआआ (गवाला), नाआ (नाल़ा, नाला), थाई (थाल़ी अर्थात् थाली), आऊ (आल़ू, आलू), नाहऊ (नाहल़ू 'नाभि') आदि। 'ल़' का ऐसा उच्चारण असावधानी, आलस्य, या ढीलेपन के कारण होता है। शीघ्रता के साथ बोलने से भी प्रायः ऐसा होता है, अन्यथा 'ल़' की ध्वनि ठीक भी सुनाई देती है। ऐसे उच्चारण में जीभ की गति देखने योग्य है। जीभ का अग्रभाग ऊपर उठता है, परन्तु मूर्धा को छू नहीं पाता। पहले ही आगे को झुक जाता है, जिससे हवा बिना रोक-टोक के बाहर निकल जाती है। जीभ का अग्रभाग चौड़ा भी हो जाता है। 'र' और 'ल़' की श्रुति में अन्तर यह है कि 'र' की स्थिति में जीभ के मध्य के दोनों किनारे दाढ़ों से स्पर्श करते हैं। परन्तु चूँकि 'ल़' मूल रूप में पार्श्विक व्यंजन हैं, अर्थात उसके मूल उच्चारण में वायु किनारों से बाहर निकलती हैं, अतः श्रुति में भी जीभ के पार्श्व दाढ़ों से स्पर्श नहीं करते।

जहाँ तक श्रुति सम्बन्धी उच्चारण का सम्बन्ध है 'ल़' और 'ल' की ध्वनियों में कोई अन्तर नहीं है। जीभ की स्थिति और गति समान रहती है। होंठों का आकार भी एक-सा रहता है। परन्तु जहां 'ल़' हर स्थान और हर स्थिति में श्रुति-योग्य है, वहां 'ल' में कुछ सीमाएँ हैं। 'ल' शब्दों के आरम्भ में भी प्रयुक्त होता है। इस स्थिति में यह कभी भी श्रुति में नहीं बदलता। इसी तरह अन्तिम स्वर-रहित 'ल' (अथवा अ-स्वर सहित) भी अपना पूरा उच्चारण स्थिर रखता है—यथा लौत, लिगटा, लुहार, लोहा, लाल, बोल, खोल, ढाल, टोल आदि। 'ल' केवल उस स्थिति में श्रुति में बदल जाता है, जब 'ल' के तुरन्त पश्चात इसी के वर्ग का व्यंजन आ जाए; अर्थात् यदि 'ल' के

बाद कोई स्वर न हो बल्कि इसके वर्ग का व्यंजन हो तो इसका उच्चारण श्रुति में बदल जाता है।

'र' की स्थिति में ऊपर लिखा जा चुका है कि 'र' मूर्धन्य है तथा यदि इसके बाद अन्य मूर्धन्य वर्ण अर्थात् ट, ठ, ड, ढ, न, ल तथा ल़ आ जाए तो 'र' का उच्चारण बहुत क्षीण हो जाता है। इसी तरह कुलुई 'ल' का उच्चारण-स्थान दन्त्य और वर्त्स्य के बीच का है, बल्कि वर्त्स की ओर अधिक झुका है। अतः यदि 'ल' के तुरंत पश्चात् दन्त्य व्यंजन त, थ, द, ध या वर्त्स्य च़, छ़, ज, झ तथा ल अथवा ण आ जाएं तो 'ल' का उच्चारण बिलकुल धीमा हो जाता है और सामान्यतः सुनाई नहीं देता—उदाहरणार्थ काअ्ज़ा < कालजा < कलेजा, गोंठा खोअ्ता खोल (खोल तो खोल), सो बोअ्दा लागा (सो बोलदा लागा), सो नौअ्दा उठू (सो नौल़दा उठू)। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि कुलुई में 'र' के बाद 'ण' कभी नहीं आता। 'र' के पश्चात् सदा 'न' ही आएगा और जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, इससे पूर्व भी 'र' श्रुति में बदल जाता है। ठीक इसके विपरीत 'ल' के बाद 'न' नहीं आता, वरन् सर्वदा ण ही आता है; तथा 'ण' से पूर्व भी 'ल' श्रुति में बदल जाता है, परन्तु साथ ही एक और परिवर्तन भी होता है और वह यह कि 'ण' भी स्वर में बदल जाता है और साथ ही अपने से पूर्व अनुसार को भी जन्म देता है—बोंअ्आ (बोलणा, बोलना), खोंअ्आ (खोलणा), नौंहआ (नौल्हणा, कूटना), तौंहआ (तौल्हणा, हिलना), पीठा चांअ्आ (पीठा चा़लणा)आदि। ऐसी घटना 'र' के बाद 'न' के साथ नहीं होती। वहां 'न' सुरक्षित रहता है।

जैसे ल, ल़, र के उच्चारण श्रुति में बदल जाते हैं वैसे ही इनके महाप्राण ल्ह, ल़्ह, र्ह भी उच्चारण बदल देते हैं—थौंही (थौल्ही), नौंहआ (नौल्हणा) आदि। कुलुई में श्रुतिपरक शब्दों और उच्चारण का खास महत्व है। इसके कारण कई बार लुप्त अक्षर का ज्ञान आसानी से हो भी नहीं पाता। यह ज्ञात करना कठिन हो जाता है कि र, ड़, ल, ल़ में से कौन-सा अक्षर लुप्त है। केवल शब्दों के सम्पर्क से ही यह पता चल सकता है। उदाहरणार्थ—"मूं खाणा सेअ्ना" वाक्य में सेअ्ना में क्या लुप्त है? 'सेअ्ना' का अर्थ सम्पूर्ण होता है 'सम्पूर्ण' से 'सारा' शब्द बना। 'सारा' से 'सेरा' और 'सेरना'। अतः 'र' की श्रुति हो सकती है। इस विषय के सम्बन्ध में वास्तविक घटना पर आधारित एक कहावत बड़ी प्रसिद्ध है। राजमहल में अतिथियों को खाना खिलाया जा रहा था। जब बड़ियों की प्रशंसा होने लगी तो रानी से, जिसने बड़ियां बनाई थीं, रहा न गया और तुरन्त बोली "बौई ता मैं तौई" (बौड़ी ता मैं तौली अर्थात् बड़ियां तो मैंने तली हैं)। ल, ल़, र, ड़ की अपने ही वर्ग के वर्णों से पूर्व श्रुति के अतिरिक्त अन्यत्र इसका कारण उच्चारण में शीघ्रता, आलस्य, असावधानी या ढीलापन है।

अध्याय—4

स्वरों की उत्पत्ति

'अ' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'अ' से, यथा—बचन < सं० वचन, खह्‌रा < सं० खर, अर्जण < सं० अर्जुन, चमार < सं० चर्मकार, दही < सं० दधि।

(2) प्रा० भा० आ० भा० के 'आ' में स्वराघात के अभाव से जैसे—जीभ < सं० जिह्वा, बेल < सं० बेला, लाल < सं० लाला (थूक), बख्यान < सं० व्याख्यान।

(3) प्रा० भा० आ० भा० के इ, ई से, यथा—राश < सं० राशि, बुध < सं० बुद्धि, जात < सं० जाति, भीत < सं० भीति, बशाऊं < सं० विश्राम, गुरभण < सं० गर्भिणी, तीतर < सं० तित्तिर, लिखत < सं० लिखित, हौरण < सं० हरिण, जोत < सं० ज्योति।

(4) प्रा० भा० आ० भा० के 'उ' से जैसे—गूर < सं० गुरु, चतर < सं० चतुर, दार < सं० दारु (लकड़ी), मुकट < सं० मुकुट, कुकड़ < सं० कुक्कुट।

(5) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' से—बध (णा) < सं० वृद्धि, अमरत < सं० अमृत, शंगार < सं० शृंगार, करपाण < कृपाण।

(6) स्वर-भक्ति से, यथा—जतन < सं० यत्न, जनम < सं० जन्म, बिघन < सं० विघ्न, मंतर < सं० मन्त्र, रतन < सं० रत्न, जंतर < सं० यन्त्र।

'आ' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'अ' से, जैसे—काजल < सं० कज्जल, काठा < सं० कष्ठक, थंभा < सं० स्तम्भ, नाश < सं० नष्ट।

(2) प्रा० भा० आ० भा० के 'आ' से—आत्मा < सं० आत्मा, खार < खार, राजा < सं० राजा, गरां < सं० ग्राम, माया < सं० माया, दुआर < सं० द्वार।

(3) प्रा० भा० आ० भा० के 'इ', 'ई', से, जैसे—तारा < सं० तारिका, धरिशटा < सं० दृष्टि, गोदला < सं० गौधुलि।

(4) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' से, यथा—काट < सं० कृत, मांज (णा) < सं० मृज, शांगल < सं० शृंखला, नारसिंघ < सं० नृसिंह, नेता < सं० नेतृ, दाता < सं० दातृ।

(5) अ+आ या आ+अ के संयोग से—पुआस<सं० उपवास, तुआर<सं० आदित्यवार, कलार<सं० कल्याहार।

(6) प्रा० भा० आ० भा० के 'क' से, यथा—पीठा<सं० पिष्टक, चोड़ा<सं० चूडिका, कोंडा<सं० कण्टक, भांडा<भांडक, कीड़ा<कीटक।

'इ', 'इ̆' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'अ' से—गिण<सं० गण, ज़िण<सं० जन, मिश< मश (क्रोध), पिंज़रा<सं० पंजर, किण<सं० कण, इमली<सं० अम्लिका।

(2) प्रा० भा० आ० भा० के 'इ' से, यथा—इंदर<सं० इन्द्र, चिंता<चिन्ता, चिह्न<सं० चिह्न, बिजली<सं० विद्युत, छिड़ा<सं० छिद्र, हिउँ<सं हिम।

(3) प्रा० भा० आ० भा० के 'ई' से, जैसे—हिरख<सं० ईर्ष्या, दिउआ<म० भा० आ० भा० दीव<दीप, दियाली<म० भा० आ० भा० दीवावली<सं० दीपावलि।

(4) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' से—शिँयाल<प्रा० सिआल<सं० शृंगाल, घिँऊँ<सं० घृत, रिँशी<सं० ऋषि, रिँण<सं०ऋण, करिश<सं० कृष, तिँजा<सं० तृतीय, गरिह<सं० गृह, धरिशटा<सं० दृष्टि।

(5) प्रा० भा० आ० भा० के 'य' से, यथा—बिँथा<सं० व्यथा, तियाग<सं० त्याग पिँज़ण<सं० व्यंजन, धियान<सं० ध्यान।

'ई' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'इ' से, जैसे—नींज<सं० निद्रा, बीज़<सं० विद्युत मीठा<सं० मिष्ट, ज़ीभ<सं० जिह्वा।

(2) प्रा० भा० आ० भा० के 'ई' से, जैसे—ज़ीव<सं० जीव, ज़ीण<सं० जीवन शीर<सं० शीर्ष, खीर<क्षीर, नौई<सं० नदी, कीड़ा<प्रा० कीडअ<सं० कीटक।

(3) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' से, जैसे—शींग<प्रा० सिंग<सं० शृंग, भाई <सं० भ्रातृ, नाती<सं० नातृ, जुआंई<जामातृ, पीठ<सं० पृष्ठ, सीज़ (णा) <सृज।

(4) प्रा० भा० आ० भा० के 'य' से, यथा—नीम<सं० नियम, नीत<सं० नियत जोई<सं० जाया।

(5) प्रा० भा० आ० भा० के 'क' से—घाणी<सं० घ्राणिका, कोठी<सं० काण्ठिका ओड़ी<सं० औड्रिक।

'उ' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'उ' से—बुध<सं० बुद्धि,सुख<सं० सुख, दुख<सं० दुःख, खुर<सं० क्षुर, छुरी<प्रा० छुरिआ<सं० क्षुरिका।

(2) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऊ' से—मुल <सं० मूल्य, भुईं < भूमि, पाहुणा < प्रा० पाहुण < सं० प्राघूर्णक।

(3) प्रा० भा० आ० भा० के 'इ' से—दाड़ु < सं० दाड़िम, औस्तु < सं० अस्थि, बुरा < प्रा० बुरुअ < सं० विरूप।

(4) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' से—मुआं <सं० मृत, माउली < मातृली, बुक्का < सं० वृक्क (कौकड़ी बुक्का), घुश < घृष्, शुण < सं० श्रृ।

(5) प्रा० भा० आ० भा० के 'व' की श्रुति के कारण, जैसे—दुआर < सं० द्वार, सुआव < सं० स्वभाव, देउर < देवर, घाउ <सं० घाव, सुपना <सं० स्वप्न।

'उँ', 'ऊ' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'उ' से—सूर < सं० सुरा, दूध < सं० दुग्ध, पूतर < सं० पुत्र, शूका <सं० शुष्क, गूगल <सं० गुग्गुल।

(2) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऊ' से—ऊना < ऊर्ण, मूच <सं० मूत्र, चूरण < चूर्ण, सूतर < सं० सूत्र, दूर <दूर, पूज्रा < सं०पूजा, गेहूं <प्रा० गोहूं < सं० गोधूम।

(3) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' से—बूटा < सं० वृक्ष, बूता <सं० वृत्तम् (कोम-बूता केरा), पूछ्दी < सं० पृच्छति, मातृ > माऊ, भाऊ < सं० भ्रातृ।

(4) प्रा० भा० आ० भा० के 'व' की श्रुति के परिणामस्वरूप—लूण < सं० लवण, दानू < सं० दानव, तालू <तालव्य, जीऊ < जीव, सूना <स्वर्ण।

(5) प्रा० भा० आ० भा० के 'क' से जैसे—चेट्टू < चेटक, काठू < काष्टक।

(6) प्रा० भा० आ० भा० के 'अ' से—पौटू <सं० पट, पौटकू <सं० पटक, बोछू < सं० वत्स, लूंज < लञ्ज।

(7) प्रा० भा० आ० भा० के ओ, औ से—जूगत < सं० योगात, कूण्ही < सं० कोण, हूम < होम।

(8) प्रा० भा० आ० भा० के 'त' से—धिऊ <घृत, सेऊ < सेतु, चऊथा <चतुर्थ, माऊला < मातुल, धिऊ < दुहिता।

(9) प्रा० भा० आ० भा० के 'म' से—खेऊ <क्षेम, हिऊं < हिम।

'ए' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'ए' से—एक < एक, शेता <सं० श्वेत, सेऊ <सं० सेतु, जेठा < सं० ज्येष्ठ, देऊ <देव, छेत <सं० क्षेत्र, समेत <सं० समेत, ते < सं० ते।

(2) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऐ' से—तेल <प्रा० तेल्ल <सं० तैल, गेरू < प्रा० गेरुअ < सं० गैरिक, बेइद < सं० वैद्य, देइव < सं० दैव।

(3) प्रा० भा० आ० भा० के 'अ' से—सेभ <सं० सर्व, केबें <सं० कदा, केबकी < सं० कदापि, तेबें < सं० तदा।

(4) प्रा० भा० आ० भा० के 'इ' से यथा—नेड़ < सं० निकट, छेद <सं० छिद्र,

नेउँता < सं० निमन्त्रण ।

(5) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' से, जैसे—केर < सं० कृ, पेर < सं० पृ० ।

'एँ' 'ऐ' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'अय' से, जैसे—परलें < सं० प्रलय, भें < सं० भय, जें < सं० जय, जैंकार < सं० जयकार, सोमें < सं० समय, निह्‌चें < सं० निश्चय ।

(2) स्वराघात की निर्बलता के कारण—एँण्डा < सं० एतादृश, तें ण्डा < सं० तादृश, जें ण्डा < सं० यादृश ।

(3) अ+ह् के संयोग से—दैली < दहली, पैला < पह्‌ला ।

'ओ' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'ओ' से, जैसे—ओठ < सं० ओष्ठ, ओर < सं० ओर, बरोध < सं० विरोध, कोठा < सं० कोष्ठ, गोठ < सं० गोष्ठि, ज़ोथ < सं० ज्योत्स्ना, दोश < सं० दोष ।

(2) प्रा० भा० आ० भा० के 'औ' से—ओकती < सं० औषध, ओड़ी < सं० औड्रिक, मोती < सं० मौक्तिकम् ।

(3) प्रा० भा० आ० भा० के 'उ', 'ऊ' से, जैसे—कोढ़ < सं० कुष्ठ, तोल < सं० तुल, पोथी < प्रा० पोत्थिअ < सं० पुस्तिका, च़ोर < सं० चुर ।

(4) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' से, यथा—बोट < सं० वृत्त ।

(5) प्रा० भा० आ० भा० के 'अ', 'आ' से—दोंद < सं० दन्त, कोंडा < सं० कष्टक, कोम (णा) < सं० कम्प्, खोण (ना) < सं० खन्, धोण < सं० धन ।

'ओँ', 'औ' की उत्पत्ति

(1) प्रा० भा० आ० भा० के 'अ' से, जैसे—ज़ों प < सं० जप, भोंई < सं० भय, बों ल < सं० बल, तों प < सं० तप, औग < अग्नि ।

(2) संयुक्त व्यंजनों के पूर्व वाले 'अ' से, यथा—भौस < भस्म, सौत < सप्त, औठ अष्ट, औशी < सं० अस्सी, हौथ < हस्त ।

(3) प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' से—भौर < भृ, घौर < सं० गृह, मौर < सं० मृ, नौच < सं० नृत्य, तौर < स० तृ, मौत < मृत्यु ।

(4) प्रा० भा० आ० भा० के 'व' की श्रुति से—ज़ौर < सं० ज्वर, ज़ौल़ < ज्वल ।

(5) अ+उ के संयोग से—च़ौथा < चउथा < सं० चतुर्थ, चौदा < च़उदा < सं० चतुर्दश, औखा < अ+सुख, सौखा < सह+सुख ।

(6) प्रा० भा० आ० भा० के 'अव्'—औगण < सं० अवगुण, ज़ौऊ < जौ < सं० यव, नौ < सं० नवम्, धौंल़ा < सं० धवल, लौंग < लवङ्ग (लौंगारा दाणा) ।

(7) शब्द के मध्य में 'प', 'म' से, यथा—औतरा < सं० अपुत्रक, कौंल़ा < सं० कोमल, सौकण < सं० सपत्नीक, गौंच < सं० गौ+मूत्र ।

अध्याय—5

व्यंजन ध्वनियाँ

स्वरों की भांति ही व्यंजन ध्वनियाँ भी कुलुई में हिन्दी से अधिक हैं। अतिरिक्त ध्वनियों में से वर्त्स्य स्पर्श संघर्षी 'च़', 'छ़', 'ज़', 'झ़' इसकी विशिष्ट ध्वनियाँ हैं, जो हिन्दी में पाई नहीं जातीं। इसी तरह वर्त्स्य अन्तस्थ 'ल' के साथ-साथ वैदिक-कालीन मूर्धन्य 'ल़' ध्वनि भी कुलुई में विद्यमान है। कुलुई व्यंजन ध्वनियों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:—

स्पर्श—

क्, ख्, ग्, घ्
च्, छ्, ज्, झ्
ट्, ठ्, ड्, ढ्
त्, थ्, द्, ध्
प्, फ्, ब्, भ्
च़्, छ़्, ज़्, झ़्

अनुनासिक—

ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, ण्ह्, न्ह्, म्ह्

अन्तस्थ—

य्, र्, ल्, ल़्, व्
य्ह, र्ह, ल्ह, ल़्ह

ऊष्म—

श्, स्, ह्

क्, ख्, ग्, घ्, कण्ठ्य स्पर्श ध्वनियाँ हैं। इनका उच्चारण जीभ के पश्च-भाग को कोमल तालु से स्पर्श करने से होता है। इनमें 'क्' अल्पप्राण, अघोष स्पर्श व्यंजन है। यह शब्द के आदि, मध्य तथा अन्त में प्रयुक्त मिलता है—कात (कैंची), चाकर (चकोर), नाक। 'ख्' महाप्राण, अघोष स्पर्श वर्ण है। यह भी तीनों अवस्थाओं में आता है—खापरा (वृद्ध), पाखला (अजनबी), खाख (मुंह)। 'ग्' अल्पप्राण, सघोष स्पर्श व्यंजन है, और तीनों अवस्थाओं में आता है—गाजण, जागरा, नाग आदि। 'घ्' महाप्राण, सघोष स्पर्श व्यंजन है। आदि, मध्य और अन्त में आता है—घौर, द्राघड़ा, बराघ

आदि । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'घ्' की ध्वनि कुलुई में सुदृढ़ है, पंजाबी की तरह क्+ह् जैसा नहीं होता ।

च्, छ, ज्, झ् तालव्य स्पर्श संघर्षी ध्वनियाँ हैं । इनके उच्चारण में जीभ का अग्र भाग टवर्गीय वर्णों के उच्चारण स्थान से कुछ नीचे दान्त की ओर तालू से घर्षण करता है । परन्तु चवर्ग में टवर्ग की तरह जिह्वा की नोक कठोर तालु से नहीं टकराती, वरन् जिह्वा की नोक का पिछला भाग (जिह्वा-अग्र-भाग) कठोर तालु के अग्र भाग से टकराता है । जिह्वा की नोक कदरे फैली रहती है ।

इनमें से 'च्' अल्पप्राण अघोष, 'छ' महाप्राण अघोष, 'ज्' अल्पप्राण सघोष तथा 'झ्' महाप्राण सघोष स्पर्श व्यंजन हैं । ये चारों व्यंजन आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थानों में प्रयुक्त होते हैं—उदाहरणार्थ चाण्डा, धाचणा, दाच; छील, लौछण, हौछी; जौछण, गाजण, शांज; झीकड़, शोझा आदि ।

ट्, ठ, ड्, ढ् ध्वनियाँ कुलुई में भी मूर्धन्य हैं । टवर्गीय उच्चारण में जीभ का अग्र भाग कदरे मुड़ जाता है और इसकी नोक तालु के कठोर भाग अर्थात् मूर्धा को स्पर्श करती है । परन्तु कुलुई के टवर्ग अक्षरों का उच्चारण हिन्दी टवर्ग अक्षरों से कदरे आगे दांत की ओर होता है ।

इनमें से 'ट' अल्पप्राण अघोष, 'ठ' महाप्राण अघोष, 'ड' अल्पप्राण सघोष तथा 'ढ' महाप्राण सघोष स्पर्श ध्वनियाँ हैं । ये सभी आदि, मध्य और अन्त में पाए जाते हैं—टोपी, टापरा, मटियाला, लाटका, काट; ठाकर, कोठड़ी, शौठ; डाना, चांडा, बोंड; ढोल, मंढार, मांढ ।

त्, थ्, द्, ध् दन्त्य स्पर्श ध्वनियाँ हैं । इनके उच्चारण में जीभ का अग्र-भाग ऊपर के दांतों के अग्र भाग को स्पर्श करता है । इनमें से त्, थ् अघोष और द्, ध् सघोष तथा त्, द् अल्पप्राण और थ्, ध् महाप्राण व्यंजन ध्वनियाँ हैं । इन सबका प्रयोग आदि, मध्य और अंत सभी स्थानों पर होता है—

आदि—तौता, तेरा, थाच, थान, दान, दूजा, धान, धौज आदि;

मध्य—बोतल, बातर, मथाण, मथाला, कदाल, बादल, कधोण, चौधरी आदि;

अंत—बौत, भौत, नाथ, साथ, खाद, बाद, करोध, बरोध आदि ।

इस सम्बन्ध में कुलुई की 'ध्' ध्वनि हिन्दी की 'ध्' ध्वनि से किंचित भिन्न है । उसका महाप्राणत्व बहुत हलका प्रतीत होता है । कुछ स्थानों पर 'ध्' का महाप्राणत्व इतना शिथिल है कि 'द' से भिन्नता प्रकट नहीं होती—दिहाड़ा या धियाड़ा (दिन), द्होखा या धोखा, द्हीज़णा या धीज़णा आदि । परन्तु 'दान' तथा 'धान', 'दाच' और 'धाच', दिउआ तथा धिउआ आदि न्यूनतम-विरोधी युग्मों द्वारा दोनों ध्वनियों की पृथकता स्पष्ट होती है ।

प्, फ्, ब्, भ् ध्वनियाँ हिन्दी की तरह ही ओष्ठ्य स्पर्श ध्वनियाँ हैं । इनके उच्चारण में ऊपर और नीचे के दोनों ओष्ठ आपस में छूते हैं । जीभ को हरकत की चेष्ठा नहीं करनी पड़ती । परन्तु इनके उच्चारण में ओष्ठ हिन्दी की अपेक्षा अधिक फैले

रहते हैं, तथा इनका स्पर्श भी अल्पकालिक होता है।

इन वर्णों का उपयोग आदि, मध्य और अंत तीनों स्थानों में समान रूप से होता है—

आदि—पाप, पेट, फाफ, फागड़ा, बागर, बीट, भाज़ी, भेज़ आदि;

मध्य—पापड़, कपड़ा, मुफत, साफा, लाबर, नीबरू, शोभला, गौभली आदि;

अन्त—नाप, शराप, माफ, झीफ, ज़ूब, खूब, लोभ, शोभ आदि।

कुलुई में च़, छ़, ज़, झ़, वर्त्स्य संघर्षी ध्वनियाँ हैं। यह च-वर्गीय तालव्य ध्वनियों से भिन्न हैं। इनके उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के दांतों के सिरों को किंचित् स्पर्श करती है, परन्तु मुख्यतः जीभ का अग्र भाग (नोक से पिछला) वर्त्स (alveola) के साथ टकराता है। इन ध्वनियों को उच्चरित करने का तरीका यह है कि जीभ की नोक को निचले दांतों के अग्र भाग पर दृढ़ता से टिकाए रखें और फिर तालव्य च-वर्ग के वर्णों को क्रमशः च्, छ्, ज्, झ् का उच्चारण करने का प्रयत्न किया जाए। अर्थात् जीभ की नोक निचले दांतों पर स्थिर रहे और फिर च्, छ्, ज्, झ् उच्चरित किया जाए। यह केवल इन ध्वनियों के उच्चारण का एक सहज उपाय है, अन्यथा इनके *उच्चारण में साधारणतः जीभ का अग्र भाग निचले दांतों से नहीं टकराता।*

इन ध्वनियों में से 'ज़' की ध्वनि से हिन्दी भाषी अच्छी तरह परिचित हैं। यह उर्दू ज़ाल या अंग्रेजी जेड (z) है। इनमें से 'च़' अल्पप्राण अघोष वर्ण है। यह शब्दों के आदि, मध्य, अंत में प्रयुक्त होता है—च़रेड़ा (पक्षी का बच्चा), कच़ेड़ (शरारत), नौच़ (नाच)। 'छ़' महाप्राण अघोष व्यंजन है। यह भी तीनों अवस्थाओं में पाया जाता है—छ़ार (क्षार), कोछ़ड़ (लम्बा सा खेत), रौछ़ (रछ)। 'ज़' अल्पप्राण सघोष वर्ण है, और तीनों स्थितियों में आता है—ज़ात, काज़ल, गज़। 'झ़' महाप्राण सघोष स्पर्श ध्वनि है। आदि, मध्य और अंत में प्रयुक्त होती है—झ़ाबल (झब्बल), बझ़िया, मोंझ़।

इन वर्त्स्य ध्वनियों में जीभ की गति तीव्र होती है। इनमें 'स' ध्वनि का समावेश है। च़' बोलते हुए पहले जीभ 'त' ध्वनित करने का प्रयत्न करती है, परन्तु तुरन्त 'स' उच्चरित करती है। यही स्थिति 'छ़', 'ज़' और 'झ़' की है जिनके उच्चारण में जीभ पहले क्रमशः 'थ्', 'द्' और 'ध्' के लिए दांतों से स्पर्श करती है और फिर सर्वदा 'स' ध्वनित करती है, और इस तरह जीभ वर्त्स से टकराती है। जीभ की नोक दांत पर ही रहती है, परन्तु जिह्वाग्र भाग वर्त्स के निकट पहुंचता है। हिन्दी का 'ल्' वर्त्स्य है और कुलुई 'ल्' भी। अब 'ल्', च़वर्ग और चवर्ग ध्वनियों में जिह्वा की स्थिति देखी जाए। जब 'ल्' का उच्चारण होता है तो जिह्वा की नोक (tip) सीधी वर्त्स से टकराती है। जिह्वा का रूप नोकदार होता है। जब च़वर्ग ध्वनियों का उच्चारण होता है तो जिह्वा की नोक चपटी (flat) हो जाती है और चपटी होकर ऊपर के दांतों को छूती है और साथ ही जीभ का अग्रभाग वर्त्स से टकराता है। 'ल्' में नोक का स्पर्श दृढ़ होता है। परन्तु च़वर्ग में बड़ा शिथिल स्पर्श होता है। इसके विपरीत चवर्ग में जिह्वा की नोक नहीं बल्कि जिह्वा का अग्र भाग तालु से स्पर्श करता है।

डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा है कि कुलुई में 'च' ध्वनि को 'च़' में बदलने की प्रवृत्ति है। उनके मतानुसार 'च़' केवल 'च' की संध्वनि (allophone) है। इसमें सन्देस नहीं कि कुलुई में च, छ, ज, झ को क्रमशः च़, छ़, ज़, झ़ में उच्चरित करने की साधारण प्रवृत्ति है। वे चिन्ता को चि़न्ता, चरखा को च़रखा, छाया को छा़ऊं, छतरी को छ़तरी जवान को ज़ुआन, जटा को ज़ौटा, झालर को झ़ालर, झट को झ़ट कहते हैं। परन्तु यह कहना अनुचित है कि 'च़' केवल 'च' की संध्वनि है। न ही छ़, ज़, झ़ क्रमशः छ, ज, झ की संध्वनियां है, वरम् च़, छ़, ज़ और झ़ अलग ध्वनिग्राम हैं जो च, छ ज और झ से भिन्न हैं। इनका पृथक ध्वनिग्राम होना निम्नलिखित न्यूनतम-विरोधी युग्मों से स्पष्ट हो जाता है :—

चोर (शहतूत की किस्म का वृक्ष)	च़ोर (चुराने वाला)
चाम्बड़ा (पतीला)	चा़म्बड़ा (चमड़ा)
कचेड़ा (खमीर)	कच़ेड़ा (शरारतें)
दाची (दरांती)	दाच़ी (जांच ली)
चौखिणा (सड़ जाना)	च़ौखिणा (उठाया जाना)
छार (पानी से निकालना)	छ़ार (क्षार)
मौछी (मक्खी)	मौछ़ी (मछली)
छोंण (क्षण, समय)	छ़ोण (छत लगाना)
जोत (जोतना)	ज़ोत (पहाड़ की चोटी)
जोड़ी (जोड़ा)	ज़ोड़ी (भेड़ों के लिए पत्तियां)
जुक (नीचे)	ज़ुक (मार)
पूजा (पहुंचें)	पूज़ा (पूजा)
झौड़ (तंग परन्तु लम्बा खेत)	झ़ौड़ (गिर जा)
झाड़ (इकट्ठा कर)	झ़ाड़ (गिरा दे)

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'च' और 'च़', 'छ' और 'छ़', 'ज' और 'ज़' तथा 'झ' और 'झ़' कुलुई में अलग-अलग ध्वनियाँ हैं, संध्वनियाँ नहीं।

ऊपर लिखा गया है कि कुलुई में चवर्ग और च़वर्ग पृथक ध्वनियां अवश्य हैं फिर भी चवर्ग को च़वर्ग में बदलने की प्रवृत्ति भी बड़ी व्यापक है। इस विषय को और अधिक स्पष्ट करना बड़ा जरूरी है। कुलुई में चवर्ग को च़वर्ग में बदलने की प्रवृत्ति है, च़वर्ग को चवर्ग में बदलने की नहीं। 'चाहिए' को 'च़ाहिए' कहना उचित है, परन्तु 'ज़रा' को 'जरा' कहना कदापि ठीक नहीं। अतः 'जहाज़' को 'ज़ाह्ज़' तो कह सकते हैं, परन्तु 'जाह्ज' कहना बिलकुल प्रवृत्ति के प्रतिकूल है। इसी तरह 'चीज़' को 'च़ीज़' कहना बिलकुल ठीक है, परन्तु 'चीज़' को 'चीज' कहना अधिक अशुद्ध है। ऐसा उच्चारण कुलुई समाज में बड़ा भद्दा लगता है। भद्दा ही नहीं हंसी का विषय बन सकता है। कारण स्पष्ट है कि च़, छ़, ज़ और झ़ कुलुई की मूल ध्वनियां हैं, अतः बाहर की

ध्वनियाँ मूल में बदल जाती हैं । मूल ध्वनियाँ बाहरी ध्वनियों को जन्म नहीं देतीं । च, छ, ज, झ ध्वनियों का कुलुई में पूर्ण समावेश अवश्य है, परन्तु ये बाद में आई लगती हैं ।

स्पर्श ध्वनियों में से सघोष महाप्राण अक्षरों का महाप्राणत्व कदरे अधिक कोमल है, परन्तु उनका झुकाव पंजाबी की तरह अपने वर्ग के अघोष अल्पप्राण की ओर नहीं होता जैसे पंजाबी में 'घर' का उच्चारण क्हर या 'धक्का' का उच्चारण त्हक्का होता है । इसके विपरीत कुलुई में सघोष महाप्राणों का झुकाव अपने वर्ग के सघोष अल्पप्राण के प्रति होता है—जैसे ध्यान > दिहान, धियाड़ा > दिहाड़ा, झोकड़ > ज्होकड़ (झाड़ियां), धियाग > दिहाग (निशान) धुहाड़् > दुहाड़् (आधा), घिऊ > गिऊ (घृत) आदि ।

अनुनासिक ध्वनियाँ

स्पर्श व्यंजनों के पाँच वर्गों अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग के अन्त में क्रमशः ङ्, ञ्, ण्, न् तथा म् वर्ण भी हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और साधु हिंदी में ये अपने-अपने वर्ग के अन्य वर्णों के लिए अनुनासिकता का काम देते हैं—गंङ्गा, चञ्चल, दण्ड, दन्त, कम्प आदि । कुलुई में इनका उपयोग इस प्रकार नहीं मिलता । वर्णों की अनुनासिकता के लिए कुलुई में अनुस्वार (ं) का ही प्रयोग होता है—गंगा, दंड, दोंद, आदि । तथापि, कुलुई में अनुनासिक व्यंजन के रूप में इनका प्रयोग मिलता है । इस रूप में भी ण्, न्, और म् ही अधिक उपयुक्त ध्वनियाँ हैं । ङ् और ञ् का भी प्रयोग होता है, परन्तु सीमित क्षेत्र में जैसे—खुङ, घुङ, किञा, इञा आदि कुछेक शब्दों में इनका प्रयोग देखा जा सकता है ।

'ण्' कुलुई में मूर्धन्य अनुनासिक ध्वनि है। इसका उच्चारण टवर्ग के अन्य वर्णों की तरह मूर्धा से कुछ आगे दांतों की ओर जीभ की नोक से स्पर्श करके होता है । परन्तु कुलुई 'ण्' में जीभ की नोक के साथ-साथ उसके किनारे के भाग मुख के उपरिभाग से ऐसे स्पर्श करते हैं कि श्वास मुँह के रास्ते से बिलकुल बंद होता है और पूर्णतः नासिका से निकलता है । कुलुई में 'न्' को 'ण्' में बदलने की प्रवृत्ति है । विशेषतः क्रियाओं के सामान्य रूप में 'णा' ही आता है, केवल 'ड़्', 'ढ़्' और 'र्' में अन्त होने वाली धातु में ही 'ना', 'णा', में नहीं बदलता—खाणा, नौचणा, काटणा, कौतणा, नापणा, बोलणा, बाशणा, बौसणा, परन्तु केरना, मौरना, शौढ़ना, घौड़ना आदि । 'ण' शब्दों के आदि में प्रयुक्त नहीं होता । मध्य और अन्त में इसकी ध्वनियां मिलती हैं—कोणक (कणक), धणोट्ट (तम्बूर), गणाट (तेज़ आवाज़), धोण (धन), ज़ोण (जन), कुण (कौन) ।

'ण्' की महाप्राण ध्वनि **'ण्ह्'** भी कुलुई में मिलती है । यह अनुनासिक सघोष मूर्धन्य ध्वनि है, और इसका प्रयोग शब्दों के मध्य और अन्त में मिलता है—माण्हु (मानव), शाण्हा (टहला), पाण्हा (टहना), आदि ।

हिन्दी में **'न्'** की ध्वनि दन्त्य नहीं रही है, यद्यपि यह त-वर्ग का अन्तिम वर्ण

है। हो सकता है प्राचीन आर्य भाषा में 'न्' का उच्चारण दन्त्य हो। अब यह वत्स्र्य के निकट है। परन्तु कुलुई में 'न्' पूर्णतः दन्त्य अनुनासिक है। हिन्दी में 'तथा' कहते हुए जीभ की नोक 'त' और 'थ' दोनों के लिए एक जगह से ठकराती है, परन्तु 'तना' कहते हुए जीभ 'त' के लिए दांत से स्पर्श करती है और 'न' के लिए ऊपर जाकर मसूड़े से छूती है। कुलुई में 'न्' की मूल ध्वनि दन्त्य है, ठीक ऐसे ही जैसे तवर्ग के अन्य वर्णों की है। अन्तर केवल इतना है कि तवर्ग के शेष वर्णों में श्वास जीभ के किनारों से बाहर निकलता है परन्तु 'न' में मुंह से न निकलकर नाक से अधिक निकलता है—नेड़ < निकट, मुन (काट), कोन (कान), नाक, नाटी, नौच आदि। अतः मूल में कुलुई 'न' दन्त्य है, यद्यपि इसकी संध्वनि कहीं-कहीं वत्स्र्य में भी मिलती है जैसे, भौरना, केरना आदि में 'न्' वत्स्र्य है। कुलुई में 'न्' ध्वनि का प्रयोग शब्दों के आदि, मध्य और अन्त में मिलता है। जैसे—नाक, निशटा (नीचा), नुहार (चहरा) आदि में; मनाड़ना (खत्म करना), चनाट (चिकना), झनाटणा (तंग करना), शनाट (हट्टा-कट्टा) मध्य में; मोन (मन), कोन (कान), पीन (पिन) आदि अन्त में। इन में चनाट, झनाटणा, शनाट का 'न्' वत्स्र्य है और यह आगे आने वाली ध्वनि 'ट्' के कारण है। शेष शब्दों का 'न्' दन्त्य है।

कुलुई में 'न्' की महाप्राण ध्वनि 'न्ह' भी मिलती है। यह सघोष अनुनासिक ध्वनि है और मुख्यतः यह दन्त्य रूप में ही प्रयुक्त मिलती है। हिन्दी में 'न्ह' ध्वनि शब्दों के आरम्भ में नहीं मिलती, परन्तु कुलुई में यह आरम्भ में भी उच्चरित होती है—न्हार (पिंजन की तार), न्हूश (बहू), तिन्हाबें (उनको), न्हौश (नाखुन), बुन्ह (नीचे), चिन्हणा (पहचानना)।

'म्' सघोष, अल्पप्राण, ओष्ठ्य अनुनासिक ध्वनि है। इसका उच्चारण दोनों ओठों के परस्पर स्पर्श से होता है। कुलुई के म् में ओष्ठों का स्पर्श हिन्दी से अधिक देर तक रहता है। स्पर्श से हवा मुंह से रुक जाती है और इसलिए नाक के छिद्रों से गुजरती है, और नासिका विवर ध्वनित होती है। कुलुई में 'म्' ध्वनि शब्दों के आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थिति में मिलती है—

आदि में—मोन, मेज़, माटा (मिट्टी), माह (माश), मुठी (मुट्ठी)।

मध्य मे—ज़माना, नमूना, ज़मीन, शमीन (मशीन), कमोणा (कमाना)।

अन्त में—कोम (काम), लोमा (लम्बा), घाम (गरमी), फीम (अफीम)।

कुलुई में 'म्' की महाप्राण ध्वनि 'म्ह्' भी मिलती है। यह सघोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक ध्वनि है। यह ध्वनि शब्दों के आदि में अधिक पाई जाती है, मध्य और अन्त में कम—म्हारा (हमारा), म्हीन (बारीक), म्हूरत, म्हात्मा, कम्हार, बाम्हण, ज़ाम्ह (जमा)।

पार्श्विक व्यंजन

कुलुई में 'ल्', 'ल्ह्', 'ल़्', 'ल़्ह्' पार्श्विक व्यंजन हैं। कुलुई 'ल्' का उच्चारण हिन्दी 'ल्' से किंचित भिन्न है। कुलुई 'ल्' के उच्चारण में जीभ का शीर्ष ऊपर के

मसूड़ों को पूर्णतः स्पर्श नहीं करता, बरन् कदरे नीचे दांतों की ओर रहता है। अतः इसकी ध्वनि वर्त्स्य और दन्त्य के बीच वर्त्स की ओर है। इसका उच्चारण स्थान कुलुई दन्त्य 'न' से पीछे 'च' के निकट है। 'न्' में जीभ का स्पर्श दृढ़ है, 'ल्' में शिथिल है, दांतों का किंचित ही स्पर्श होता है। 'न्' में जीभ के स्पर्श से स्थान खाली नहीं रहता, परन्तु 'ल्' ध्वनि में जिह्वा के दोनों किनारों पर स्थान रहता है जहाँ से हवा बाहर आती है। ऐसा ल्, ल्ह्, ल, ल़्ह सब में होता है, इसीलिए ये पार्श्विक व्यंजन हैं। अतः 'ल' पार्श्विक, अल्पप्राण, सघोष, वर्त्स्य ध्वनि है, जो आदि, मध्य और अन्त में प्रयुक्त होती है—लाटा (लंगड़ा), लोटा, लूण (नमक), लेमकणा (चाटना); कलार (कल्याहार), कलास, जलोड़ी, मलेड़ा (खमीर); चाल, माल, शाल, तोल आदि।

कुलुई में 'ल्' की महाप्राण ध्वनि 'ल्ह्' भी प्रचलित है। यह भी पार्श्विक, सघोष, वर्त्स्य ध्वनि है। इसका प्रयोग भी शब्दों के आदि, मध्य और अन्त में मिलता है—

आदि—ल्हाशण (तिल), ल्हौसा (भू-क्षरण), ल्हौसण (ल्हसन);
मध्य—कल्हाल, नौल्हणा (पीटना, मारना), शिल्हा (छायादार), गिल्हड़;
अंत—टोल्ह (बड़ा पत्थर), कोल्ह (घौंसला), शेल्ह (एक पौधे की छाल जिसकी रस्सी बनती है)।

कुलुई में 'ल्' के साथ-साथ 'ल़्' (ळ) ध्वनि भी बहुत प्रचलित है। यह ध्वनि उसे वैदिक संस्कृत से प्राकृत द्वारा प्राप्त हुई है। प्राकृत में 'ल्' ध्वनि 'ळ' में परिणत होने लगी थी। इसकी ध्वनि 'ट्' और 'च्' के बीच कदरे 'ट्' की ओर है। जीभ का शीर्ष तालु को 'च्' के उच्चारण स्थान से आगे तथा 'ट्' से किंचित पीछे स्पर्श करता है। 'ट्' और 'ल़्' के स्पर्श में एक अंतर और भी है। 'ट्' में जीभ की नोक मूर्धा से सुदृढ़ स्पर्श करती है, नोक कदरे देर तक मूर्धा से छुए रहती है। 'ल़्' में जीभ का शीर्ष 'ट्' से अधिक पीछे को मुड़ता है और मूर्धा को मामूली स्पर्श करता है। इसे मूर्धन्य ही मानना चाहिए। इस प्रकार 'ल़्' पार्श्विक, अल्पप्राण, सघोष मूर्धन्य ध्वनि है, जो शब्दों के मध्य और अन्त में मिलती है। आदि में इसका प्रयोग प्रायः नहीं मिलता—छ़लिंग (चिंगारी), ढाल़णा (मापना), पराल़ (धान का घास), मनाल़ (एक पक्षि), नेउल़ा (नेवला) आदि।

'ल़्' का महाप्राण रूप 'ल़्ह्' भी कुलुई में पाया जाता है। इसका भी आदि में प्रयोग नहीं होता, मध्य और अन्त में इसके रूप मिलते हैं—थौ.ल्ही (थली), ख.ल्हेणा (खौला देना), शाः.ल्ह (ओबरा)।

ल्, ल्ह, ल़् और ल़्ह का स्पर्श अत्यंत शिथिल होने का प्रमाण एक अन्य बात से भी स्पष्ट होता है, जिसका उल्लेख पहले ही 'स्वर-ध्वनि' अध्याय में 'श्रुति' के अन्तर्गत कर दिया गया है। इन ध्वनियों का उच्चारण जीभ के बहुत मामूली स्पर्श से होता है। यह स्पर्श कई बार बिलकुल ही नहीं होता जिसके फलस्वरूप इनकी मूल ध्वनि लुप्त हो जाती है, और श्रुति में बदल जाती है। इसका पूर्ण ब्यौरा 'श्रुति' के अन्तर्गत किया गया है।

यहाँ यह स्पष्ट करना भी अनिवार्य होगा कि कुलुई में 'ल्' और 'ल़्' अलग-अलग ध्वनिग्राम (phoneme) हैं। 'ल़्' का उच्चारण 'ल' की संध्वनि नहीं हैं। इनके अलग ध्वनिग्राम होने की पुष्टि निम्नलिखित न्यूनतम-विरोधी-युग्मों से हो जाती है—

काल (कल)	काल़ (अकाल)
काला (मूर्ख)	काल़ा (काला रंग)
गुआला (खो देगा)	गुआल़ा (गवाला)
मौल (पहलवान)	मौल़ (गोबर)
खौल (खलड़ी)	खौल़ (खल्यान)
माला (मालिक : जैसे मेरेया माला)	माल़ा (माला)
औलणा (अलूना)	औल़णा (गिरना)
लाला (लाला जी)	लाल़ा (राल) सं० लाला

कुलुई में 'ल' और 'ल़' की पृथक ध्वनियाँ होने का प्रमाण श्रुति से भी मिलता है जिसका उल्लेख पहले ही 'स्वर ध्वनि' अध्याय में श्रुति के अन्तर्गत किया गया है।

लुण्ठित व्यंजन

कुलुई में 'र्' की ध्वनि हिन्दी से कदरे भिन्न है। इसके उच्चारण में जीभ का आकार अधिक बेलन-नुमा होता है, और फलतः जीभ की नोक तालु नहीं छूती। इसकी गोलाई नोक तक बनी रहती है और केवल दोनों छोर ऊपर के मसूड़ों का शीघ्रता से हलका सा स्पर्श करते हैं। हवा का प्रवाह अधिक तीव्र होने के कारण इसमें स्पष्ट कम्पन होती है। अतः कुलुई 'र्' लुण्ठित-कम्पनयुक्त मूर्धन्य है। लुण्ठित इस दिशा में कि जीभ बेलन की तरह गोल रहती है, और कम्पनयुक्त इसलिए कि इसके उच्चारण में स्पष्ट कम्पन होता है। कुलुई में 'र्' का प्रयोग शब्दों के आदि, मध्य और अन्त में हाता है, यथा—

आदि—रांबड़ा (ठीक), रीछ़, रुशणा (रूठ जाना), रेत;
मध्य—बराह (एक वृक्ष), शराल़ (बाल), बराल़ी (बिल्ली), घौरठ (घराट);
अन्त—लेर (चीख), तीतर, कलोतर (आरी), चा़र, शौर।

कुलुई में 'र्' का महाप्राण रूप 'र्ह्' भी मिलता है। इसका प्रयोग अधिकतः शब्दों के आरम्भ में मिलता हैं—र्हाणा (गुम करना), र्हीशणा (गुम होना), रि्हला (चिथड़ा)।

'ल्' की तरह ही 'र्' का भी तालु से स्पर्श बहुत हलका होता है, यहाँ तक कि कई बार यह स्पर्श इतना मामूली होता है कि 'र्' की ध्वनि लुप्त होती है। इस बातका संकेत 'स्वर ध्वनि' अध्याय में 'श्रुति' के अधीन कर दिया गया है।

कुलुई में श्रुतिपरक शब्दों और उच्चारणों की खास विशेषता है। कई शब्दों में लुप्त अक्षर का ज्ञान आसानी से हो भी नहीं पाता। उदाहरणार्थ "से'ना" में यह अनुमान लगाना कठिन है कि लुप्त अक्षर 'र' है अथवा 'ड़'—"से'ना खाणा।" इसी तरह हौ'ज में 'ल़' की ध्वनि सुनाई नहीं देती, यद्यपि यह शब्द 'हौल़ज' (हलदी) है।

अर्ध-स्वर

'**य्**' और '**व्**' कूलुई में व्यंजन के रूप में बहुत कम मिलते हैं। इन्हें इसलिए व्यंजनों में गिना जाना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ऐसा करने से रूप-विज्ञान के अध्ययन में सुविधा मिलती है। ये मूलतः अर्ध-स्वर के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, जैसा कि 'स्वर-ध्वनि' अध्याय में 'श्रुति' के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है। व्यंजन के रूप में 'य्' आरम्भ में 'ज' में बदल जाता है—यज्ञ > जौग, यक्ष > जौछ, यमराज > जोंराज़ा, यजमान > जजमान, योगिनी > जोगणी, यात्रा > जातरा, युग > जुग आदि। यदि आरम्भ में कहीं 'य' का उदाहरण मिल भी जाए तो उससे पूर्व 'इ' का आगम होता है—इयाणा > याणा > युवक, इयारा > यारा। या यह 'अ' में बदल जाता है—याद > आद। केवल मध्य में 'य' की ध्वनि अधिक स्पष्ट सुनाई देती है परन्तु यहाँ भी पूर्व में 'इ' की ध्वनि का संयोग अवश्य है—पियाणा > पिलाना, धियान, सियाणा (सिलाना), खाया (असल में खाइया), जाइया आदि।

'व' की ध्वनि कुलुई में नहीं है। आरम्भ में यह 'ब' में बदलती है—वलि > बौली, व्यथा > बीथा, वन > बोण, वर > बौर, वर्ष > बौरश, व्याधि > बिआधी। मध्य और अन्त में 'व' उआ में बदल जाता है—सुआंग < स्वांग, दिउआ < दीवा, जुआन < जवान, मलाउट < मिलाबट, तौउआ < तवा, देऊ < देव आदि।

ऊष्म संघर्षी

कुलुई में '**श्**', '**ष्**', '**स्**' में से 'ष्' ध्वनि नहीं है। 'ष्' प्रायः 'श्' में बदल चुका है—वर्ष > बौरश, ऋषि > रिशी, घर्षण > घरिशणी, कष्ट > करशटा, नष्ट > नाश, भ्रष्ट > भरिशट आदि।

'श्' और 'स्' कुलुई में दोनों ध्वनियाँ मिलती हैं। 'श्' को 'स्' में या 'स्' को 'श्' में बदलने की प्रवृत्ति बहुत कम है। 'श' के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग के दोनों किनारे (पार्श्व-द्वय) ऊपर की दाढ़ों के मसूड़ों का स्पर्श करते हैं। जिह्वा का शीर्ष दांतों से दूर रहता है, बल्कि नीचे झुका होता है। ध्वनि घर्षण करती है और फुस-कार के साथ ध्वनित होती है। कुलुई में इस ध्वनि का उपयोग शब्दों के आदि, मध्य और अन्त में मिलता है—शेता (श्वेत), शेर, शोभला (अच्छा); नशाण, मशीन, मूशा (मूषक); दोश, होश, नाश आदि।

'स्' की ध्वनि में जीभ के अग्र भाग के दोनों किनारे ऊपर के दांतों के मसूड़ों का स्पर्श करते हैं। 'श्' से 'स्' में आने के लिए जीभ के मध्य भाग के दोनों पार्श्व दाढ़ों का स्पर्श छोड़ कर अपने अग्र भाग के दोनों किनारों से दांतों के मसूड़ों का स्पर्श करते हैं, परन्तु जीभ की नोक तथा तालु के बीच स्थान खाली रहता है, जिसके बीच से हवा फुसकारी हुई बाहर निकलती है। अतः यह वर्त्स्य, अघोष, ऊष्म संघर्षी ध्वनि है। तथा इसका प्रयोग तीनों स्थितियों में होता है—सायरा < संस्तर, सूथण (पाजामा), सेऊ < सेतु, मसेरा (मौसेरा), मूसल, कसूर, मौसर; दस, भौस < भस्म, बास (बास, मुश्क)।

कुलुई में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के शब्दों के अन्त का 'स्' कभी-कभी 'ह्' में परिवर्तित हो जाता है। परन्तु यह 'ह्' सघोष नहीं होता। उदाहरणार्थ—संस्कृत विश्वास कुलुई बशाह, संस्कृत श्वास कुलुई शाह, हिन्दी घास कुलुई घाह आदि।

उत्क्षिप्त ध्वनियाँ

कुलुई में उत्क्षिप्त ध्वनियों का भी पर्याप्त प्रयोग मिलता है। इनमें मुख्यतः 'ड़्' और 'ढ़्' हैं। इनके उच्चारण में जीभ का अग्र भाग कदरे उलट जाता है और कठोर तालु को झटके से स्पर्श करके सीधा हो जाता है। इनमें ड़् घोष, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त अल्प-प्राण ध्वनि है और ढ़् महाप्राण ध्वनि है। यह ध्वनियाँ मुख्यतः मध्य और अन्त में मिलती है—

मध्य में—कौड़छी (कड़छी), कड़ाह (हलवा), कड़आ (कड़वा), मढ़ाथर (छोटे पत्थर), शौढ़ना (सढ़ना)।

अन्त में—शाड़ (क्यारी), मनाड़ (समाप्त कर), चाहड़ (चट्टान), देहुढ़ (डेढ़), कौढ़ (निकाल), कोढ़ आदि।

यद्यपि आरम्भ में उत्क्षिप्त ध्वनियों का प्रयोग नहीं होता, तथापि "ड़काणा" (फेंकना) शब्द में 'ड़्' का आरम्भ में प्रयोग अवश्य मिलता है।

स्वरयंत्रमुखी 'ह्'

(1) कुलुई में 'ह' ध्वनि का विशेष महत्व है। मूल रूप में यह स्वरयंत्रमुखी (laryngeal) संघर्षी है। यह काकल से उच्चरित होती है। इसके उच्चारण में भीतर की हवा या निःश्वास जब स्वरयंत्रमुख से बाहर निकलती है तो स्वरतंत्रियों में कंपन होती है। यहाँ कुलुई 'ह' का उच्चारण हिन्दी के बहुत समीप है। निःश्वास के घर्षण से घोषत्व स्पष्ट लक्षित होता है। इस रूप में यह शब्द के आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थितियों में मिलता है। उदाहरणार्थ—हिऊ, हौथ, हौसणा, हार, हूम, हीशणा आदि आरम्भ में; लुहाल, पुहाल, शाहुरा, सराहुती आदि मध्य में तथा दाह, डाह, दरगाह पनाह आदि अन्त में। इन सब शब्दों में 'ह' स्वरयंत्रमुखी सघोष संघर्षी ध्वनि है। यहाँ 'ह' में घोषत्व भी है और महाप्राणत्व भी।

(2) कुलुई में 'ह' की एक अन्य ध्वनि भी विद्यमान है। इसमें जिह्वा-मूल कदरे पीछे हटता है, और गलविल तंग हो जाता है जिसमें से श्वास फुंकार की तरह बाहर निकलता है। इसे उपालिजिह्वीय (pharyngeal) मानना चाहिए। यह ध्वनि विशेषतः ऐसे शब्दों में स्पष्ट लक्षित होती है, जहाँ संस्कृत अथवा हिन्दी का 'स' वर्ण 'ह' में बदल जाता है। उदाहरणार्थ संस्कृत श्वास >शाह, घास >घाह, विश्वास > बशाह आदि। वास्तव में ऊष्म वर्ण श्, ष्, और स् जब अपनी मूल ध्वनि खो देते हैं तो उनका उच्चारण 'ह' के निकट चला जाता है, परन्तु यहाँ 'ह' सघोष न होकर 'अघोष' उच्चरित होता है। बीह<बीस, नींह<उन्नीस, छ़ौह< षष्ठ आदि शब्दों में 'ह' की

ध्वनि इसी तरह की है।

इस ध्वनि का दूसरा स्पष्ट उदाहरण ऐसे शब्दों में मिलता है जब पाँच वर्गों के महाप्राण स्पर्शों को छोड़ कर किसी अन्य वर्ण में महाप्राणत्व का समावेश हो जाता है। ऐसे महाप्राण वर्णों में विशेषतः ण्, न्, म्, य्, ऱ्, ल्, ल़् की महाप्राणत्व ध्वनियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—माण्हु, म्हीन, न्हूश, कोल्ह, शेल्ह, थौल़्ही, ऱ्हाणा आदि शब्दों में 'ह्' की ध्वनि अघोष उपालिजिह्वीय है। इसका एक बड़ा दिलचस्प उच्चारण 'य' के साथ महाप्राण ध्वनि में सुनाई देता है—रिय्हाणा—रिय्हाणा (दिखाना), निय्-हाणा—निय्हाणा (नहलाना), निय्हालना—निय्हालना (प्रतीक्षा करना) आदि शब्दों में यह ध्वनि स्पष्ट लक्षित होती है। भले ही ऐसे शब्दों में हकार का लोप वर्तनी में तो हो जाए परन्तु उच्चारण में उसका अस्तित्व स्पष्ट सूचित होता है।

(3) हकार की एक तीसरी ध्वनि भी कुलुई में प्रचलित है। यहाँ महाप्राणत्व बहुत धीमा सुनाई पड़ता है। यह ध्वनि हलकी खाँसी की तरह सुनाई देती है। इस ध्वनि के उच्चारण में स्वरतंत्रियों में क्षणिक रुकावट होती है और फिर श्वास झटके से बाहर निकलता है। इसे स्वरयंत्रमुखी स्पर्श या काकल्य स्पर्श (glottal stop) कहा जा सकता है। इस ध्वनि के सर्वाधिक उदाहरण स्वर और 'ल' तथा 'ण' के बीच मिलते हैं। स्वर के लिए घोष ध्वनि उच्चरित होती है, परन्तु तुरन्त अघोष में बदल जाती है, जिस से फूंक सी निकलती है जो 'ल' या 'ण' के उच्चारण से प्रभावित होती है—टौह्ल़ (टहल), काह्ल़ (तुरही), डाह्णा (रखना), बाह्णा (हल चलाना)। कुलुई की इस ध्वनि को विसर्ग मानना चाहिए, क्योंकि इसका उच्चारण ठीक विसर्ग-सा लगता है। अतः टौह्ल़ का असल उच्चारण टौःल़ है और इसलिए लिखित रूप भी 'टौःल़' ही होना चाहिए। इसी तरह उपर्युक्त अन्य शब्द भी क्रमशः काःल, डाःणा और बाःणा ही हैं। पहाड़ी भाषा की सभी उप-भाषाओं में इस ध्वनि का प्रयोग है, और पहाड़ी भाषा में यह एक अलग ध्वनि है और इसे संध्वनि मानना बिलकुल गलत होगा। कांगड़ी उप-भाषा में 'शिरोधान' तथा 'प्रशंसा' के लिए कई लेखकों द्वारा एक जैसा लिखित 'सरा-हणा' शब्द में यही अन्तर है। 'शिरोधान' के लिए स्थानीय शब्द में 'र' सप्राण है—SARHANA सऱ्हाणा, परन्तु 'प्रशंसा' के लिए शब्द में 'रा' के आगे काकल्य स्पर्श या, दूसरे शब्द में अघोष ह अथवा विसर्ग है – SARA:NA सराह्णा=सराःणा। स्पष्ट है कि 'सऱ्हाणा' (सिरहाना) में 'र' महाप्राणोच्चरित है तथा 'सराःणा' (सराहना) में स्वर 'आ' और 'ण' के बीच अघोष 'ह्' या विसर्ग है। इसी प्रकार—

सोन्ह (संध्याकाल)	सोःन (संकेत)
टौल्ह (कपड़ा)	टौःल़ (टहल)
पाऱ्ह (पार)	पाःर (कंघी करना)

इस ध्वनि का अन्य स्वरों से भी स्पष्ट अन्तर है—

बाणा (चाल)	बाःणा (हल चलाना)
जाला (जाएगा)	जाःला (कमज़ोर)
काल़ (अकाल)	काःल़ (तुरही)

छे़ड़ (छेड़ना)	छे़:ड़ (आवाज़)
आण (ले आ)	आ:ण (एक विषैला पौधा)
शाणा (ताला)	शा:णा (यख़)
पूणी (ऊन की पूनी)	पू:णी (बुझारत)
शिल्ही (छायदार जगह)	शि:ल्ही (सं० शिलाएं)

कुलुई भाषा में हकार की सबल ध्वनि को निर्बल बनाने की ओर बड़ी सामान्य प्रवृत्ति है। कुलुई शब्दों में जहाँ कहीं भी ह-ध्वनि मूल रूप में विद्यमान है, वहाँ भी इसका उच्चारण हिन्दी 'ह' से काफी कोमल है। इसका महाप्राणत्व काफी बलीन हो गया है। हकार के कोमल होने की यह प्रवृत्ति विभिन्न स्थितियों में विभिन्न है :—

(क) **आरम्भिक**--शब्दों के आरम्भ में 'ह' की ध्वनि का रूप इसके पश्चात् आने वाले अक्षर उच्चारण पर बहुत कुछ आधारित है, और यह परिवर्तन निम्न रूप से लक्षित होता है :—

(1) यदि 'ह' के तुरन्त पश्चात् आने वाली व्यंजन ध्वनि लघु हो तो 'ह' प्रायः सुरक्षित रहता है—हौल<हल, हौक<हक, हौथ<हाथ, हौंसला<हौसला, हौरन< हिरन, हार, हालत, हुकम, हिम्मत;

(2) यदि शब्द द्व्यक्षरी हो तो आगामी ध्वनि के दीर्घ होने पर भी 'ह' ध्वनि विद्यमान रहती है—हाथी, होली, होणा, हौठी, हौरा<हरा आदि ;

(3) यदि आरम्भिक 'ह' के तुरन्त पश्चात् दीर्घ-ध्वनीय अक्षर हो, तो 'ह' अगले अक्षर से मिलकर उसे महाप्राणत्व में बदल देता है—हजामत>ज़्हामत, हिसाब >स्हाब, हमारा>म्हारा, हैरान>र्हान, हमेशा>म्हेशा, हकूमत>क्हूमत;

उपर्युक्त नियम के अनुसार 'हटना' कुलुई में "हौटणा" रहेगा, परन्तु "हटाना" में 'ट' के साथ 'ह' का संयोग हो जाएगा "ट्हाणा";

(4) यदि 'ह' के बाद का अक्षर पहले ही महाप्राण हो तो 'ह' का पूर्णतः लोप हो जाता है—हथेली>थौउली, हिफाज़त>फाज़त, हथौड़ा>थाउड़ा।

(ख) मध्यवर्ती 'ह' का प्रयोग यद्यपि लुहाल, पुहाल, निहाल आदि शब्दों में मिलता है, तथापि इनमें महाप्राणत्व अधिक सबल सुनाई नहीं देता। सराहुती, गुहासड़, आदि शब्दों में तो 'ह' पूर्ण रूप से अघोष है। मध्यवर्ती 'ह' निम्न प्रकार से बदलता हुआ दिखाई देता है—

(1) यदि मध्यवर्ती 'ह' से पूर्व अक्षर स्वर-रहित (अथवा अ-स्वर-सहित) हो तो 'ह' उससे मिलकर उसे महाप्राण में बदल देता है--जैसे, महीन>म्हीन, महीना> म्हीना, जहाज़>ज़्हाज, सहारा>स्हारा, महेश>म्हेश, महूर्त>म्हूरत, नख>नह> न्हौश आदि ;

(2) यदि मध्यवर्ती 'ह' से पूर्ण वर्ण दीर्घ-स्वर युक्त हो तो 'ह' ध्वनि का लोप हो जाता है या उसका उच्चारण अघोष हो जाता है—साहब>सा:ब, सिपाही>सपाई, लोहा>लोआ, स्याही>स्याई, नहीं>नाईं।

(ग) अन्तिम 'ह' का महाप्राणत्व लग-भग समाप्त ही हो जाता है या इस की

ध्वनि बहुत कोमल होती है। अन्तिम 'ह्' का रूप-परिवर्तन निम्नलिखित ढंग से प्रतीत होता है—

(1) 'ह्' में अन्त होने वाली धातुओं (क्रियाओं) की स्वरयंत्रमुखी-संघर्षी ध्वनि 'ह्' स्पर्श में बदल जाती है—जैसे रह>रौअ (रौअणा), दुह>दुअ (दुअणा), आरोह> टोअ (टोअणा) आदि;

(2) हकारान्त संख्या-वाचक शब्द आकारांत में बदल जाते हैं—ग्यारह> गियारा, बारह>बारा, तेरह>तेरा, चौदह>चौदा, पंदरा, सोला आदि;

(3) दीर्घ-स्वर में अन्त होने वाली हकार ध्वनि श्रुति में बदल जाती है— सिपाही>सिपाई, स्याही>सियाई, लोआ, रही>रौई आदि।

कुलुई व्यंजन ध्वनियों का ब्यौरा

उपर्युक्त विवरण के अनुसार कुलुई व्यंजन ध्वनियों को उच्चारण-स्थान आदि के आधार पर निम्नलिखित तालिका में संक्षेप में देखा जा सकता है।

		द्व्योष्ठ्य		दंत्य		वर्त्स्य		मूर्धन्य		तालव्य		कंठ्य			
		अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	स्वर—यंत्रमुखी	काकल्य स्पर्श
सपर्श	अल्प०	प्	ब्	त्	द्			ट्	ड्			क्	ग्		
	महा०	फ्	भ्	थ्	ध्			ठ्	ढ्			ख्	घ्		
सपर्श संघर्षी	अ०प्र०					च़्	ज़्			च्	ज्				
	म०प्र०					छ़्	झ़्			छ्	झ्				
अनु-नासिक	अ०प्र०		म्		न्				ण्		ञ्		ङ्		
	म०प्र०		म्ह्		न्ह्				ण्ह्						
पार्श्विक	अ०प्र०						ल्		ल़्						
	म०प्र०						ल्ह्		ल़्ह्						
लुंठित	अ०प्र०								र्						
	म०प्र०								र्ह्						
उत्क्षिप्त	अ०प्र०								ड़्						
	म०प्र०								ढ़्						
ऊष्म संघर्षी						स्				श्				ह्	:
अर्ध-स्वर			व्								य्				

अध्याय—6

अक्षर-परिवर्तन

भाषाओं में ध्वनि परिवर्तन बड़ा सहज-सामान्य गुण है, और ऐसा परिवर्तन निरन्तर चलता रहता है। भाषाओं में ऐसा उच्चारण परिवर्तन देश-मूलक और समय-मूलक दोनों प्रकार का होता रहता है। देश-मूलक ध्वनि-परिवर्तन के बारे में प्रसिद्ध है कि भाषाएँ हर कोस के बाद बदलती रहती हैं। समय के अनुसार भारतीय प्राचीन आर्य भाषा प्राकृत और अपभ्रंश में से गुजरते हुए कई ध्वनि-परिवर्तनों में से होकर आगे बढ़ी है। कुलुई भाषा में भी स्वरों के आधार पर अनेक परिवर्तन आए हैं—

स्वर लोप

(1) कुलुई में मध्य अर्ध-विवृत 'अ' को पश्च अर्ध विवृत 'ओॅ' में बदलने की व्यापक प्रवृति है। इस तरह संस्कृत 'अंग' कुलुई में 'ओॅग' में बदलता है, पुनश्च—अग्नि > ओॅग, अद्य > ओॅज़, अकल > ओॅकल। यदि एक शब्द में एक से अधिक 'अ' स्वर हों, तो ऐसा परिवर्तन केवल प्रथम 'अ' तक सीमित रहता है, दूसरे स्वर में परिवर्तन नहीं आता—कलम > कोॅलम, कब्ज़ा > कोॅबज़ा, नकल > नोॅकल आदि। तथापि स्वराघात के कारण इस नियम में अन्तर दिखाई देता है। यदि प्रथम 'अ' स्वर न्यून हो जाए और दूसरे पर जोर पड़े तो प्रथम 'अ' की बजाए दूसरा 'अ' इस तरह 'ओॅ' में बदल जाता है—जैसे कचहरी > क्चोॅरी, दोपहर > दपहर > द्पोॅहर। मध्य अर्धविवृत 'अ' को पश्च अर्ध-विवृत 'ओॅ' में बदलने की प्रवृति पहाड़ी भाषा की सभी उप-भाषाओं में प्रचलित है, परन्तु कुलुई में यह प्रवृति अपनी पड़ोसी उप-भाषा महासुई (क्योंथली) से कदरे कम है। महासुई में अन्तिम 'आ' स्वर भी प्रायः 'ओॅ' में परिवर्तित हो जाता है—जैसे तमाचा > तमाचोॅ, घेरा > घेरोॅ, मिट्टी > माटा > माटोॅ आदि। कुलुई में अन्तिम 'आ' प्रायः 'ओॅ' में नहीं बदलता।

(2) कुलुई में आदि स्वर का स्वराघात के कारण लोप हो जाता है। ऐसे लोप में प्रायः ह्रस्व स्वर ही आते हैं—अभ्यास > भ्यास, अंगीठी > गीठी, अंगूठा > गूठा, अजवाइन > जुआणे, अटेरन > ठेरना, अदालत > दालत, अधूरा > धाउड़ा, अनाज > नाज़, इकट्ठा > कट्ठा, इनाम > नाम, इलाज > लाज। यदि दूसरे स्वर या अक्षर पर बल न पड़े तो आदि ह्रस्व स्वर लुप्त नहीं होता। या वह सुरक्षित रहता है

अथवा दीर्घ स्वर में बदल जाता है—अलसी > ओॅलसी, अमर > आमरू, अदरक> ओॅदरक आदि ।

(3) स्वराघात के कारण ही मध्य स्वर भी लुप्त हो जाता है या दीर्घ से ह्रस्व हो जाता है। भारतीय आर्य भाषा के विकास के मध्यकाल में यह प्रवृत्ति आनी आरम्भ हुई थी और यह प्रवृति कुलुई में विद्यमान है—फ्लोॅहरी < फरहरा, क्चोॅह्री <कचहरी, पजामा < पाजामा, बज़ार < बाज़ार, नराज़ < नाराज़, बचार < विचार, धरती < धरित्री, परोहत < पुरोहित, ठाकर < ठाकुर, गोकल <गोकुल ।

(4) अन्तिम 'इ' या 'उ' स्वर लुप्त हो जाते हैं—बुद्धि > बुध, शुद्धि > शुध, गुरु > गूर, राशि > राश, संक्रान्ति>संगरांत ।

स्वरागम

कुलुई में स्वरागम के भी प्रचुर उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

अ—जनम < जन्म, भरम < भ्रम, परचार < प्रचार, मंतर < मंत्र, रतन <रत्न, छिड़ा < छिद्र ।

इ—पियार < प्यार, नियारा < न्यारा, कनिया < कन्या, धियान <ध्यान, जूनी < जून ।

उ—सुपना<स्वप्न, दुआर <द्वार, सुआद<स्वाद ।

इसके अतिरिक्त कुलुई में संयुक्त अक्षर से पूर्व ह्रस्व स्वर गुरु में बदल जाता है—कज्जल > काज़ल, अद्य > ओॅज़, अक्षर > आखर, रुष्ट > रुश, कल्य>काल आदि ।

आदि स्वर के लोप से अक्षर की क्षति-पूर्ति के लिए बीच में अन्तर आ जाता है—उधार से दुहार, अधूरा से धाउड़ा, उपान्त से पाँध>पाँधे ।

बलाघात और सुराघात

पहाड़ी भाषा में बलाघात और सुराघात का विशेष महत्त्व है। शब्दों या वाक्यों के किसी एक अंश पर विशेष बल देकर या सुर के उतार और चढ़ाव से ही लोग अपने विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। केवल 'हूँ' अक्षर को विभिन्न प्रकार का सुर और तान देकर वक्ता कई भावों को व्यक्त करता है। ऐसी भाषाओं में जो शब्दावली के आधार पर अधिक समृद्ध नहीं होतीं या जिन में शब्दों का अधिक खजाना नहीं, बलाघात और सुराघात का महत्वपूर्ण स्थान है। स्वराघात के इस महत्त्वपूर्ण स्थान के कारण ही पहाड़ी भाषा के बहुत से शब्दों को लिप्यंत्रण करते हुए कठिनाई अनुभव होती है। बोलते हुए सुर या तान से जो अर्थ वक्ता स्पष्ट करता है, वह लिपि द्वारा स्पष्ट नहीं होता। यही कारण है कि बहुत से शब्द समरूप दीखते हुए भी भिन्नार्थक होते हैं। हकार के विभिन्न रूपों का भी अधिकतः यही कारण हो सकता है। कुलुई में भी बलाघात और सुराघात का विशेष महत्त्व है।

बलाघात

बलाघात से अभिप्राय एक शब्द के विभिन्न अक्षरों में से किसी एक पर अन्य की अपेक्षा अधिक बल या ज़ोर देने से है; अथवा एक वाक्य के किसी एक शब्द पर आघात देना भी बलाघात (stress accent) कहलाता है। बोलने में एक शब्द के सभी अक्षरों पर समान बल नहीं पड़ता। शब्द के किसी एक अक्षर पर अधिक ज़ोर दिया जाता है और दूसरों पर कम। "फियाड़ा" में तीन अक्षर हैं 'फि', 'या' और 'ड़ा'। बोलने में इन तीनों अक्षरों पर समान बल नहीं पड़ता। 'या' पर सर्वाधिक बल है, 'ड़ा' पर उससे कम और 'फि' केवल सुनाई ही देता है और कुछ वक्ता तो इसे स्वरहीन 'फ्—फ्याड़ा' बना देते हैं। इसे **अक्षर बलाघात** कहते हैं। इसी तरह वाक्य में भी सभी शब्दों पर एक जैसा ज़ोर नहीं पड़ता। जिस शब्द का विशेष स्थान है उसे हम अधिक बल से बोलते हैं। इसे **शब्द बलाघात** कहा जाता है। यह विचार करना निरर्थक है कि साधारण बोल चाल में सभी अक्षरों अथवा सभी शब्दों पर समान बल पड़ता हो। वास्तविक स्थिति यह है कि कुछ अक्षरों या शब्दों पर अधिक ज़ोर पड़ता है और वे देर तक ध्वनित होते हैं।

जहाँ तक **अक्षर बलाघात** का सम्बन्ध है, कुलुई में इसकी विभिन्न प्रवृतियाँ हैं।

(1) एकाक्षरी शब्द सभी बलाघात्मक होते हैं, और इन में व्यंजन की अपेक्षा स्वर पर अधिक बल होता है—खा', पी', जा', आ'ण, शु'ण आदि। इनकी पूर्ण बलाघात होने की स्थिति अपने-आप तक सीमित है। जब ये अकेले बोले जाएँ तो ये पूर्ण बलाघात हैं, वाक्य में प्रयोग होने से बलाघात बदल सकता है।

(2) द्व्यक्षरी (disyllabic) शब्दों की स्थिति में प्राय: मुख्य (primary) बलाघात दूसरे अक्षर पर पड़ता है, तथा प्रथम अक्षर पर गौण (secondary) बलाघात रहता है। "शोठा" शब्द में 'ठा' पर मुख्य बल है और 'शो' पर गौण—शोठा'। इसी तरह कोठा', घाणी', काठू', शाब'र, लाब'र, बाणा', चोखा', चीक'र, झोक'ड़, भाइ'ड़, बेउ'ड़, नुहा'र, भाऊ', झीक'ड़ आदि।

(3) तीन अक्षरों वाले शब्दों में प्राय: मध्य अक्षर पर मुख्य बलाघात होता है, अन्तिम पर गौण और प्रथम पर तृतीयक (tertiary) बलाघात होता है। पाहुणा शब्द में ये बलाघात क्रमश: 'हु', 'णा' और 'पा' पर हैं। इसी तरह धाउ'ड़ा, पाइ'रा, गोझी'णा, पिया'णा, शौगी'णा आदि। बहु-अक्षरी शब्दों में प्राय: दूसरे अक्षर पर मुख्य बलाघात रहता है—जैसे फका'हुका, बज़ा'हिणा, बझे'रना, चना'हड़ा, मठि'याई, पनशा'कड़ा, आदि।

कुलुई में उपर्युक्त अक्षर बलाघात निरर्थक हैं। इनसे शब्दों के अर्थ में अन्तर नहीं आता। यदि बोलने वाला बलाघात के इन निश्चित स्थानों की अपेक्षा किसी और अक्षर पर बल डाले तो इनके अर्थ में भेद नहीं आता। किसी शब्द विशेष में अन्य ध्वनि के जुड़ने से अथवा शब्द में ध्वनि के निकल जाने से बलाघात का स्थान बदल जाता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में शब्द के अक्षरों की संख्या बदल जाती है। ऐसी स्थिति में शब्द का अर्थ बदल जाना स्वाभाविक है—शोट् (फैंक) शब्द एकाक्षरी है और इस में बलाघात

शो' पर है। 'ट्' में 'उ' स्वर जोड़ने से शब्द 'शोटू' द्वयक्षरी हो जाता है और बलाघात दूसरे अक्षर पर पड़ता है—शोटू' तब इसका अर्थ बदल जाता है 'फेंक दिया'।

जहाँ तक शब्द-बलाघात का सम्बन्ध है, यह निश्चित नहीं है। शब्द-बलाघात स्थान बदलता रहता है और तब वाक्य के अर्थ की विशिष्टता में भी अन्तर आ जाता है। शब्द-बलाघात से अभिप्राय एक वाक्य के किसी शब्द विशेष पर ज़ोर देने से है। वाक्य के सभी शब्दों को समान रूप से बोला नहीं जाता। वक्ता शब्द की अथवा भाव की विशेषता के अनुसार किसी एक शब्द पर अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक बल देता है। यही शब्द-बलाघात है, और निश्चित नहीं रहता—"मैं सो शोठें लाइया मारू" वाक्य का सामान्य अर्थ "मैं ने उसे डंडे से मारा" है। इस वाक्य के मैं, सो, शोठें, लाइया, मारू, इन शब्दों में किसी एक पर बलाघात डालने से अर्थ की विशिष्टता में अन्तर आएगा। 'मैं' पर ज़ोर डालने से "मैं' सो शोठें लाइया मारू" का अर्थ होगा—'मैं ने ही उसे डंडे से मारा'। इसी तरह शोठें' पर बल देने से अर्थ होगा कि "मैं ने मामूली रूप में नहीं मारा बल्कि 'डंडे' से मारा" और लाइया' पर ज़ोर डालने से भाव होगा कि "मैं ने उसे डंडे लगा-लगा कर मारा"। इस प्रकार वाक्य के विभिन्न शब्दों पर बलाघात होने से अर्थ बदलता है और यह शब्द-बलाघात निश्चित न रह कर अनिश्चित होता है।

सुराघात

सुराघात (pitch accent) से अभिप्राय 'सुर पर आघात' है। इसे स्वराघात, संगीतात्मक स्वराघात भी कहते हैं। अंग्रेज़ी में इसे (tonic accent) 'तान' भी कहा जाता है। बलाघात की तरह ही शब्द या वाक्य की सभी ध्वनियाँ एक सुर में नहीं बोली जातीं। कहीं सुर ऊंची होती है और कहीं नीची। सुर का उतार-चढ़ाव, आरोह-अवरोह ही सुराघात का विषय है। ऊपर कहा जा चुका है कि कुलुई में सुराघात का विशेष महत्व है। जिन भाषाओं में शब्द-भण्डार की कमी हो उनमें बलाघात और सुराघात की ही विशेषता है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि सर्द-क्षेत्रों के निवासियों की भाषाएँ शब्दप्रधान न होकर निपात-प्रधान होती हैं और निपात-प्रधान भाषाओं में सुराघात और बलाघात की बहुलता रहती है। सुराघात का एकाक्षरी भाषाओं में विशेष महत्व का स्थान होता है। तान या सुर के बदलने से शब्द का अर्थ बदल जाता है। विद्वानों ने चीनी शब्द 'श्र' के 52 अर्थ गिनाए हैं। इसी तरह चीनी में केवल 'ई' शब्द के निम्नलिखित अर्थ होते हैं—एक, कपड़े, औषधि, उपयुक्त, संदेह करना, कुरसी, द्वारा, पहले ही, आसान, विचार, उचित विषय, अनुवाद करना, विमर्श करना आदि। यही कारण है कि चीनी भाषा को अक्षरों या वर्णों की परिधि में नहीं लाया जा सकता। विभिन्न चित्र या संकेतों से विभिन्न अर्थ प्रकट होते हैं। वहां उच्च-सम (high level), उच्च-आरोही (high rising), निम्न-अवरोही (low falling) तथा उच्च-अवरोही (high falling) चार मुख्य तान या सुर हैं।

कुलुई में तान-सुर का इतना स्पष्ट और व्यापक प्रयोग तो नहीं, फिर भी इसके कई उदाहरण मिल जाते हैं। 'हूं' की सुर यदि सम हो तो इस से अभिप्राय 'हां' से है।

यदि सुर उच्च हो हूं' तो अर्थ है 'अच्छा ऐसी बात है'। सुर यदि अवरोही हो तो 'ऐसा न करो' और निम्न अवरोही हो तो 'ऐसी बात नहीं' अर्थ की अभिव्यक्ति आम बोलचाल में पाई जाती है। सुर लहर प्रायः सार्थक ही होती है। 'सो' शब्द यदि समसुर में हो तो इसका अर्थ 'वह' है और उच्च-अवरोही हो तो इसका अर्थ 'सो जाओ' होता है। इसी तरह सम-सुर में 'नी' का अर्थ 'नहीं' है और उच्च अवरोही में 'उन्नीस' होगा। इसी तरह 'सान' शब्द को लीजिए। यदि तान निम्न अवरोही (low falling) हो तो इसका अर्थ 'आसान' होगा। इसके विपरीत तान उच्च अवरोही हो तो इस का अर्थ 'एहसान' होता है। 'पूॅला' शब्द में सम-सुर हो तो इसका अर्थ 'गठ' है (घाह रा पूॅला), परन्तु यदि निम्न अवरोही हो तो अर्थ 'घास की बनी एक जूती विशेष' है (मेरी ता पूॅला चूटी)। इसी तरह इन्हीं दो सुरों में क्रमशः 'घड़िन' का अर्थ पहली स्थिति में 'बदबू' है और दूसरी में 'मिट्टी का बड़ा ढेला' है। इसी प्रकार समसुर में 'सेऊ' का अर्थ 'सेब' है और निम्न अवरोही में यह 'पुल' का अर्थ देता है।

बरनार्ड कार्लग्रेन के अनुसार 'चीनी भाषा में ये तानें प्राचीन समय में शब्द-भेद के लिए प्रयुक्त निपातों के परिणाम स्वरूप हैं, जो अब प्रचलित नहीं रहे।'[1] यह बात कुलुई के सुर-तान पर काफी सीमा तक ठीक उतरती है। "सो घौरा सा" का अर्थ है 'वह घर पर है"। यहाँ 'सा' की तान सम है। यदि 'सा' की तान में आरोहण आ जाए यथा "सो घौरा सा/(सा-अ)" तो वाक्य प्रश्नवाचक हो जाएगा "क्या वह घर पर है?" इसी तरह "रोटी खाआ सा" (रोटी खाता है), परन्तु 'रोटी खाआ सा/(साअ)' (क्या रोटी खाता है?), "सो नौठा" (वह गया) परन्तु "सो नौठा/नौठाअ" (क्या वह गया?), "कुकड़ीए डाना शोट्ठ" (मुर्गी ने अण्डा दिया) परन्तु "कुकड़ीए डाना शोटू/शोटू-उ" (क्या मुर्गी ने अण्डा दिया) "रोटी खाई" (रोटी खाली) परन्तु "रोटी खाई/खाई-इ" (क्या रोटी खाली?) आदि। कुलुई में इस प्रकार के प्रश्नवाचक वाक्यों के लिए "क्या" का समानार्थक शब्द कोई नहीं है। प्रश्न अन्तिम क्रिया या सहायक क्रिया की तान को चढ़ाने से ही बनता है, और यही सामान्य नियम है। 'क्या' का कोई रूप इस तरह कुलुई में नहीं मिलता। हां, यदि आवश्यक ही हो तो ऐसे प्रश्न इस प्रकार किए जा सकते हैं—रोटी खाई कि नी (रोटी खाई या नहीं?), कुकड़ीए डाना शोट्ठ कि नी? (मुर्गी ने अण्डा दिया या नहीं?), रोटी खाआ सा कि नी (रोटी खाता है या नहीं?) आदि। यह बात तिब्बती में भी शतशः उचित है—"ओमा दुग"/(दूध है), परन्तु "ओमा—दुग-ऐ" (क्या दूध है)। शब्द-भेद सम्बन्धी इस सुराघात में यों लगता है कि क्रिया का अन्तिम स्वर प्लुत में बदल गया है। जैसे गीत में एक मात्रिक अन्तिम वर्ण द्विमात्रिक या त्रैमात्रिक में साधारणतः बदल जाता है, वैसे ही कुलुई में उक्त प्रकार के प्रश्नवाचक वाक्यों में अन्तिम वर्ण सुराघात के कारण प्लुत हो जाता है।

---

1. Sounds and Symbols in Chinese, p. 29-30, quoted by Shau Wing Chau in his "Elementary Chinese" p. xvii.

अध्याय—7

व्यंजनों की उत्पत्ति

जिस प्रकार कुलुई के विभिन्न स्वरों की उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के स्वरों से मध्य भारतीय आर्य भाषा के माध्यम से हुई है, इसी तरह कुलुई व्यंजनों की उत्पत्ति भी संस्कृत—प्राकृत—अपभ्रंश के माध्यम से स्पष्ट होती है। इस तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित ब्यौरे से स्पष्ट हो जाएगी :—

'क्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'क' से, जैसे—कोम<कर्म, काठ<काष्ठ, काती<कार्तिक, कोन< कर्ण, कोठा<कोष्ठ।

(2) संस्कृत 'क्र' से, यथा—चाकला<चक्र, करोध<क्रोध, किरया<क्रिया, कोस <क्रोश।

(3) संस्कृत 'कृ' से—काट<कृत्, किरपा<कृपा, करिश<कृष्, कियाड़ी<कृक <कृकाटिका, कसान<कृषक।

(4) संस्कृत 'क्व' से—काढ़ू<प्रा० काढ<क्वाथ, कौधी<क्वचित, कौ< क्व।

(5) संस्कृत 'ष्क' और 'स्क' से—शुका<शुष्क, चौका<प्रा० चउक्क<सं० चतुष्क कोंधा<स्कन्ध, कूद<स्कुन्द।

(6) संस्कृत 'ष' से—ओकती<ओषधी<औषध, शुक (णा)<शुष्।

(7) संस्कृत 'र्क' से, जैसे—काकू<कर्क, कतीरा<कर्कटक, कौकड़ी<कर्कटिका, करकरा<कर्कश, बकरा<बर्कर।

(8) संस्कृत 'क्ष' से—चुकरी<चक्षु+रोग, धुक(णा)<धुक्ष, मरोक<मक्ष, मुक(णा)<मोक्ष्।

'ख्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ख' से—खार<खार, खौल़<खल़, खुर<खुर, खोण<सं० खन, खोपरी<सं० खर्पर, खिला (जैसे खिला छेत)<सं० खिल, खाणा<सं० खाद्।

(2) संस्कृत 'क्ष' से—खेऊ<क्षेम, चोखा<चोक्ष, राखस<राक्षस, पांख<सं० पक्ष, खोड़<अक्षोट, राखा<सं०रक्षक, दाख<सं० द्राक्षा, खीर<सं०क्षीर, लाख <सं० लाक्षा, आखर<अक्षर, प्रेखणा<प्रेक्षण, प्रतख<प्रत्यक्ष, बुभुक्षा> भूख, परोखा<प्रोक्ष।

(3) संस्कृत 'ष' से—भाख<भाषा, हिरख<ईर्ष्या, नखिद<निषिद्ध, पखंड< पाषण्ड, मनुख<मनुष्य।

(4) संस्कृत 'क' से—खौदला<कर्दम (कर्द् + युक्त), म्हौखर<मकरंद।

'ग्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ग' से—गुण<गुण, गिण<गण, गूर<गुरु, गरका<गरिमन्, गोठ< गोष्ठि, गुह्<गूथ।

(2) संस्कृत 'ग्र' से—गोंठी<ग्रन्थि, गरौह्<ग्रह, गरां<ग्राम, गराह्<ग्रस।

(3) संस्कृत 'गृ' से—गरिंज<गृंज, गरिस्ती<गृहस्थि, गरपेशी<गृह्+प्रवेश, जागदे<जागृत।

(4) संस्कृत 'क' और 'ख' से—शोग<शोक, शुगा<शुक, मौगर (मछ)<मकर, गींड<कंदुक, सोंगड़ा<संकर, शांगल<शृंखला, शलोंगी<शुण्डिका, शौगन <शकुन, सूँगर<शूकर, कांगणु<कंकण।

(5) संस्कृत 'ग्न' से—औग<अग्नि, नांगा<नग्न, लौगण<लग्न, मौगन<मग्न।

(6) संस्कृत 'ग्य' से—भाग<भाग्य, जोग<योग्य।

(7) संस्कृत 'ज्ञ' से—गियान<ज्ञान, जौग<यज्ञ।

(8) संस्कृत 'र्ग' से—सौरग<स्वर्ग, गागर<गर्गर, आगल्<अर्गल, मोंगर (म्हीना)<मार्गशीर्ष।

'घ्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'घ' से—घाम<घर्म, घोण<घन, घोणा<घन, घोर<घोर, घोल< घोल्।

(2) संस्कृत 'घृ' से—घिऊ<घृत, घरिश<घृष्, घरिशणी<घृष्टि।

(3) संस्कृत 'घ्र' से—घड़िन (बास)<घ्राण, शीघरा<शीघ्र, बराघ<व्याघ्र, घाणी< घ्राणिका।

(4) संस्कृत 'क' से—ब्राघ<वृक, कांघा<कङ्कतिक (कांघी भी)।

'च्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'च्' से—चोड़ (चोड़ना)<चट्, चीड़ी<चटिका, चांड<चण्ड, चारू <चरु, चूश<चूष्, चट<चट, चुट<चुट्, चौचू<चक्र, शौच<सच, निंह्चे <निश्चय, चुकरी<चक्षुरोग।

(2) संस्कृत 'त्र' से—दाच<प्रा० दात्त<दात्रम, दाची<दात्रिका, मूच<मूत्र, चुट

<त्रुट, चौश (पोई)<त्रस, चांगला<त्रिशूल, पौचा<पत्र, जाच<यात्रा ।

(3) प्राकृत 'च्' से—चोकुआ<चुक्कओ ।

(4) विदेशी शब्द—चाकू, चिट्ठी, चाबी ।

(5) संस्कृत 'ज' से—युज्>जुज>जोच, लज्ज>लांच ।

'छ्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'छ' से—छौछ<छत्र ।

(2) संस्कृत 'क्ष्' से—छेत<क्षेत्र, छोण<क्षण, छोप<क्षप, छे<क्षै (छेनाश), छार (पाणी न छारना)<क्षर, छे<क्षय, छील<क्षल्य, लौछण<लक्षण, लिछा<लिक्षा, मौछी<मक्षिका, हौछी<अक्षि, कुछ<कुक्ष (कुक्षि), लौछमी <लक्ष्मी, तीछा<तीक्षण, छलाणा<क्षल्, भिछा<भिक्षा, जौछणी< यक्षिणी ।

(3) संस्कृत 'त्स' से—सं० उत्सरण>प्रा० उस्सरण>छनेर ।

(4) संस्कृत 'श्र' से—हौछू<अश्रु ।

(5) संस्कृत 'त्र' से—छौछ<छत्र ।

(6) संस्कृत 'श्' और 'च' के संयोग से—प्राछ<प्रायश्चित, मौछू<मश ।

'ज्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ज' से—जुग<जग, जड<जड, ज़ाढ़ा<जड ।

(2) संस्कृत 'य' से—जौछणी<यक्षिणी, जौग<यज्ञ, जोंराज़ा<यमराज, जोगी< योगी, जोगणी<योगिनी, जुध<युद्ध, जंतर<यंत्र, जौश<यश ।

(3) संस्कृत 'द्र' या 'द' से—नींज<निद्रा, जूब<दूर्वा, जौभ<दर्भ, हौज< हौलज<सं० हरिद्र ।

(4) संस्कृत 'त्र' और 'त' से—आंज<अन्त्र, दूजा<द्वितीय ।

'झ्' की उत्पत्ति

'झ्' एक अप्रधान ध्वनि है, जो प्राचीनकाल से अधिक प्रचलित नहीं रही है । मि० आर्थर मेकडानल्ड अपनी पुस्तक 'वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडंट्स' (पृ० 2) में लिखते हैं कि "ऋग्वेद में 'झ' वाला शब्द केवल एक है, और अथर्ववेद में तो एक भी नहीं है ।" अत: 'झ्' की ध्वनि बहुत बाद में ध्वनिविकार या ध्वनि-मिश्रण के कारण उत्पन्न हुई है । कलुई में इस ध्वनि के अधिकांश शब्द देशज हैं, जैसे—

झीकड़=पहनने के वस्त्र, मुख्यत: एक बड़ा पट्टू

झांऊ=उपर

झाँऊशा=ढलानदार, झाड़ना=इकट्ठा करना

झेलरा=जालीदार,

झींउरा=उत्सुकता

झीफ=घना घास

फिर भी कतिपय शब्दों में ध्वनि की व्युत्पत्ति का पता चलता है—

(1) संस्कृत 'ध्व' से, जैसे—ऊझे<ऊर्ध्व, झौशरा<ध्वंसृत।

(2) झीशा<प्रा०पच्छूस<सं प्रत्यूष=प्रातःकाल, झीश<सं० उषस।

(3) गझौला<प्रा० झूल<सं० आन्दोल का धात्वादेश=शोर।

(4) झाःर<सं० जाल=समूह, झाड़ियों या पौधों का समूह।

(5) झौड़ी<हिं० झुरियां।

(6) झौखा<सं० जक्ष्।

'ट्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ट्' से, जैसे—टांका<टङ्क, टिका<टिक्क, टेपरा<टेरक्ष, टोपी<प्रा० टोपिआ, टांग<टङ्गा।

(2) संस्कृत/प्राकृत 'ट्ट' से, यथा—हाट<सं० हट्ट, टाला<अट्टाल, कुट<कुट्ट, कटोरा<प्रा० कट्टोरग, पौट<पट्ट, भाट<भट्ट।

(3) संस्कृत 'ष्ट' से, जैसे—ईंट<इष्ट, ऊंट<उष्ट्र, धरिशटा<दृष्टि, निशटा<निकृष्ट, करशटा<कष्ट।

(4) संस्कृत 'त' से—काट<कृत्, माटा<अप० मट्टी<सं० मृत्तिका, टीका<सं० तिलक, बोट<वृत्त (बोट कोई गोल वस्तु पैसा, धेला या पत्थर। पैसे के एक जुए में प्रयुक्त), नटेइया<नर्तक।

(5) संस्कृत 'र्त' से—कटारी<कर्तरि, काटण<कर्तन।

(6) संस्कृत 'ल' से—लांगूल>लिंगटा।

(7) संस्कृत 'द्य' से—सट<सद्यस् (सट केर)।

(8) संस्कृत 'ष्ठ' से—बीट<विष्ठा।

(9) संस्कृत 'द्व' और 'द्' से—टापा<द्वीप, शोट<शद्।

'ठ्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ठ्' से—जैसे, ठाकर<ठक्कुर, ठार (ठाण्डी ठार)<सं० ठार, पाठ<सं० पाठ, कोण्ठी<कण्ठक।

(2) संस्कृत 'ष्ठ्' से—काठ<काष्ठ, काठू (अन्न)<काष्ठक, जेठा<ज्येष्ट, गूठा<अंगुष्ठ, पीठ<पृष्ठ, कोठी<कोष्ठिका, गोठ<गोष्ठि।

(3) संस्कृत 'ष्ट्' से—पीठा<पिष्टक्, मीठा<मिष्ट, मुठी<मुष्टि, पुठा<पुष्ट (पुठाएँ ज़ोर=अधिक ज़ोर), शौठ<षष्टि।

(4) संस्कृत 'ध' से—ठोर<धोर।

(5) संस्कृत 'स्थ' से—ठाऊं<स्थान, ठौग<स्थग, उठ<स्था, कठा<एकस्थित, ठाक<स्तक्।

(6) संस्कृत 'न्थ' से—गोंठ<ग्रन्थि।

(7) संस्कृत 'स्त' से—ग्रस्त>गरेंठ।

'ड्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ड्' से—डाइण<डाकिनी, डम<डम्, डी<डी (किसे डीणा), डूमणा <डोम, डोला<डोला, डोरी<डोर, मुंड<मुण्ड, पिंडा<पिण्ड।
(2) संस्कृत 'ट्' से—कोंडा<कंटक, बोंड (बोंडणा)<वण्ट।
(3) संस्कृत 'द्र' से—छिड़ा<छिद्र, डाह<द्राह् (to deposit, put down) डूब<द्रुड (to Sink), मुंडण<मुद्रा।
(4) संस्कृत 'द', 'द्व' से—डेहली<देहली, डोंड<दण्ड, डुआर<द्वार, डोई<द्वि, गींड<कन्दुक, मुंड<मृद्।
(5) संस्कृत 'दृ' से—एण्डा<एतादृश, तेंडा<तादृश, केंडा<किदृश, ज़ेंडा< यादृश।
(6) संस्कृत 'ध' से—डाह<धा (रखना)।

'ढ्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ढ' से, जैसे—ढौग<सं० ढंक, ढाल<ढाल, ढुण्ढ<ढुण्ढ (ढुण्ढ पाणी search), ढबुआ<ढेब्बुका, ढोल<ढोल, ढौक<ढौक।
(2) संस्कृत 'घ' से, यथा—बांढी<वन्ध्या।
(3) संस्कृत 'ड' से—चूंढा<चूडाल, शूंढ<शुण्ड, ढाब<डप, ढूम<डम्ब्र, पिढा< पीड।

'ण्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ण' से—गुण<गुण, तराण<त्राण, कोणी<कणिका, पुण<पुण, गिण<गण, लूण<लवण।
(2) संस्कृत 'न' से—ख़ोग<खन्, ज़ोण<जन, ताण<तन् (टौल्हे ताणिया डाह), पुण<पुन्, लुण<लुन्, धाणा<धाना (धाणा खाणी)।

'ड़्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ट्' से—बाड़<वाट, चोड़<चट्, चीड़ी<चटिका, झ़ीड़ी<झिटी, पूड़ा<पुटक, कीड़ा<कीट, घड़ा<घट, घोड़ा<घोटक, खोड़<अक्षोट, नेड़<निकट, पेड़<पेट (नाज़ा डाहणा-बे पेड़), कुकड़<कुक्कुट, परौगड़ा< प्रा० प्रगट<सं० प्रकट, कौकड़ी<कर्कटिका, कड़ुआ<कटुक।
(2) संस्कृत 'ड्', 'ड्र' से—लोगड़<लगुड, बड़ा<प्रा० बड्ड<सं० बड्र, भेड़< भेड्र, छे:ड़<क्ष्वेड, बेड़ी<बेडा (a boat)।
(3) संस्कृत 'ष्ट' से—भेड़ (ना)<वेष्ट, उथड़ा<उत्कृष्ट।
(4) संस्कृत 'स्थ्', 'त्' से—हाड़का<सं० अस्थि, मौड़ा<मृतक, लूड़<लता,

मड़दौहणू<मृत+दहक।

(5) संस्कृत 'श' से—दाड़ना<दशन।

(6) संस्कृत 'व' से—पाशड़<पार्श्व, नाड़<(नाड़ी) स्नाव।

(7) संस्कृत 'द्र' से—ओड़ी<अद्रि।

(8) संस्कृत 'ल' से—धूड़<धूलि।

(8) संस्कृत 'न' से—नड़ान<ननन्दृ, चांबड़ा<चर्मन।

(9) संस्कृत 'क' से—भाइड़<भ्रातृक, काउड़ा<काक।

(10) संस्कृत 'र' से—सोंगड़ा<संकर, मुंदड़ी<मुंद्रिका।

'ढ़' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ड्' से—जाढ़ा<जाड्य, चोढ़<चूडा, चोढ़ा<चूडिक।

(2) संस्कृत 'ष्ठ', 'ष्ट' से—दाढ़<दंष्ट्र, कोढ़<कुष्ठ।

(3) संस्कृत 'ठ' से—पढ़<पठ्।

(4) संस्कृत 'र्ध' से—देउढ़<द्व्यर्ध।

'त्' की उत्पति

(1) संस्कृत के 'त' से—तालू<तालु, तौछ<तक्ष, ताप (ज़ौर ताप)<ताप, तूश<तुष, तुरही<तूर्य।

(2) संस्कृत 'त्र' से—तराण<त्राण, तरेता<त्रेता, चितरा<चित्र, सूतर<सूत्र, रात<रात्रि, छेत<क्षेत्र, गोत<गोत्र।

(3) संस्कृत 'प्त' से—सौत<सप्त, परापत<प्राप्त, सूता<सुप्त, तरिपति<तृप्ति, तौता<तप्त।

(4) संस्कृत 'क्त' से—रौता<रक्त, मुकति<मुक्ति, भगत<भक्त, पौंगत<पंक्ति, मोती<मौक्तिक।

(5) संस्कृत 'तृ' से—तार<तृ, तरीजा<तीजा<तृतीय, तरिण<तृण (तरीण जेंहां सा), नाती<नप्तृ।

(6) संस्कृत 'त्व' से—तू<त्वम्, तौछ<त्वच, तौंग<त्वंग, तरातर<त्वरित।

(7) संस्कृत 'र्त' से—काती<कार्त्तिक, कात<कर्तरी, बौती<वर्तिका, मूरती<मूर्ति, बौत<वर्त्मन।

(8) संस्कृत 'ध' से—ओकती<औषधि।

(9) संस्कृत 'द' से—भेत<भेद।

'थ्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'थ' से—कौथा<कथा, रौथ<रथ, थुरथुरी<थरथराय, थूक<थूत्+कृत।

(2) संस्कृत 'स्त' से—थौंभा<स्तम्भ, मौथा<मस्तक, हौथ<हस्त, थिपु<स्तिपा,

औथी (नीऔथी)<अस्ति, बाथरा<वस्त्र, थोड़ा<स्तोक, पोथी<पुस्तिका, थोण<स्तन।

(3) संस्कृत 'स्थ' से—थाली<स्थाली, थौली<स्थली, थाप<स्थाप, थान<स्थान, थूला<स्थूल।

(4) संस्कृत 'त्त' या 'स्त' से (पूर्व अक्षर के लोप से)—बिथा<विपत्ति, बेंथ<वितस्ति, पौथा<पस्त्य, भारथा<वार्त्ता, पाथर<प्रस्तर, थोम (थोमणा)<स्तम्भ।

(5) संस्कृत 'र्थ' से—तीरथ<तीर्थ, साथी<सार्थिक, औरथ<अर्थ, चौउथा<प्रा० चउथी<सं० चतुर्थ।

(6) संस्कृत 'कृ' से—उथड़ा<उत्कृष्ट, सुथरा<सुकृत।

(7) संस्कृत 'त्स' से—जोथ<ज्योत्स्ना।

(8) संस्कृत 'त' से—थाले<तल।

(9) संस्कृत 'त्थ' से—कोलथ<कुलत्थ।

(10) संस्कृत 'द' से—उथड़ा<उदग्र।

'द्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'द' से—दान<दान, दुख<दुःख, दौशी<दशा (पट्ट री दौशी), दशा<दशा (स्थिति), देऊ<देव, देश<देश, दस<दर्श्, दुंहू<दुह, दाह<दाह।

(2) संस्कृत 'द्र' से—दाख<द्राक्षा, दाऊ<द्रव, दलिदर<दरिद्र, दरोह<द्रोह, कोदरा<कोद्रव, भादरू<भाद्र।

(3) संस्कृत 'त' से—दोंद<दन्त, चन्दरा (चोंदरा)<चतुर, छोंदा<निऊंदा<निमंत्रण।

(4) संस्कृत 'द्य' से—दोथ<दोत<द्युत, दोथी<द्युति, बिदिया<विद्या।

(5) संस्कृत 'द्व' से—दूई<द्वि, दुआर<द्वार, दुगणा<द्विगुण, दूजा<द्वितीय, दोघरा<द्विगृहम्।

(6) संस्कृत 'द्ध' या 'ध' से—शराद<श्राद्ध, दाई<धातृ<धात्री, दाणा<धाना, दुहार<हिं० उधार।

(7) संस्कृत 'न' से—बांदर<वानर।

(8) संस्कृत 'र्द' से, जैसे—खौदला<कर्दम, पौद (पौदणा)<पर्द।

(9) संस्कृत 'ज' से जैसे—विदा<विजय (जैसे विदा-दसमी)।

'ध्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ध' से—धरम<धर्म, धन<धन, धार<धार, धूप<धूप, धूआं<धूम्र।

(2) संस्कृत 'ध्व' से—धौज<ध्वज, धुन<ध्वनि।

(3) 'द' और 'ह' के संयोग से—धीऊ<अप० धीय<सं० दुहिता, धियाहिणी<दुहिता+विवाहिता (विवाहित पुत्रियाँ-बहिनें), धोतरी<दुहिता+पुत्री, धुक (धुक-धुकी)<दाहुक।

(4) संस्कृत 'र्ध' से—औध्रा<अर्ध, बौध्र<बर्ध (बौधणा)।
(5) संस्कृत 'द्ध' से—शुधा<शुद्ध, बुधी<बुद्धि, सिध<सिद्ध।
(6) संस्कृत 'दृ' से—धरिशटा<दृष्टि।

'न्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'न' से—नगर<नगर, नाटी<नटन, नरक<नरक, नाऊं<नाम, नाश<नाश, नन्द<नन्द, नौश (न्हौश)<नश्, निरिकार<निराकार।
(2) संस्कृत 'ण' से—'र' के पूर्व-संयोग के कारण—शौर्न<शौरन<सं० शरण, भौर्न<भौरन<सं० भरण, धार्ना<धारना<सं० धारणा, मौरना<मरण, धौरनी<धरणि।
(3) संस्कृत 'ञ्ज', 'ञ्च' से—भोन<भञ्ज, मिन<मिञ्ज, सीना<सिञ्च।
(4) संस्कृत 'र्ण' से—कोन<कर्ण, ऊन<ऊर्णा, पूनू<पूर्णिमा।
(5) संस्कृत 'ण्य' से—पून<पुण्य।
(6) संस्कृत 'न्य' से—धन<धन्य, धनमा:राज़<धन्यवाद, धान<धान्य, शुन<शून्य।
(7) संस्कृत 'स्न' से—निहाण<स्नान, नाड़ी<स्नायु, निघा<स्निग्ध।
(8) सं० 'न्थ' से—गुन (गुनणा)<ग्रन्थ्।

'प्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'प' से—पाप<पाप, पूजा<पूजा, पौट<पट्ट, पलास<पलाश (a leaf, a petal, blossom of a tree), पौलवा (तौ की पौलवा पाणा, लो० गी०)<पल्लव (a bracelet, sexual love), पाशी<पश, पिंडी<पिण्डी, पिश (पिठा पिशणा)<पिष्, पूला<पूल।
(2) संस्कृत 'प्र' से—पाला<प्रालेय, परौकटी<प्रकटित, पियाशा<प्रकाश, परौगड़ा<प्रगट<प्रकट, पौहर<प्रहर (पौहर आऊ दिहाड़ा, लो० गी०), पौहरी<प्रहरिन, पाथर<प्रस्तर, पाहुणा<प्राघुण, पौज़णा<प्रजन, पौरसु<प्रस्वेदन।
(3) संस्कृत 'पृ' से—पीठ<पृष्ठ, पिच् (पाच्-पिच् केरू)<पृच्, परिथबी<पृथ्वी।
(4) संस्कृत 'र्प' से—करपाण<कर्पण, कपाह्<कर्पास, कपूर<कर्पूर, खोपरी<खर्पर, पापड़<पर्पट, शूप<शूर्प।
(5) संस्कृत 'प्प' से—पीपल<पिप्पल।

'फ्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'फ' से—फौल्<फल, फुलुंगु<फल्गु, फागण<फाल्गुन, फूल<फुल्ल, फाल् (फालना)<फल्।
(2) संस्कृत 'स्फ' से—फारा<स्फार, फुर<स्फुर, फुट (फुटणा)<स्फुट्, फिट (फिटणा)<स्फिट्।

(3) संस्कृत 'प' से—फाही<पाश, चेफला<चिपट, फाट<पाट।

'ब्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ब' से—बल<बल, बोन्ह्<बन्ध्, बाँही<बाहु, बिंदली<बिंदु, बिल<बिल, बेजा<बीज, बुध<बुद्धि, बोहू<बहु, बौल्द<बलिवर्द, बकरा<वर्कर।

(2) संस्कृत 'ब्र' से—बाह्मण<ब्राह्मण, बरमचारी<ब्रह्मचर्य।

(3) सस्कृत' बृ' से—बरेस्त<बृहस्पति।

(4) संस्कृत 'व'से—बिश<विष, बांच् (चिट्ठी बांच्णी)<वच, बाद<वद्, बोण<वन, बौत<वर्त्मन, बौरश<वर्ष, बौल<बल, वाक<वाक (खाख बाक), बाद<बाद (बाद मौत केरदा), बाम<वाम (बाम टिमणा) बागर<वायुर, बरेस<वयस।

(5) संस्कृत 'व्य' से—बिथा<व्यथा, बियाधी<व्याधि, बपार<व्यापार, बखान<व्याख्यान, बराघ<व्याघ्र।

(6) संस्कृत 'व्र' से—बरौत<व्रत, बरात<व्रात, बौध<व्राध्।

(7) संस्कृत 'वृ' से—बिरश<वृष, बराघ<वृक, बुक्का<वृक्क (कौकड़ी बुक्का), बादल्<वृत्रः, बिचू<वृश्चिक, बिथा<वृथा (कथा ढुननी की बिथा)।

(8) संस्कृत 'र्ब' या 'र्व' से—दुबला<दुर्बल, जूब<दूर्वा।

(9) संस्कृत 'र्म', 'म्र' से—निंबला<निर्मल, तांबा<ताम्र, चांबड़ा<चर्मन्।

(10) सं०/आर्य भाषाओं के' प' से—बाब<बाप, ढाब<डप्, सं० अपि>प्रा० वि>कु० बी०।

(11) संस्कृत 'भ' से—बाश (बाशणा)<भष्।

(12) संस्कृत 'म' से—बाठर<माठर (देउआरा बाठर निकता), बोहू<महा।

'भ्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'भ' से—भिछा<भिक्षा, भाग<भाग, भोज़ण<भोजन, भगत<भक्त, भाग<भाग्य, भोन<भञ्ज्, भाट<भट्ट, भौई<भय, भाल<भल्, भाख<भाषा, भौस<भस्म, भाण्डा<भाण्ड, भूई<भूमि, भैरू (भेइरू)<भैरव, भीत<भीति।

(2) संस्कृत 'भ्र' से—भौरम<भ्रम, भोंरा<भ्रमर, भाई<भ्रातृ, भराउज़ी<भ्रातृ+जाया, भरीऊं<भ्रू।

(3) 'ब' अथवा 'व' के साथ 'ह' के संयोग से—भियाणू<अप० विहाणु<सं० विहान (वि+हन्), भियाणसर<विहन्+सृ, भेड़ (भेड़ना)<विह्, भोला<बहुलक (अप० भोलअ)।

(4) संस्कृत 'भ्य' से (आदिस्वर के लोप से)—भियास<अभ्यास, भीतर<अभ्यन्तर, भियागा<अभ्यागम।

(5) संस्कृत 'र्भ' से—गौभण (पशु के लिए) <प्रा० गब्भिनी<सं० गर्भिणी, गुर्भण (स्त्री) <गर्भिणी, गौभ<गर्भ, जौभ (घास विशेष) <सं० दर्भ ।

(6) संस्कृत 'ह्व' से—जीभ<जिह्वा ।

(7) संस्कृत 'ब' के महाप्राण से—भूज<प्रा० भुस<बूष<सं० बुस ।

'म्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'म' से—मन<मन, माघ<माघ, म्हौखर<मकरन्द, मिश<मिश् (to be angry मिशिणा), मौछी<मक्षिका, मौछी<मत्स्य, मिश<मश (क्रोध), मौल्<मल, मौल<मल्ल, मौलेगीट<मल्लक्रीडा, मौसर<मसुर, मोणी<मणि, माया<माया, माला>माला, मुण्ड<मुण्ड, मुज़रा<मुद्रा, मूरती<मूर्ति, मूशा<मुषक, मुसल<मुसल, मोह<मोह ।

(2) संस्कृत 'मृ' से—मौर<मृ, मौत<मृत्यु, मौड़ा<मृतक, मिरग<मृग, माँज< मृज, मुछ् (मूछ्ण) <मृण, मुंड (मुंडणा) <मृद्, माटा<मृत्तिका, मिरगी< मृगी, मड़दौहणू<मृत+दहक, मौथड़<मृतक+स्थान ।

(3) संस्कृत 'भ' से—मीथर<अभ्यन्तर, मिन (मिनणा) <अभ्यञ्ज, मंढार< भण्डार, थोम (थोमणा) <स्तम्भ् ।

(4) संस्कृत 'म्र' से—मरोक<म्रक्ष्, आम<आम्र ।

(5) संस्कृत, 'श्म' या 'स्म' से—मूछ्<प्रा० मस्सू<सं० श्मश्रु, मीट (टेंडे मीटणा) <श्मील्, मुसक (मुसकणा) <स्मि, मशाण<श्मशान ।

(6) संस्कृत 'म्ल' से—मीला<अम्ल, इमली<अम्लिका, मल्हाणी<अम्लिमन ।

(7) संस्कृत 'र्म' से—कोम<कर्म, घाम<घर्म, चमार<चर्मकार ।

(8) संस्कृत 'प', 'ब' या 'व' के अनुनासिक होने पर—समाद<संवाद, ढूम< डम्ब् (ढूमणा), सोमत<संवत्, कोमणी<कम्पन ।

'च्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'च' से—चाकर<चकोर, चितरा<चित्र, चिंता<चिन्ता, चूंज< चंचु, चेटू<चेटक, चाकला<चक्रक, चोपड़<चोपड, चतर<चतुर, चौल< चल्, चूरा<चूर्ण, चोर<चुर, चोखा<चोक्ष, चिकर<प्रा० चिखिल्ल ।

(2) संस्कृत 'चृ' से—चित्त<चृत (जैसे—चित्त केरना मूं) ।

(3) संस्कृत 'त्य' से—सौच<सत्य, नृत्य >नौच, निश्चित>नचिंत ।

(4) संस्कृत 'च्य' से—चुड़<च्यव (चुड़ना), चूतड़<च्युत, चाप<च्युप् (चापणा) ।

(5) संस्कृत 'श्च' से—बिचू<वृश्चिक

(6) संस्कृत 'झ' से—चिलक<झिल्लिका ।

'छ़' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'छ' से—छ़ाऊं < छाया, छि़दरा < छिद, छि़डा < छिद्र, छ़ुंग < छुप्, छुरिका > छु़री, छे़लू < छग < छेलक (both he or she-goat), छो़ < छद् ।

(2) संस्कृत 'क्ष' से—रीछ़ < ऋक्ष, कौछ़ < कक्ष (armpit), तौछ़ (णा) < तक्ष्, छ़ार < क्षर, छ़ीण < क्षीण, छु़री < क्षुरिका ।

(3) संस्कृत 'च्छ' से—कौछ़ < कच्छ, पूछ़ < प्रच्छ, गुछा़ < गुच्छ ।

(4) संस्कृत 'त्स' से—मौछी़ < मत्स्य, बौछू़ < वत्स, गुछा़ < गुत्सक ।

(5) संस्कृत 'श्र' से—मूछ़ < श्मश्रु ।

(6) संस्कृत 'सं' से—संदेश > छ़ोंदा ।

(7) संस्कृत 'झ' से—छ़ौबका < झम्प या झम्पा ।

(8) संस्कृत 'श्च' से—पीछे़ < प्रा० पच्छइ < सं० पश्चात् ।

'ज़' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ज' से—ज़ानू (ज़ान्हू) < जानु, ज़ाप < जाप, ज़ाल < जाल, ज़ोंघ < जङ्घा, ज़ोटा < जटा, ज़ोण (या ज़ीण) < जन, ज़ागरा < जागरण, ज़ातक < जातक, ज़ीब < जीव, ज़ीभ < जिह्वा ।

(2) संस्कृत 'य' से—ज़ूथा < यूथ, ज़तन < यत्न, ज़ौऊ (ज़ौ) < यव, ज़ंतर < यंत्र, ज़ौदी < यदा, ज़ांताई < यावत, दाज़ < दाय, ज़ें < यदि (सं० यदि < शौर० जदि < महा० जइ < कु० ज़ें), ज़ोई < युवति (सं० युवति < जुवति < जोति < ज़ोई) ।

(3) संस्कृत 'द्र', 'द' से—मुज़रा < मुद्रा, छिज़ (णा) < छिद्र, भाज़ी < भुजी < उद्भिद ।

(4) संस्कृत 'स' या 'स्त' से—भूज़ < बुसम्, हीज़ < ह्यस्, मींज़ू < मस्तिष्क ।

(5) संस्कृत 'ज्य' से—ज़ेठा < ज्येष्ठ, ज़ेठ < ज्यैष्ठ, ज़ोतश < ज्योतिष ।

(6) संस्कृत 'त्स' से—ज़ाइरू < उत्स ।

(7) संस्कृत 'द्य' से—ओंज़ < अद्य, ज़ोत < द्युति, ज़िउतीकीड़ा < द्युति + कीट, बीज़ < विद्युत, बाज़ा < वाद्य ।

'झ़' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'झ्' से, यथा—झ़ीड़ी < सं० झिटी, झ़ट् < सं० झट्(झटिति), झ़ण-झ़ण < झणझणम्, झ़ाक < झला, झ़ौड़ (ना) < झरत, झ़ास < झष् ।

(2) संस्कृत 'ध्य' से—सोंझ़ < सञ्झ < सन्ध्या, बूझ़ (णा) < बुध्य, समझ़ < सम + बुध्य, मोंझ़ < मध्य ।

अर्ध-स्वर 'य्' और 'व्'

पहले ही लिखा जा चुका है कि 'य्' और 'व्' कुलुई में अर्ध-स्वर हैं। दोनों श्रुतिपरक हैं। आदि 'य्' सर्वदा 'ज' में बदलता है, केवल कुछेक शब्द हैं जो कुलुई में 'य्' से आरम्भ होते हैं—जैसे, या 'माता', यारा पं० 'यार' (मित्र), याणा 'युवक' आदि। इनमें भी ध्वनि 'इया' और 'इयार' सी है। मध्य और अन्त में भी 'य' का 'ज' हो जाता है। बहुत कम शब्द हैं जहां 'य्' का प्रयोग मिलता है, और वहाँ भी श्रुति सहित इस का उच्चारण 'इआ' आदि हो जाता है।

'व्' तो कुलुई में मूल व्यंजन के रूप में विद्यमान नहीं है। यहाँ केवल उसे श्रुति के महत्त्व के कारण दिखाया गया है। यह आदि में सर्वदा 'ब्' में बदलता है और मध्य और अन्त में श्रुति में बदल जाता है, जिसका विस्तार के साथ पहले ही उल्लेख किया गया है।

'र्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'र' से, *यथा*—रौथ<रथ, रौता <रक्त, रंग<रंग, रस<रस, रात<रात्रि, राखस<राक्षस, राहू<राहु, राश<राशि, राणी<प्रा० राणी <सं० राज्ञी, कियारी<केदारिका, गोरा<गौर, पौरशी<परश्वः।

(2) संस्कृत 'ऋ' से—रिण<ऋण, रिशी<ऋषि, रुत<ऋतु, केर<कृ, मौर<मृ, घौर<गृह, रिह्.क (णा)<ऋ (हिलना, जाना), रीछ.<ऋक्ष।

(3) संस्कृत रेफ-युक्त व्यंजनों में स्वरभक्ति के फलस्वरूप—धरम<धर्म, करम< कर्म, दरशण<दर्शन, सौरग<स्वर्ग।

(4) संस्कृत 'द' से—ब्रारा<प्रा० बारस<सं० द्वादश, गियारा<एकादश, सतारा <सप्तदश।

(5) संस्कृत 'ड' से—ब्राल़<विडाल।

(6) संस्कृत 'य' से—ब्रेस<वयस।

(7) संस्कृत 'ल' से—पराल़<पलाल।

'ल्' और 'ल़्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ल' से, *यथा*—लाख<लक्ष, लौज<लज्जा, लुण<लुन्, लोहा< लौह, काजल<कज्जल।

(2) संस्कृत 'द्र' से—भोल़ा<भद्र, मौल <प्रा० मल्ल<मद्र (पहलवान)।

(3) संस्कृत 'ल्य' से—मूल<मूल्य, काल<कल्य।

(4) संस्कृत 'र' से—दलि़दर<दरिद्र, हौलज<हरिद्रा, निगल़ (णा)<निगर, लोधा<रुधिर।

'श्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'श' से, यथा—शौऊ <शत, शौरन <शरण, शुक (णा) शुष्, शूल् <शूल, शिगरा < शिखर, शि:ल्ह <शिला, शोभ <शोभ, आशा < आशा, शूप <शूर्प, शलोहा <शलभ।

(2) संस्कृत 'श्व' से, जैसे—शाह् < श्वास, बशाह <विश्वास, शेता <श्वेत, शूई <श्वस् (कल), पौरशी < परश्वस् (परसों), शौउरा < श्वसुर, शोशु < श्वश्रु।

(3) संस्कृत 'शृ' से—शांगल < शृंखला, शियाल < शृगाल, शींग < शृङ्ग, शंगार < शृंगार।

(4) संस्कृत 'श्र' से, यथा—शराध <श्राद्ध, बशाऊं <विश्राम, शाउण <श्रावण, शुण < श्रु, शा:णी <श्रेणी।

(5) संस्कृत 'ष' से—शाढ़ <आषाढ़, पोश <पौष, बौरश < वर्ष, रोश <रोष, दोश <दोष, रुश < रुष, शाण्ढी <षाण्ढ्य (eunuch, नपुंसक—बांडी-शांढी बेटड़ी), तूश < तुष, जोतश <ज्योतिष।

(6) संस्कृत 'श्य' से—शांउला < श्यामल, शीण <श्येन (eagle)।

(7) संस्कृत 'श्ल' से—शिमा <श्लेष्मा।

(8) संस्कृत 'ख' से—न्हौश <नख।

'स्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'स' से—सोंबर (ना) < संवृ, संजोग <संयोग, सोंगड़ा < संकर, सौगम संगम, संग < संग, सोंझ < संध्या, सिन्हिणा < सिंचित, सेंई <संदृश्, मौसर < मसूरिका, बरेस <वयस् (जवानी, youth)।

(2) संस्कृत 'स्व' से, जैसे—सौरग < स्वर्ग, सका <स्वक: (जैसे सका भाई), सुपना स्वप्न, सभाहें <स्वभावत:, सुलखणा <स्वलक्षण, सुआंग < स्वांग, सुआद <स्वाद, सूना < स्वर्ण, सामी < स्वामी।

(3) संस्कृत 'सृ' से—सर (कणा) <सृ, सूज (णा) <सृज्।

(4) संस्कृत 'स्य' से—औलस < आलस्य, कांसा <कांस्य, हौसी <हास्य, साला़ < स्याल, सिउण <स्यु।

(5) संस्कृत 'श' से—सराहणा <श्लाघनम्, सोह <शपथ, सुलै-सुलै < शनै: शनै:, पलास <पलाश (पलासिणा), मौसक <मशक।

'ह्' की उत्पत्ति

(1) संस्कृत 'ह' से, जैसे—हौथ < हस्त, हौरन <हरिण, हौरा <हरित, हाऊं < अहम्, हिऊं < हिम, हल < हल, हाली़ < हलिक, हौस <हस, दाह <दाह।

(2) संस्कृत 'हृ' से—हेर (ना) <हृ (देखना), हिरदा < हृदय।

(3) संस्कृत 'ह्य' से—हीज <ह्यस् (पिछले कल), बाहरला < बाह्य।

(4) संस्कृत 'स' से—शाह < श्वास, बशाह < विश्वास, ग्राह < ग्रास ।

(5) संस्कृत 'भ' से—शलौहा < शलभ, सुहाग < सोहग्ग < सौभाग्य, बिहाणू < विभानु, निहाल < नि+भाल, हांडा < भाण्डम् ।

(6) संस्कृत 'ख' से—मुँह < मुख, हेड़ी < अहेरी < अहेडिअ < आखेटक ।

(7) संस्कृत 'ध' से—गेहूँ < गोधूम, दही < दधि, माहूँ < मधुक, बोन्हणा < बन्धन ।

(8) संस्कृत 'घ' से—पाहुणा < प्राघुण, सराहणा < श्लाघनम् ।

(9) संस्कृत 'थ' से—गूह < गूथ, सोह < शपथ, काहणी < कथनी ।

(10) संस्कृत 'फ' से—कुहणी < कफोणि ।

(11) संस्कृत 'श्' से—निंहचे < निश्चय, बीह < हिं० बीस < सं० विंशति ।

(12) संस्कृत 'व' से—माण्हु < मानव, दिहाड़ा < दिवस ।

(13) संस्कृत 'क' से < कोंहदा < ककूद ।

(14) स्वरों के महाप्राण होने पर—हिरख < ईर्ष्या, हौलख < अलख (madness) हौछ्रू < अश्रु ।

अध्याय—8

अर्थ-तत्त्व

कुलुई में शब्द-निर्माण का सामर्थ्य बड़ा सराहनीय है। कुलुई में विदेशी शब्दों के आगमन पर पहले ही विचार किया गया है। यह देखा जा चुका है कि कुलुई में न केवल संस्कृत के तत्सम्, तद्भव तथा अर्धतत्सम शब्दों का प्रभुत्त्व है, वरन् इसमें फारसी, अरबी, तुर्की, अंग्रेज़ी आदि विदेशी भाषाओं तथा पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, भोजपुरी आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं से पर्याप्त मात्रा में शब्दों का आगमन हुआ है जिन्हें कुलुई ने अपनी प्रकृति के अनुसार ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ इस प्रकार आत्मसात कर लिया है कि उन्हें विदेशी या अन्य भाषा का कहना कठिन है। आम बोल-चाल में कुलुई-भाषी इन्हें बाहर का नहीं समझते। ये सभी तत्त्व कुलुई के अन्य भाषाओं के शब्दों और गुणों के अपनाने में उदार भावना को प्रकट करते हैं। इस प्रकार कुलुई में अन्य भाषाओं से शब्द उधार लेने के गुण स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं। इस दृष्टि से यह संसार की अंग्रेज़ी जैसी भाषाओं के सामने खड़ी होती है, जिसमें अन्य भाषाओं के शब्द अपनाने के अधिकतम गुण है, तथा इसी लिए अंग्रेज़ी को उधार लेने की प्रवृत्ति (borrowing nature) वाली भाषा कहा जाता है।

अन्य भाषाओं के शब्दों को पचाने का गुण कुलुई का एक पक्ष है। परन्तु इसका दूसरा पक्ष इससे भी सबल है, और यह इसका मूल गुण भी है। यह दूसरा गुण इसकी रचनात्मक प्रवृत्ति है। कुलुई में अपने प्रत्यय हैं और इन प्रत्ययों की सहायता से वह अपना अर्थ-विभेद करती है।

अर्थ-विभेद

कुलुई में अर्थ-विभेद का मुख्य लक्षण ध्वन्यात्मक परिवर्तन है। संस्कृत के एक ही शब्द के विभिन्न अर्थों को भी कुलुई ने मूल शब्द की ध्वनि में परिवर्तन करके विभिन्न अर्थों को विभिन्न रूपों से अभिव्यक्त किया है। इस तथ्य की कुछेक उदाहरणों से पुष्टि हो जायगी। कुलुई में सं० 'क्ष' कहीं 'छ' में बदलता है, कहीं 'ख' में, कहीं 'श' और कहीं 'छ्' में। ऐसा परिवर्तन कुलुई में कोई अपवाद नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंश में भी 'क्ष' अक्षर 'च्छ', 'क्ख' तथा 'ज्झ' में बदलता रहा है, और पिशल जैसे विद्वानों के लिए यह समस्या रही है कि 'क्ष' को इस तरह विभिन्न रूपों में बदलने का विधान या आदेश

क्या है ?[1] स्पष्टतः प्राकृत तथा अपभ्रंश की इस देन द्वारा कुलुई ने अर्थ-विभिन्नता में सहायता ली है। संस्कृत में '**कक्ष**' के कई अर्थ हैं। इनमें से एक अर्थ 'बग़ल' है। कुलुई में इस अर्थ में कक्ष>**कौछ** में बदला है। सं० कक्ष का दूसरा अर्थ 'एक घास' है; कुलुई में इस अर्थ में '**काशू**' या '**काशी**' शब्द बना है। सं० कक्ष का एक अन्य अर्थ 'कटिसूत्र' है, जो कुलुई में '**काछा**' बना है। एक अन्य अर्थ में सं० कक्ष का अर्थ 'स्त्री की तगड़ी है'। इस अर्थ में कुलुई का शब्द '**कूछ**' बना है। स्पष्ट है कि कुलुई ने एक संस्कृत शब्द 'कक्ष' के विभिन्न अर्थों को ध्वनि परिवर्तन से कौछ, काशू, काछा, कूछ आदि स्वतंत्र शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया है और अर्थ-स्पष्टतः के साथ-साथ शब्दावली को बढ़ाया है। इसी तरह संस्कृत '**छत्र**' शब्द को लीजिए। संस्कृत में इसका एक अर्थ 'कुकुरमुत्ता या खुंभी' है। इस अर्थ में सं० छत्र कुलुई में '**छोछी**' रूप बना है। इसका दूसरा अर्थ 'छतरी' है जिसका कुलुई रूप '**छ़ीतरी**' है। 'राजकीय अधिकार' के रूप में सं० छत्र का कुलुई शब्द '**छौछ**' बना है (जैसे—देउआ री छौछ) और 'मधुमक्खी के छाता' के अर्थ में **छ़ाता**। एवम्, संस्कृत '**तन्**' के कई भाव हैं। 'फैलाना' के अर्थ में कुलुई रूप '**ताण**' बना है, जैसे—झीकड़ ताण (पट्टू फैला)। 'पसारना' का भाव प्रकट करने के लिए कुलुई शब्द 'ताड़' हो गया है, यथा—टांगा ताड़ (टाँगे पसार)। और 'लम्बा करना या उठाना' के अर्थ में सं० तन् से कुलुई '**तिण**' रूप बना है—झाऊं तीण (तिण) भावीए झाऊं तीण ओ-ओ (लो० गीत)।

संस्कृत की 'ऋ' ध्वनि मध्यकालीन भारतीय भाषा में ही कहीं 'इ' में बदल गई थी और कहीं 'उ' में, जैसे 'ऋण' से 'रिण' और 'ऋतु' से 'रुत'। ठीक यही अवस्था वर्तमान कुलुई की है, जैसे घृत से घिऊ, परन्तु मृत से मुंआ। इस तरह संस्कृत 'सृज' के दो भिन्न अर्थों को कुलुई ने अलग अलग रूप द्वारा प्रकट किया है। सं० 'सृज्' का एक अर्थ पैदा करना या जन्म देना है। कुलुई में इस अर्थ में सं० सृज से '**सुज**' (श्रुति के कारण सुज़ शब्द सुह भी बनता है) बनता है, जैसे—गाई सुजणा या गाई सुहणा। सं० 'सृज्' धातु दूसरे अर्थ में 'जमाव आना' के रूप में प्रयुक्त होती है; तब यह कुलुई में '**सिज़**' में बदल गई है, जैसे सीड़ सिजे। अतः स्पष्ट है कि सं० सृज के दो अर्थों को व्यक्त करने के लिए कुलुई में दो अलग-अलग शब्द बने 'सुज़' और 'सिज़'। संस्कृत में अङ्गुल' के अर्थ हैं (1) अंगुली, और (2) एक अंगुली के बराबर फासला। कुलुई में दोनों के लिए अलग-अलग शब्द बन गए हैं—अंगुली के अर्थ में '**गूठी**'[2] (अङ्गुल < अंगुलि < अंगूठी < गूठी) तथा एक अंगुली के बराबर फासले के अर्थ में '**आंगल**' (अङ्गुल < आंगल)—जैसे एक आंगल बेरला (एक अंगुल चौड़ा)। कुलुई में 'ल' और 'ल़' अलग-अलग ध्वनियाँ हैं। इन से भी अर्थ-भेद में सहायता मिली है। कुलुई में शब्द के पूर्व-स्वर का लोप होता है। यह विस्तार से देखा गया है। इस प्रकार 'अकाल' से कुलुई शब्द 'काल़' बना। दूसरी ओर 'कल्य' से भी तद्भव रूप 'काल' विकसित हुआ। परन्तु

1. Alfred C. Woolner : "Introduction to Prakrit"—अनु: डॉ० बनारसीदास जैन : प्राकृत प्रवेशिका, पृ० 28.
2. कुलुई में गूठी से अभिप्राय 'अंगूठी' नहीं है। अंगूठी के लिए कुलुई शब्द मुंदड़ी (सं०मुद्रिका) है।

दोनों में मूर्धन्य 'ल़' तथा वर्त्स्य 'ल' के कारण अन्तर है—अकाल से **काल़** तथा कल्य से **काल**। इसी तरह हिंदी 'खाल' को कुलुई में **खौल** कहते हैं और खल्यान को खौल़ <सं० खल। अतः स्पष्ट है कि इन प्रवृत्तियों द्वारा जहाँ एक ओर शब्दार्थ में भेद हुआ है, वहाँ दूसरी ओर शब्द-निर्माण में वृद्धि हुई है। इन उदाहरणों से कुलुई के शब्द परिवर्तन को अर्थ-परिवर्तन के विभिन्न पहलुओं से देखा जाना रुचिकर होगा।

(1) अर्थ-संकोच

मूल रूप में, अर्थ-संकोच से अभिप्राय शब्दार्थ का सामान्य रूप से विशेष रूप की ओर परिवर्तन है। अर्थ संकोच के कारण किसी शब्द का प्रयोग साधारण या विस्तृत अर्थ से हट कर विशेष या सीमित अर्थ में होने लगता है। उदाहरणार्थ संस्कृत 'भार' का अर्थ 'बोझ' है और वह कोई भी भारी वस्तु का वज़न हो सकता है। कोई भी बोझ भार है। परन्तु कुलुई में **भार** का अर्थ केवल ऐसा बोझ होता है जिसका वज़न 16 पत्थे है (लग-भग 20 किलो, कुल्लू में लेन देन में पत्थे, और भार का ही हिसाब होता है)। यहाँ भार शब्द ने सामान्य अर्थ छोड़कर विशिष्ट अर्थ धारण किया है और इस प्रकार संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी तरह सं० 'शिला' का अर्थ पत्थर है, जो किसी भी प्रकार का हो सकता हैं। परन्तु सं० शिला से प्रसूत कुलुई शब्द **शि:ल्ह** का अर्थ केवल वह पत्थर है जो नमक पीसने के काम आता है—'शि:ल्ह-बौता' में शि:ल्ह चौड़ा पत्थर है, जिस पर नमक रखा जाता है और बौता वह पत्थर है जिससे नमक घिसा जाता है। पुनश्च, संस्कृत में 'हन्' का अर्थ 'मारना' है। सं० हन् से काँगड़ी में 'हण' बना है और कुलुई में **हुण**। दोनों में अर्थ एक ही है। परन्तु यहाँ संस्कृत के साधारण 'मारना' से विशिष्ट अर्थ हो गया है क्योंकि काँगड़ी 'हण' और कुलुई 'हुण' के अर्थ केवल गाय-बैल द्वारा मारना है, अन्यथा नहीं। संस्कृत में 'गर्भिणी' का अर्थ 'गर्भवती' है और वह कोई भी हो सकती है जिसने गर्भ धारण किया हो। परन्तु कुलुई में सं० गर्भिणी से दो शब्द विकसित हुए हैं—**गुर्भण** और **गौभण** और दोनों ने सामान्य से हट कर विशिष्ट अर्थ धारण किए हैं। मानवजाति की स्थिति में गर्भवती स्त्री को **गुर्भण** कहते हैं, और पशुओं की स्थिति में **गौभण**। इसी प्रकार संस्कृत 'गर्भ' से कुलुई शब्द '**गौभ**' केवल भेड़ के बच्चे को कहते है। स्त्री के बच्चे को '**गाभरू**' कहते हैं। इसी तरह सं० 'भोजन' का मूल अर्थ खाना या आहार है, अर्थात् जो कुछ भी खाने के लिए तैयार है। परन्तु कुलुई में '**भोजण**' केवल वह भोजन है जो देवता को चढ़ाया या दिया जाता है। भोजन से ही एक कुलुई शब्द 'भोज' है जिसका अर्थ 'मिठाई' है। स्पष्ट है कि सं० भोजन से कुलुई **भोजण** और **भोज** विशिष्ट अर्थ ग्रहण कर चुके हैं। संस्कृत का एक और शब्द 'वस्त्र' लीजिए। यह शब्द 'वस्' धातु से सम्बद्ध है जिसका अर्थ कोई भी लगाया जाने वाला कपड़ा है। परन्तु कुलुई में 'वस्त्र' से 'बाथरा' शब्द से अभिप्राय केवल 'सूती कपड़ा' है। सामान्य कपड़ों को कुलुई में 'टौल्हे' कहते हैं।

अर्थ-संकोच का सबसे बड़ा कारण सभ्यता का विकास है। या, दूसरे शब्दों में, समाज के काम-धंधों और रीति-रिवाज का प्रसारण है। ज्यों-ज्यों सामाजिक कार्य-

क्षेत्र बढ़ता है, सामान्य शब्द विशेष अर्थ धारण करते हैं और उनसे नये शब्दों का निर्माण होता है। संस्कृत में 'वर्कर' किसी भी पशु के बच्चे को कहते थे, जैसे भेड़ का बच्चा, बकरी का बच्चा आदि। परन्तु आज '**बकरा**'∠ वर्कर केवल नर-बकरे के लिए कहते हैं, मादा को **बकरी**, बकरी के बच्चे को **छेलू**, बच्ची को छेली, '**भेड़**' के बच्चे को **गोभ**, बच्ची को गोभी, जवान बकरे को **बराट**, भेडा को **लौःढ़**, जवान भेडा को **रुःभ** कहा जाता है। भेड़ के जमते ही बच्चे को **मीमी** या **मीमू** (हिन्दी मेमना) कहते हैं।

अर्थ-संकोच का एक विशिष्ट उदाहरण नामकरण की स्थिति में मिलता है। मनुष्य जब कभी किसी नई वस्तु को देखता है तो उसके मस्तिष्क में तुरन्त उस वस्तु की कोई विशेषता या गुण समा जाती है और वह कल्पना शक्ति से उसका नाम रख देता है। गृहीत गुण उस वस्तु का सर्वदा पूर्ण गुण नहीं होता। उसकी विभिन्न विशिष्टताओं में से कोई एक हो सकती है, जिसने देखने या सुनने वाले को सबसे अधिक प्रभावित किया। उदाहरणार्थ जब वस्तु विशेष की ध्वनि ने सबसे अधिक प्रभावित किया हो तो **ध्वनि प्रतीक** संज्ञा स्थान लेगी। टम-टम करती हुई ध्वनि ने श्रोता को तुरन्त आकर्षित किया और उसने उसका झट '**टमक**' (ढोल) नाम रख दिया। किसी ढोल पर दोनों हाथों से गिरती काठी की तड़ातड़ ध्वनि से जो गण-गण शब्द सुनाई देने लगा तो उसका नाम **गनारा** (नगारा) रख दिया। घंटी के बीच लटकती हुई दोलक ने जब हिलते हुए टिन-टिन की ध्वनि पैदा की तो उसके कानों में पड़ते ही उसने उसे '**ठिणमिणी**' (घंटी) कह दिया। इसी तरह बादल की गर्जन की गड़-गड़ ध्वनि को सुनकर उसे '**गड़ाउड़ा**' (बादल की गरज) कह दिया। वृक्ष के तने पर चंचु से टुक-टुक करने वाले पक्षी का नाम '**टुटलू**' (कठफोड़ा) रख दिया।

ध्वनि-प्रतीक की तरह ही **आकृति प्रतीक** नाम भी अर्थ-संकोच के उत्तम उदाहरण हैं। दुबला-पतला लड़का उत्पन्न हो तो जन्मते ही उसका नाम '**लान्हू**' रख दिया और यदि मोटा हो तो '**थुल्हू**'। लान्हे व्यक्ति कई हो सकते हैं, और मोटा-ताज़ा भी कई कुछ हो सकता है, परन्तु व्यक्ति विशेष का ऐसा नाम रखना, 'लान्हे' और 'थुल्हे' शब्द के अर्थ को सीमित करना है। इसी तरह देखने वाले ने तितली को पंख फर-फराते देखा और झट उसका नाम '**फिंफरी**' रख दिया, और पटक-पटककर उछलते टिड्डा को '**टिटला**' नाम दिया और लम्बे-लम्बे सींग वाले को 'शृंगला' (तिलचटा)। रंग और आकृति के आधार पर नाम रखने की सामान्य प्रथा इसी सिद्धान्त पर प्रचलित है। गोरे रंग के बच्चे का नाम 'गोरी' या शेतू होता है, काले रंग वाले को कालू या शाउंलू कहते हैं। गाय बैल के नाम तो प्रायः उनके रंग और रूप पर ही आधारित होते है, जैसे—'धौंलू' (धवल रंग का), कोधरू या भौंरू (भूरे रंग का), टिकलू (जिसके माथ पर श्वेत निशान हो), खुम्बड़ी (जिसका मुंह अधिक लम्बा हो), तिच्छू जिसके सींग बहुत तेज़ हो), गटू (जो गोल-मटोल हो) आदि।

कई बार नामकरण **भावना या इच्छा प्रतीक** होते हैं। भक्त तो कई होते हैं, परन्तु यदि माता-पिता की इच्छा हो तो अपने नवजात शिशु का नाम भगतू या भगतराम

रख देते है । भले ही बाद में चोर बन जाए। परन्तु वह नाम के लिए भगतराम ही है। इसी तरह लायकराम (जो लायक हो), संगतू या संगतराम (जो अच्छी संगत में रहे), धर्मू या धर्मसिंह (जो धर्म का पालन करता हो), कर्मू या कर्मसिंह (जो कर्म पर चले) आदि सभी नाम इच्छा या भावना पर आधारित हैं और नामकरण से लायक, संगत, धर्म, कर्म आदि शब्दों के अर्थ को सीमित कर दिया है। भले ही ध्वनि-प्रतीक, आकृति-प्रतीक तथा इच्छा-प्रतीक शब्द व्यक्ति या वस्तु विशेष के गुण को सभी अथवा किसी विशिष्ट गुण को ही पूर्णतया प्रकट न कर सके, मानव की कल्पना ने ही धोखा खाया हो फिर भी यह स्पष्ट है कि ऐसे विशिष्ट शब्द अर्थ-विभिन्नता और शब्द-निर्माण के उत्कृष्ट नमूने हैं।

अर्थ-विशिष्टता का मुख्य कारण जाति या राष्ट्र विशेष के व्यापार अथवा कार्य का विकास है। आरम्भ में शब्द का एक सामान्य अर्थ रहा होगा, परन्तु ज्यों-ज्यों उस शब्द सम्बन्धी कार्य-क्षेत्र में अधिक विस्तार होता जाता है, कार्य-पद्धति के विभिन्न स्वरूपों में अर्थ-भेद करना ज़रूरी हो जाता है, अत: एक ही शब्द से विभिन्न रूप उत्पन्न होते हैं। उदाहरणतः कुलुई में भेड़ों की ऊन के लिए साधारण शब्द ऊन ही है। भेड़ों से ऊन वर्ष में चार बार काटते हैं, और हर समय की ऊन लम्बाई और स्वरूप की बिना पर एक-दूसरे से किंचित भिन्न होती है, इससे नाम भिन्न-भिन्न हो गए हैं, जैसे—ज्येष्ठ महीने में काटी जाने वाली ऊन **जठून** कहलाती है, आश्विन महीने की **शरून**, मार्गशीर्ष (मंगशर) महीने की **मंगरून** तथा फाल्गुन महीने की **फगरून**। चूंकि बकरी की ऊन भेड़ की ऊन से बिल्कुल भिन्न होती है, वह मोटी और खुरदुरी होती है, इसलिए उसे ऊन ही नहीं कहा जाता, बल्कि उसे **जौटा**<सं० जटा कहते हैं। एक अन्य उदाहरण लीजिए : भेड़-बकरी की खाल को कई काम में लाया जाता है। खाल को कुलुई में **खाल** ही कहते हैं। जब इसे साफ करके हरिजन लोग पानी आदि लाने या नदी पार करने के लिए वायु डालकर प्रयोग में लाने के योग्य बनाते हैं तो उसे **खौल** कहते है। बकरे आदि की खाल की मंडाई करके जब उसे आटा लाने या रखने के योग्य बनाया जाता है तो उसे **खलड़ी** या **खलड़ा** कहते हैं। बेकार पड़ी खाल को **खलिपड़ा** कहा जाता है, और खाल उतारने की क्रिया को **खलेड़ना** कहते हैं। इसी तरह कोई भी गोल वस्तु गोली कही जा सकती है, किन्तु विभिन्न गोल वस्तुओं के अर्थ-भेद के लिए भिन्न शब्द-रूप बने हैं :—

गोली = दवाई आदि की गोली।
गोली = गोल चेहरे वाली स्त्री या महल में रहने वाली स्त्री।
गूली = मक्की के भुट्टे से दाने उतारने के बाद अन्दर की गोल शकल की वस्तु जो जलाने के काम आती है।
गूली = गुदा-द्वार जो गोलाकार का होता है।
गेली = गोल आकार लकड़ी का ठेला या वृक्ष के तने के गोल लम्बे ठेले।
गौली = गिल्टी, विशेषत: बग़ल में हुई गिल्टी जो दर्द करती है।
गौली = जो घिर-फिरकर वही बात करे।
गौंह्‌ली = गोल खाइयाँ।

इस तरह के अर्थ-संकोच के कुलुई में अनेक उदाहरण मिलते है। संस्कृत प्रस्तर

से कुलुई शब्द **पाथर** बना है। छोटे-छोटे पत्थर जो दीवार तैयार करते हुए चिकनाई के बीच डाले जाते हैं **बढ़ाथर** कहलाते हैं। चूल्हे में आग को पीछे जाने से रोकने के लिए खड़े किए पत्थर को **जलाथर** कहा जाता है। भारी से पत्थर को **जोन** कहते हैं; और बहुत बड़े पत्थर को **टोल्ह** (हिंदी टीला) कहा जाता है। पतले परन्तु चौड़े पत्थर को **पौट** सं० पट्ट कहते हैं जो स्लेट के रूप में छत पर लगाए जाते हैं। परन्तु यदि पौट मोटा हो और छत पर लगाने के योग्य न हो और खल्यान में लगाया जाए तो **खलौठ** कहते हैं। हसी तरह सं० गूथ से कुलुई शब्द **गुह** बना है और इसी से **दंदगुह** (दांत की मैल), **कनगुह** (कान की मैल) आदि शब्द बने हैं।

इसी क्रम में अर्थ-संकोच के उत्तम उदाहरण उन शब्दों में मिलते हैं जहाँ अनेक अर्थ-रूप एक ही शब्द से उद्भूत प्रतीत होते हैं। एक ही शब्द के आधार पर उससे सम्बन्धित अन्य अर्थाश्रयों को अभिव्यक्त करने के लिए दूसरे शब्दों का निर्माण हो जाता है, जिन में विशिष्ट अर्थों का समावेश रहता है। डॉ० नरेंद्र नाथ उक्खल ने सिराजी पहाड़ी से सम्बन्धित ऐसे शब्दों के सुन्दर उदाहरण दिए हैं।[1] एक ही शब्द-स्रोत से उससे सम्बन्धित विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए नये शब्द-निर्माण अर्थ-विशिष्टता के सुन्दर उदाहरण हैं। संस्कृत में 'चूड' का अर्थ 'सिर के बीच में बालों का गुच्छा' अर्थात् चोटी है। इसे कुलुई में **चोढ़** कहते हैं। अब, कुलुई में सिर के बालों को अन्य बालों से भिन्न माना गया है। इसलिए सिर के बालों को '**चोढ़ा**' कहते हैं जो स्पष्टतः सं० चूड से प्रसूत है। और, जब स्त्री सिर के बालों को संवार कर सिर पर स्तूप सा बना लेती है तो उस स्तूप को '**चूंढा**' कहा जाता है। कृत्रिम बालों को या बालों के बाँधने के लिए बने ऊन के जूड़े को '**जूटू**' कहते हैं। इस प्रकार एक संस्कृत 'चूड' शब्द से चोढ़, चोढ़ा, चूंढा, जूटू विभिन्न शब्द अर्थ- संकोच के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस तरह के कुछ और उदाहरण देखे बनते हैं :—

(i) संस्कृत 'लवण' से सम्बन्धित कुलुई के रूप-भेदों की विभिन्नता—

लूण सं० लवण, हिंदी नमक।
लूणा सं० लवणित, हि० नमकीन।
औलणा सं० अलवणित, जिस में नमक कम हो।
नलौट सं० लवण-पट्ट, जिस पत्थरपर भेड़-बकरियों को नमक दिया जाता है।
नलोशू सं० लवण-काष्ठ, काठ का बर्तन जिस में नमक रखा जाता है—नलोशू अर्थात् लूणा रा कोशू।
लुणटी नमक की छोटी डली।
कठूण 'काठी लूण', काठा नमक, काला नमक।
नलौशिणा नमक खाने की इच्छा होना।

(ii) संस्कृत नासिका से—

नाक सं० नासिका, हि० नाक।
नकसीर सं० नासिका-सिरा हि० नक्सीर।

1. भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश द्वारा प्रकाशित 'शोध-पत्रावली भाग 3, पृ० 3-8.

नाथण नक्सीर । यदि नाक से लगातार खून बहे और बंद न हो तो कुलुई में नकसीर कहते हैं । यदि [नाक में चोट आदि लगने से खून निकले तो नाथण है ।

नकशीर सं० नासिका-शिर, नासाद्वार ।

नकचूली सं० नासाग्र, नाक की नोक ।

नकचूभी डुबकी ।

बलाक नाक का एक आभूषण ।

नकटा नाक-कटा, बेशर्म ।

नौकड़ना नाक से ध्वनि निकालते हुए किसी के पीछे लगना ।

(iii) संस्कृत 'गौ' से उद्भूत अर्थ-रूप—

गाई सं० गौ, गाय ।

गोरू सं० गोरूप, हिंदी 'डंगरे' ।

गँआर सं० गौ+आकार, गँवार ।

गुआला सं० गौपालक, गवाला ।

गोशटू सं० गौ+विष्ठा, सूखा गोबर जो जलाने के काम में लाया जाता है ।

गोंत्र सं० गौ+मूत्र, गाय का मूत्र ।

गोंच सं० गौमूत्र । जब गाय का मूत्र पवित्रता के काम में लाया जाए तो कुलुई में गोंत्र कहते हैं और साधारण प्रयोग में गोंच कहा जाता है ।

गोह गौ की शक्ल का एक जानवर ।

गोहर सं० गौ+हर, जहाँ से गाय-बैल ले जाए जाते हैं अर्थात् रास्ता, मार्ग ।

गाबड़ सं० गौ+वाडब, गंवार ।

खुःड़ सं० गौ+हुड्, जहाँ गाय बैल इकट्ठे किए जाते हैं । गौओं का कमरा ।

खुआड़ा 'खुःड़' से खुआड़ा, जहाँ भेड़ बकरियों को बंद करके रखा जाता है ।

गाहण सं० गौ+हन् ('हन्' जाने के अर्थ में), गौओं का नदी पार करके जाना । अब यह शब्द गौओं के अलावा सभी के नदी पार करने की क्रिया का द्योतक है ।

घाण सं० गौ+अन्न, गौओं को नियत समय पर दिया जाने वाला भोजन अर्थात् घास ।

(iv) संस्कृत 'गूथ' से सम्बन्धित शब्द—

गुह सं० गूथ, टट्टी ।

गुहातरू सं० गूथ+वस्त्र, छोटा कपड़ा जिससे बच्चे की टट्टी साफ की जाती है ।

गुहातर सं० गूथ+स्थात्र, टट्टी करने के लिए बनाया गढ़ा ।

गुहासड़ सं० गूथ+वाटक, गाँव के बाहर ऐसा खुला स्थान जहाँ टट्टी की जाती है ।

गुहतलू जो घड़ी-घड़ी टट्टी करता है ।

गड़िन गूथ+गन्ध, टट्टी की बदबू ।

कनगुह सं० कर्ण+ गूथ, कान की मैल।

दंदगुह सं० दन्त+गूथ, दाँत की मैल।

(v) इसी प्रकार समास द्वारा अर्थ-संकोच के उदाहरण पाणी 'पानी' शब्द में देखे जा सकते हैं :—

पाणी पानी।

खराणी खारा+पानी, नमकीन पानी।

नकाणी 'नाक का पानी' यदि श्लेष्मा गाढ़ा न हो तब नकाणी कहा जाता है।

चड़ाणी 'चोड़ा रा पाणी' छप्पर से गिरता बारिश का पानी।

कढ़ाणी 'काढ़ा रा पाणी' जूशाँदा का पानी।

शमाणी 'शीमा शमाणी' शलेष्मा के साथ पानी जो जुकाम के कारण निकलता है।

वास्तव में ज्यों-ज्यों भाषा समृद्ध होती जाती है, त्यों-त्यों कई प्रकार से अर्थ-संकोच हो जाता है। उपसर्गों का प्रयोग इस दिशा में आम प्रचलित प्रवृति है। उपसर्गों के प्रयोग से अर्थ-विभिन्नता लाई जाती है, जैसे—बौत 'मार्ग' और कबौत 'बुरा मार्ग', धोण 'धन' और कधोण 'बुरा धन', शोभ 'सुन्दरता' और कशोभ 'असुन्दरता' आदि। इसी तरह प्रत्ययों के प्रायोग द्वारा भी अर्थ-संकोच होता है, उदाहरणार्थ—राग (संगीत), रागी (संगीतकार); ज़ोड़ (जोड़), ज़ोड़ी (भेड़ों के लिए पत्तियाँ); माल (सामान), माली (बाग का रखवाला); पेट, पेटी; भोज़ (मिठाई), भोज़ण (देवते का प्रसाद); पौज़ (शहतीर), पौज़ण (पैदावार) आदि।

(2) अर्थ-विस्तार

अर्थ-परिवर्तन की दूसरी दिशा अर्थ-विस्तार है। जब किसी शब्द का अर्थ सीमित क्षेत्र से निकलकर विस्तृत भाव को प्रकट करे तो वह अर्थ-विस्तार का द्योतक है। कुलुई में अर्थ-विस्तार के बड़े उत्कृष्ट और व्यापक रूप मिलते हैं। उदाहरणार्थ, नारद एक प्रसिद्ध वैदिक ऋषि हुए हैं। इस दृष्टि से नारद बड़े विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। परन्तु कुलुई समाज में इस रूप में नारद का प्रयोग बड़ा सीमित है। नारद ऋषि का एक गुण यह था कि वे बड़े कलह-प्रेमी और झगड़ा लगाने में बड़े चतुर थे। इस गुण को लेकर कुलुई समाज में नारद शब्द आम प्रयुक्त होता है, और हर किसी को नारद कहा जाता हैं जो हेरा-फेरी, चुगली, और झगड़ा पैदा करता हो। चाहे पुरुष हो, स्त्री हो, बच्चा हो, बूढ़ा हो इस चरित्र के मालिक को नारद कहा जाता हैं। यहाँ नारद शब्द ऋषि विशेष के सीमित अर्थ से निकल कर कलह-प्रेमी, हेरा-फेरी, झगड़ालू आदि आमभाव का द्योतक बन गया है। इसी तरह आरम्भ में 'नरेल' केवल वह हुक्का होता था जो नारयल का बना होता था। परन्तु, आज कुलुई समाज में हुक्का शब्द तो प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि हर प्रकार के हुक्के को नरेल कहा जाता है, चाहे वह नारयल का बना है, काठ का बना है, मिट्टी का बना है या किसी प्रकार की धातु का बना हुआ हो। स्पष्टतः नरेल शब्द सीमित अर्थ से निकल कर विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी तरह 'शूल' का सम्बन्ध सं०

शूल शब्द से है जिसका अर्थ है तीक्ष्ण, शंकु, तेज़ कांटा, कील आदि। दर्द के अर्थ में शूल का अर्थ है केवल ऐसी पेट दर्द जिसमें तेज कील के चुभने की तरह दर्द हो। परन्तु आज कुलुई में शूल हर प्रकार की पेट-दर्द है, चाहे वह बदहज़मी से हो, सर्दी के कारण हो, गुर्दे की बीमारी हो या कुछ और। पेट में दर्द होनी चाहिए और वह शूल है। पुनश्च, इन्द्र और रुद्र के अश्व को बभ्रु कहते हैं। बभ्रु शिव का भी नाम है। परन्तु आज कुलुई समाज में देवताओं के पास आम शब्द हो गया है और इसे 'लाग-जोग होणा', 'बागर बौहणा' आदि भाव के साथ प्रयुक्त किया जाता है, जब यह कहा जाता है कि "बभरू बौहण पौऊ" (बभ्रु वाहन पड़ गया)। गोहर शब्द का सम्बन्ध 'गौ+हर' से है, अर्थात् जहाँ से गौओं को ले जाया जाता है। परन्तु आज कुलुई समाज में गोहर का अर्थ रास्ता है चाहे वहाँ से गायें जाती हैं या मनुष्य। उनके लिए बड़ी सड़क भी गोहर ही है।

भाषा में अर्थ-विकास के उदाहरण या गुण अधिक नहीं मिलते, क्योंकि ज्यों-ज्यों समाज सभ्यता और विकास के क्षेत्र में आगे बढ़ता जाता है शब्दों का अर्थ-विभेद उतना ही अधिक ज़रूरी हो जाता है, और सूक्ष्म भाव और वस्तु के लिए भी भिन्न अर्थाश्रय आवश्यक हो जाता है। इस तरह से अर्थ-संकोच का ही भाषा में अधिक प्रभुत्व होता है। यही कारण है कि टकर महोदय जैसे भाषा-वैज्ञानिक भाषा में अर्थ-विस्तार मानते ही नहीं। अर्थ-विस्तार को वे अर्थादेश ही मानते हैं। परन्तु वास्तव में अर्थ-विस्तार और अर्थादेश विभिन्न दिशाएँ हैं और कुलुई में अर्थ-विस्तार के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। जब तक किसी बोली में साहित्यिक या लिखित रूप सामने नहीं आता तब तक शब्दों का अर्थ प्रायः व्यापक ही रहता है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए उनका अर्थ सीमित होता जाता है। आज 'दूध' शब्द कितने ही अर्थों को प्रकट करता है—गाय का दूध, भैंस का दूध, बकरी का दूध, भेड़ का दूध तो दूध है ही। फागड़े वृक्ष का रस भी 'दूध' कहा जाता है। दूधली पौधे का रस भी 'दूध', माहुरा विष का रस भी दूध और छाउंली पौधे का पानी भी दूध ही कहलाता है। इसी तरह 'चोढ़' शब्द को लिया जा सकता है। यह बड़े व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। कुलुई में मनाल पक्षी की सुन्दर कलगी 'मनाला री चोढ़' है, कलेशा पक्षी की भी 'चोढ़', मुर्गे की भी 'चोढ़', सिर पर बालों की चोटी भी 'चोढ़', हुतहुता री 'चोढ़' आदि कितनी ही चोटियों और कलगियों के लिए 'चोढ़' कहा जाता है, हालाँकि ये सभी एक-से-एक भिन्न हैं।

अर्थ-विस्तार का एक और मनोरंजक उदाहरण उन शब्दों में मिलता है जहाँ सामान्य अर्थाश्रयों के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त होता है। ऐसे उदाहरणों में सादृश्यता का बहुत बड़ा हाथ है। पूला शब्द संस्कृत 'पूल' से सम्बन्धित है। सं० √पूल् का अर्थ इकट्ठा करना, एकत्रित करना है। इसी से सं० 'पूल' का अर्थ गुच्छा, बंडल, गट्ठा, पूलिका है। कुलुई में 'घाहा-रा पूला', 'धाना-रा पूला', 'गेहूं-रा पूला' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु कुलुई में इसका दूसरा अर्थ पैर में लगाई जाने वाली घास की जूती भी है। चूंकि यह धान के पराली घास से बनती है और इसमें 'एकत्र' की भावना भी है, इसलिए इस जूती को भी 'पूला' कहा गया है। कुलुई में 'सोना' धातु के लिए 'सूना' कहते हैं। और 'सूना' शब्द बोसा, चुम्बन, चूमना के लिए भी प्रयुक्त होता है। चूंकि सोना (धातु) बड़ा

प्यारा, महंगा, अमूल्य होता है और चुम्बन भी ऐसा ही प्यारा, प्रिय, आनन्दमय होता है इसलिए सूना (धातु) की समरूपता से बोसा को कुलुई में 'सूना' कहना अत्यंत उचित है और अर्थ-विस्तार का सुन्दर उदाहरण है । इसी तरह, कुलुई में ककड़ी, खीरा को 'कौकड़ी√सं० 'कर्कटिका कहते हैं । हृदय की शकल भी लोगों को कर्कटी की तरह दिखाई दी, अतः हृदय को भी "कौकड़ी" ही कह दिया और यही शब्द प्रचलित हो गया । कुलुई में मुर्गी के बच्चे को कुकड़ू < सं० कुक्कुट कहते हैं । इसी की समानता से मकई के भुट्टे को भी कुकड़ू कहा जाता है । इस तरह के कई उदाहरण देखे जा सकते हैं, जैसे—**ठारा** 'अठारह' तथा 'घुटने से टखने तक टांग का अगला भाग'; **भेड़** 'भेड़-बकरी' तथा 'खोलना' 'उधेड़ना'; **जाल** 'जाल' और 'जलाना'; **चाकर** 'चकोर' और 'नौकर-चाकर'; **सो** 'सोना' तथा 'वह'; **घोड़ी** 'घोड़ा से स्त्रीलिंग' और घराट के ऊपर लकड़ी की कोठड़ी सी जिसमें दाने डाल दिए जाते है, ताकि एक-एक करके गिरते रहें'; **काठी** 'ज़ीन-काठी', 'घराट के ऊपर घोड़ी से नीचे चौड़ी-सी लकड़ी की तख्ती' और 'ढोल बजाने की काठी'; **कोठी** 'बड़ा मकान', 'गाँवों का समूह', तथा 'कुल्हाड़े का समतल भाग' आदि ।

(3) अर्थादेश

अर्थ-परिवर्तन की मूल दिशा अर्थादेश माना जाना चाहिए । अर्थ-विस्तार में शब्द के अर्थ का विकास होता है और अर्थ-संकोच में शब्दों के अर्थ सीमित और विशिष्ट हो जाते हैं । परन्तु, अर्थादेश में शब्द का अर्थ मूल भाव से बदल कर नया रूप लेता है । वास्तव में वस्तु, स्थान या भाव का जब कोई नाम दिया जाता है, तो उस नाम में उस वस्तु, स्थान या भाव विशेष के कई गुणों और विशेषताओं में से कोई विशिष्ट गुण अथवा विशेषता ही अग्रसर होती है । दूसरे गुण छुप जाते हैं । धीरे-धीरे उपेक्षित गुण अधिक परिलक्षित हो जाते हैं, और पूर्व अर्थ किसी अन्य वस्तु के विशिष्ट गुण से अधिक सम्बन्धित हो जाता है और इस तरह शब्दार्थ बदलते रहते हैं । उदाहरणार्थ, 'लाक्षा' का मूल अर्थ एक कीट था जो लाल पदार्थ पैदा करता था । धीरे-धीरे स्वयं कीट भाव-विचार से लुप्त हो गया और उस द्वारा निर्मित पदार्थ अधिक अग्रसर हो गया और आज लाख < सं० लाक्षा का अर्थ लाख, मोम हो गया ।

संस्कृत में 'वाम' का अर्थ 'स्त्री के स्तन' भी है । वायां तो इस का अर्थ है ही । बायां के अर्थ में कुलुई शब्द 'बाउआं' है । परन्तु, बाम शब्द स्त्री के स्तनों (छाती) के ऊपर दोनों तरफ लटके पट्टू के किनारों के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे—बाम टिमणा । यहां 'वाम' का अर्थ 'स्त्री-स्तन' से बदल कर 'स्तनों के ऊपर लटके पट्टू के किनारे' हो गया है । संस्कृत में 'चेटक' का अर्थ 'दास, नौकर, उपपति या यार' है । कुलुई में सं० चेटक से 'चे़टू' बना है और चे़टू का अर्थ डाइन-स्त्री 'डाकिनी' का ऐसा अदृष्ट नौकर अथवा यार है जिसे वह मंत्र द्वारा दूसरों का नुकसान करने के लिए भेजती है । संस्कृत 'विमान' की उत्पत्ति 'वि+मा' से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है विशेष रूप से मापना, पार कर जाना, अबूर करना । इसलिए 'विमान' से अभिप्राय देवताओं का रथ था जो अपने आप चलता था और सवार को वायु में एक जगह से दूसरी जगह ले जाता था । पौराणिक

कथाओं में इसका सम्बन्ध पूरे भवन से भी जोड़ा गया है जो पूरा-का-पूरा वायु में उड़ कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचता था। आजकल विमान का रूप वायुयान या हवाई जहाज़ है। परन्तु आदिकाल के पौराणिक समय से लेकर वायुयान के आविष्कार तक मानव के मस्तिष्क से विमान का रूप लुप्त हो चुका था; हां, कल्पना बनी रही। और चूंकि इसका सम्बन्ध वायु में उड़ने से है, अतः कुलुई समाज ने अधिक विश्वसनीय धारणा को ले कर आन्धी या प्रखरवायु को बियाना < **बियाना** < सं० विमान कह दिया — बागर-बियाने बूटे रडाए 'आन्धी ने वृक्ष उड़ा दिए'।

वास्तव में, कुछ शब्दों के प्रधान अर्थ के साथ-साथ गौण अर्थ भी रहता है। समय की गति के साथ धीरे-धीरे प्रधान अर्थ का ह्रास होने लगता है और गौण अर्थ प्रधानता ग्रहण करता है जब अर्थादेश हो जाता है। उपर्युक्त 'विमान' में यह बात स्पष्ट है। विमान में भवन या रथ की अवधारणा समाप्त हुई परन्तु उड़ान के गौण अर्थ ने 'बियाना' में आन्धी का रूप ले लिया। संस्कृत में 'तालु' का अर्थ मुंह का ऊपर का भाग है। इसे कुलुई में 'मेइड़' कहते हैं। परन्तु कुलुई में 'तालू' का अर्थ सिर का बाहर का भाग है। इसी तरह संस्कृत में 'क्षण' का मुख्य अर्थ पल या घड़ी है। इस अर्थ में कुलुई का समास-युक्त शब्द 'घड़ी-पल' प्रचलित है, जैसे—घड़ो-पला-न पुहता 'एक क्षण में पहुँच गया'। क्षण का अर्थ संस्कृत में अवकाश या फ़ुरसत भी रहा है, परन्तु यह इस का गौण अर्थ था। कुलुई में क्षण से **छोण** शब्द केवल संस्कृत के गौण अर्थ 'फ़ुरसत' के रूप में ही प्रयुक्त होता है, पल या घड़ी के अर्थ में नहीं। त्यौहार का अर्थ पर्व है। कुलुई में पर्व के लिए 'साजा' कहते हैं। परन्तु साजा के दिन प्रत्येक घर से जो अनाज और भोजन भृत्यवर्ग को दिया जाता है उसे 'तिहार' कहते हैं। यहां तिहार का मूल अर्थ त्यौहार से बदल कर पर्व में दियें जाने वाले भोजन की नियत मात्रा रह गया है। अर्थादेश कई बार दो समान विचारों में से एक विचार के लुप्त होने से प्रायः हो जाता है। सं० वत्स का अर्थ बच्चा था और बछड़ा भी। आज कुलुई में वत्स से विकसित शब्द 'बौछू' केवल बछड़े के लिए सीमित रह गया है। संस्कृत शब्द 'मौक' का सम्बन्ध 'मूक' से है, जिस का अर्थ गूंगा है जो कुछ नहीं बोल सकता। सम्बद्धता के कारण उसको भी मौका कहा जाता रहा है, जो बिलकुल गूंगा तो नहीं था, थथला कर बोलता हो। आज गूंगे को तो कुलुई में 'नांढा' कहते हैं और मौका शब्द केवल उसके लिए नियत रह गया है जो तोतला हो, हकलाहट कर बोलता हो।

अर्थादेश की अर्थापकर्ष और अर्थोत्कर्ष दो दिशाएं हैं। कई बार मूल अर्थ का विकार हो जाता है और कई बार मूल अर्थ उत्कृष्ट भाव ग्रहण करता है। पीछे हम 'नारद' शब्द के प्रयोग के बारे में लिख चुके हैं। कहां नारद महर्षि और कहां आजकल नारद केवल उसे समझा और कहा जाता है जो झगड़ा लगाने वाला, चुगलखोर और षड्यंत्र रचाने वाला हो। इसी तरह संस्कृत में 'नाथ' का अर्थ रक्षक, स्वामी, मालिक है। बाद में नाथ पंथी के अनुयायी भी नाथ कहलाए। परन्तु, आज नाथ केवल एक मांगने वाली जाति समझी जाती है और कुलुई में जो मांगता फिरता है उसे कोसते हुए 'नाथ जैहा'

(नाथ जैसा) कहा जाता है। 'पूजा' शब्द कुलुई में भी उसी अर्थ और सम्मान में प्रयुक्त होता है जिसमें सस्कृत में होता है। परन्तु संस्कृत में जहां 'पूज' धातु पूजना के अर्थ में प्रयुक्त होती है वहां कुलुई में 'पूज़' बीमार का इलाज करने की ऐसी घृणित विधि है जिसमें पशु बलि अवश्य दी जाती है। इसी तरह 'निराकार' शब्द 'साकार' का विपरीतार्थक है और प्राय: भगवान के स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। परन्तु कुलुई में 'हे निरिकारा' तभी बोलते है, जब गाली देनी हो या किसी का तिरस्कार करना हो। इस तरह यह अर्थापकर्ष का एक उदाहरण है।

अध्याय—9

शब्द-रचना

'अर्थ-तत्त्व' के अधीन अर्थ-विभिन्नता पर विचार करते हुए कुलुई में शब्द-व्युत्पत्ति के बारे में उदाहरण देखे जा चुके हैं। यहां शब्द-निर्माण के सम्बन्ध में तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करना उपयुक्त रहेगा :—

(i) उपसर्ग : शब्द विशेष के आरम्भ में अक्षर या अक्षरों के संयोग से ;
(ii) प्रत्यय : शब्द के अन्त में अक्षर या अक्षरों के मेल से ; और
(iii) समास : दो स्वतन्त्र शब्दों के मेल से ।

(i) उपसर्ग

कुलुई में कुछ संस्कृत तथा कुछ विदेशी उपसर्गों का प्रचलन है, जिनका नीचे उल्लेख किया जाता है :—

अ : संस्कृत का आदि 'अ' उपसर्ग कुलुई में मूल रूप में या कहीं-कहीं ध्वनि परिवर्तन के कारण 'औ' में बदलता है, जैसे—औलणा सं० अ+लवणित, जिसमें नमक कम हो, अमर, अजान < अज्ञान ।

अन : ध्वनि विकार के कारण 'अन' प्रायः 'अण' में बदलता है या केवल 'न' रह जाता है—अणज़ाण या नज़ाण 'अनजान', अणपौढ़ या नपौढ़ 'अनपढ़', अणबण 'अनबन', अणशुणी या नशूणी 'अनसुनी' ।

अध : कुलुई में 'औध' हो जाता है—औधमुआं 'अधमरा', औधपौका 'अधपक्का', औधकाचा 'अधकच्चा' ।

अव : अव > औ—औगण 'अवगुण', औतार 'अवतार', ओल्हा 'अवलक्ष' ।

क, कु ; कबौत 'बुरी बौत अर्थात् रास्ता', कज़ात 'कुजात', कज़ीण 'कुजीवन', कदशा 'कुदशा', कधोण 'बुरा धन', (प्रायः पशुओं के संदर्भ में') कमुँहा 'बुरे मुँह वाला', कबेला 'प्रतिकूल समय' ।

दुर् : 'दुर्' कभी-कभी 'दर' में बदल जाता है—दुर्बुध या दर्बुध 'बुरी बुद्धि', दुबला 'दुर्बल', दरगाही 'बुरे रास्ते पर चलने वाला', दरशंट

'बुरे दर्शन' ।

निर् : कभी 'न' रह जाता है, जैसे—निर्गुणा या नगूणा 'निर्गुण', निरिकार 'निराकार', नराश 'निराश', < नराठ 'निराष्ठ, 'अलग-थलग' ।

नि : नडौरा 'निडर', नकम्मा 'निकम्मा', नरोग 'निरोग', निधड़क 'बेधड़क', निउंदा 'निमंत्रण', नभागा 'अभागा', निहाल 'निभाल' ।

सु : सधार (ना) 'सुधार', सखाला 'सुकाल', सजाइण 'सुजाया' ।

प्र : प्रकटा (प्रकटी बेशीरी) 'प्रकट', प्रौगड़ा 'प्रकटन', पियाशा 'प्रकाश', प्रचार 'प्रचार', पौजणा 'प्रजन', प्रताप, प्रतख 'प्रत्यक्ष' (जैसे—देउएँ गुण धीना प्रतख लाऊ), प्रभु, प्रशाद 'प्रसाद', प्राच्छ 'प्रायश्चित' ।

पर : पराहुणा (पाहुणा) = पर + आगतः, परेखणा 'पर + ईक्षण', परेउ-गण = पर + अवगुण, 'निरीक्षण' ।

कम : कमजोर, कमचोर, कमकीमत ।

खुश : खुशहाल, खुशकिस्मत, खशामद 'खुशामद', खुशदिल ।

ना : नराज़ 'नाराज़', नलाइक 'नालायक', नपेश 'न गुज़रने वाला', नकारा 'नाकारा', नबालग 'नाबालिग' ।

गैर : गेइरहाज़र 'गैरहाज़िर', गेइरबाद 'गैरआबाद', गेइरसरकारी ।

बद : बदनाम, बदचलन, बदकार, बदबू ।

बे : बेइमान, बेकार, बेसमझ, बेशमार, बेदखल, बेबाक, बेबस ।

ला : लाबारस, लाचार, लाजवाब ।

हर : हर-रोज़, हरसाल, हरबार, हरघड़ी ।

(ii) प्रत्यय

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है प्रत्यय वे अक्षर हैं जो शब्दों के अन्त में जोड़े जाते हैं । ये दो प्रकार के होते हैं—(क) **'कृत्'** प्रत्यय—वे हैं जो क्रिया की धातु के अन्त में जोड़े जाते हैं । इस तरह जो नया शब्द बनता है उसे **कृदन्त** कहते हैं; (ख) **तद्धित** प्रत्यय—क्रिया की धातुओं के सिवाय अन्य शब्दों के साथ जोड़े जाते हैं । यहां कुलुई के दोनों प्रकार के प्रत्ययों का उल्लेख किया जाता है :—

+अ : यह क्रिया की धातु में जुड़कर उसे संज्ञा बनाता है, जैसे—कीलणा क्रिया की धातु कील् + अ = कील 'खूंटी' का अर्थ देता है । इसी तरह खेलणा से 'खेल', चोरना से 'चोर', घाणना से घाण, लागणा से 'लाग' (सूरा-न बड़ी लाग सा) । यह संस्कृत प्रत्यय है ।

+अक्कड़ : यह कृत् प्रत्यय है और कर्तृवाचक का भाव देता है, यथा √पी से पीना 'पिअक्कड़', √भूल् से भूलना 'भूलक्कड़', √घूम् से घूमणा 'घुमक्कड़' आदि । इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत अक्क + ट > अक्कड़ से हुई है ।

+**अत्** : कृत् प्रत्यय है और प्राय: भाववाचक संज्ञा बनाता है, जैसे बच् धातु से 'बचत', लाग् धातु से 'लागत', खप् धातु से 'खपत'। इसकी व्युत्पत्ति सं० अन्त>अत मानी जा सकती है।

+**अती** : कृत् प्रत्यय है और इससे भी भाववाचक संज्ञा बनती है, यथा बुणना क्रिया की बुण् धातु से 'बुणती', गिणना क्रिया की गिण् धातु से 'गिणती', बस् से 'बसती', भर से 'भरती' आदि। यह भी सं० अन्त+इ >अती द्वारा व्युत्पन्न हुआ है।

+**अण्** : इस कृत् प्रत्यय से भी भाववाचक संज्ञा बनती है, जैसे—पिश् (पीसना) से 'पिशण', निंड् (निंडाई करना) से 'निंडण', बाह् (बोना) से 'बाहण', लेस् (लेप करना) से लेसण आदि। यह संस्कृत अन् से उत्पन्न हुआ है।

+**अणी, णी** : यह स्त्रीलिंग कृत् प्रत्यय है और 'अण' का ही विस्तार रूप है। सोठणा (सोचना) क्रिया की सोठ् धातु से 'सोठणी', कील् से 'कीलणी', कोमणा (कांपना) क्रिया की कोम् धातु से 'कोमणी'।

+**आ** : इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'आक' से सिद्ध होती है। यह कई भावों को अभिव्यक्त करता है। कृत् प्रत्यय के रूप में यह कर्तृवाचक का द्योतक है, जैसे—धीज़णा क्रिया की धीज़् धातु से 'धीज़ा' (निश्चय), बीज् से 'बेज़ा' (बीज)। करणवाचक को भी अभिव्यक्त करता है—झूलणा से 'झूला', घेरिना से 'घेरा'। इसी तरह गुरुत्व के अर्थ में शोठी से शोठा, लोटकी से लोटका, मौगरू से मौगरा। कई बार लघुत्व भी दिखाता है—ढबुआ, नाला, निश्टा आदि।

+**आई** : कृत् प्रत्यय के रूप में स्त्रीलिंग भाववाचक संज्ञा बनाता है, यथा—बुणना से 'बणाई', सीणा से 'सिआई', लिखणा से 'लखाई', चढ़ना से 'चढ़ाई', धोणा से 'धुआई' आदि। यह तद्धित प्रत्यय के रूप में भी प्रचलित है—साफ से 'सफाई', मिष्ट (मीठा) से मठाई। इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'आपिका' से सिद्ध होती है।

+**आउण** : यह भी कृत् प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होता है, और क्रिया के प्राय: प्रेरणार्थक रूप में जुड़ता है, यथा—खेलणा के प्रेरणार्थक रूप खलयाणा से 'खलयाउण', पीशणा—पशाणा से 'पशाउणा', बणना—बणाणा से 'बणाउण', पलाणा से 'पलाउण' आदि। इसकी उत्पत्ति संस्कृत आप+उक से हुई है।

+**आऊ** : इस कृत् प्रत्यय से योग्यता लक्षित होती है, जैसे—बिकणा से 'बकाऊ' माल, चलणा से 'चलाऊ' माल आदि।

+**आक** : इस प्रत्यय से संज्ञापद बनते हैं, जैसे—झाड़णा से 'झड़ाक' (गिराने वाला), 'लड़ना' से 'लड़ाक' (लड़ाई करने वाला), शुणना से 'सणाक' (पहल करने वाला, जैसे आपू सणाक)। इसी तरह करडा

से कड़ाक (मुश्किल), खड़-खड़ से खड़ाक आदि। इसकी उत्पत्ति प्राकृत आक्क से निश्चित होती है।

+आन् : यह कृत् प्रत्यय है जो प्रायः प्रेरणार्थक क्रिया के साथ लगकर भाववाचक संज्ञा बनाता है, जैसे—ढोणा से ढुआणा प्रेरणार्थक क्रिया और 'ढुआन' भाववाचक संज्ञा। इसी तरह चीर-ना से चिराना और 'चरान', गिर-ना से गिराना और 'गरान' आदि। यह ध्वनिविकार के कारण 'आण' में भी बदल जाता है, यथा—नहाण(निन्हायणा से), मलाण (मिलाना से), बिछान या बछियाण (बिछाना से) आदि। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार सिद्ध होती है—सं० प्रेरणार्थक आपन > आवण > आण।

+आठा : यह तद्धित प्रत्यय है, और संस्कृत 'काष्ठ' से इसकी उत्पत्ति हुई है। यह संज्ञाओं में जुड़कर पुनः संज्ञा या विशेषण शब्द बनाता है, जैसे 'छलीआठा' (छली+काष्ठ) मक्की का घास, 'कदराठा' (कोदरा+काष्ठ) कोदे अन्न का घास, 'सलिआठा' (सिउल+काष्ठ) सिउल या सरयारा का घास, चणिआठा (चिणी+काष्ठ) चिणी अन्न का घास आदि।

+आर : यह प्रत्यय कुलुई में हिन्दी से आया है जो सं० कार से प्रसूत हुआ है—चमार (चर्मकार), सुनार (स्वर्णकार), लुहार (लौहकार), कम्हार (कुम्भकार), शणिआर (जहां शोइण घास बहुत हो), खणिआर (जहां खनने, खोदने का काम बहुत हो) आदि।

+आल् : पहाड़ी भाषा का यह एक प्रसिद्ध प्रत्यय है, जो स्थान-वाची या देशवाची है। कुलुई में भी इसी भाव में प्रयुक्त होता है, जैसे—स्पिति का रहने वाला 'पतिआल्', जम्मू का 'जमुआल्' (जमवाल), लग का 'लगाल्', रूपी का 'रपिआल्', सारी का 'सरिआल्', मण्डी का 'मण्डिआल्', चम्बा का 'चम्बिआल' आदि (श्रुति के कारण ये शब्द प्रायः रपियाल, मण्डियाल, चम्बयाल आदि हो जाते हैं)। कुलुई में विभिन्न गाँव वालों को इसी प्रत्यय से अभिव्यक्त किया जाता है, जैसे रपड़ियाल, जण्डियाल, मड़घियाल, खणियाल आदि। इसकी उत्पत्ति सं० आलय से सिद्ध होती है।

+आरी : यह प्रत्यय भी हिन्दी से आया है, और संस्कृत 'कारिक' से सम्बन्धित है—पुजारी, पणिहारी, खणिआरी (खोदने वाला)।

+ आव : यह प्रायः आऊ में बदलता है, जैसे—पलाऊ (पी, पीणा), शणाऊ (स० श्रु, शुणना), पड़ाऊ (पड़ाव)।

+आवट : कुलुई में आउट में बदलता है—थकाउट (थकावट), सजाउट (सजावट), मलाउट (मिलावट), बणाउट (बनावट)।

+ आलू : यह आलड़ू में भी बदल जाता है। संयोग से विशेषण बनाता है,

जैसे—डर से डरालू या डरालड़ू (डरपोक), घर से घरालू या घरालड़ू (गृहातुर), झगड़ना से झगड़ालू, दयालू।

+आहड़ा : इस प्रत्यय से निम्नांकित शब्द सिद्ध होते हैं। यथा— चनाहड़ा (चुनाई करने वाला), बनाहड़ा या बनाहड़ी (बुनने वाला), कराहड़ा (कुल्हाड़ा)। इसकी उत्पत्ति सं० आहन् से सिद्ध होती है।

+इया : यह प्रत्यय कुलुई में पूर्वकालिक कृदन्त है—खाइया 'खा कर के', पीइया 'पी कर के', शोटिया 'फेंक करके' आदि। यह प्रत्यय स्थानवाची भी है। गाँव वालों को प्रायः इस प्रत्यय से सम्बोधित किया जाता है। जैसे—नगर गाँव का व्यक्ति 'नगरिया', बिलासपुर का 'बिलासपुरिया', जगतसुख का 'जगत-सुखिया', 'मणिकरणिया' आदि। इसकी उत्पत्ति सं० इक > प्रा० इअ > इआ > इया रूप में सिद्ध होती है।

+ ई : यह प्रत्यय कई रूप में प्रचलित है, जैसे (1) कृत् प्रत्यय के रूप में क्रिया की धातु से भाववाचक संज्ञा बनाता है—झूर-ना से 'झूरी' (प्रेम), मुन-णा से 'मुनी' (भेड़ मुनी, ऊन कटाई), चोर-ना से 'चोरी' (चोरी), पुण-ना से 'पूणी' (ऊन की गुच्छी), आदि, ग्राह-णा से 'ग्राही' (अंशदान); (2) तद्धित प्रत्यय के रूप में कर्तृवाचक गुणवाचक संज्ञा बनाता है—ढोल से 'ढोली' (ढोल बजाने वाला), रोग से 'रोगी', सुख से 'सुखी' आदि; (3) यह स्त्रीलिंग का भी प्रत्यय है, जैसे—शोहरू से 'शोहरी' (लड़की), कुकड़ से 'कुकड़ी' (मुर्गी), बराल से 'बराली' (बिल्ली), कुत्ता से 'कुत्ती'; (4) 'ई' लघुतावाची प्रत्यय भी है—बूटा से 'बूटी (छोटा वृक्ष), पाथर से 'पाथरी' (छोटा पत्थर), 'पूड़ी' (पुड़िया), 'टापरी' (कुटिया), आदि; (5) यह स्थानवाची या देशवाची भी है, जैसे पंजाब से 'पंजाबी', बंगाल से 'बंगाली', काँगड़ा का 'काँगड़ी', खराह्‌ल का खराह्‌ली, सिराज का सराजी आदि। इसकी उत्पत्ति संस्कृत इक, इका से मानी जाती है।

+इरा : यह गुणवाचक विशेषण का प्रत्यय है, जैसे घणौइरा (घना), पतलौइरा (पतला)। यह पूर्णभूतकालिक कृदन्त का भी प्रत्यय है—खाइरा, पीइरा, शोटिरा, डाहिरा आदि।

+इला : संस्कृत इलाक > इल > प्रा० इल्लआ से विभिन्न आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का 'इला' प्रत्यय व्युत्पन्न हुआ है, जिससे स्थान तथा कालवाचक विशेषण सिद्ध होते हैं। कुलुई में यह केवल 'ल' रह गया है—आगला (अगला), पिछला, उझला (ऊपर का), मंझला (मझला) आदि।

+उण, उणी : यह प्रत्यय धातु के प्रेरणार्थक रूप में जुड़कर भाववाचक संज्ञा बनाता है, यथा—मन-णा के मना-णा के प्रेरणार्थक रूप से 'मनाउणी' (मनाने की क्रिया, जैसे देऊ मनाउणी), डर-ना से डरा-ना तथा 'डराउणी', पढ़-ना से पढ़ा-ना तथा 'पढ़ाउणी' (बुझारत), कौत-णा से कता-णा तथा 'कताउणी' (ऊन कताई की उजरत) आदि। इसकी उत्पत्ति सं० आपन से हुई है।

इनका रूप 'उण' से भी समाप्त होता है—यथा उपर्युक्त क्रमशः मनाउण, डराउण, पढ़ाउण, कताउण।

+उत, उता : यह प्रत्यय विशेषण बनाता है, जैसे—पीछे से "पछौउता" (पीछे का), आगे से "घौउता" (आगे का)। इसकी उत्पत्ति सं० उक्त से इस प्रकार हुई है—उक्त > उत्त > उता।

+ उदा : कृत् प्रत्यय है, जो भूतकालिक कृदन्त बनाता है। यह विशेषण का भी प्रत्यय है, जैसा—शौड़ुदा कौदू (सड़ा हुआ कद्दू), बेचुदा बौछू (बेचा हुआ बछड़ा)। इसी तरह खाउदा, पीउदा, शोटुदा, चड़ दा आदि।

+ ऊ : यह कर्तृवाचक प्रत्यय है, जिसकी उत्पत्ति सं० उक से हुई है। तुआरू (इतवार को उत्पन्न हुआ), मंगलू (मंगलवार का), बुधू (बुधवार का), पेट्टू (बड़े पेट वाला), धनू (धन वाला), टहलू (टहलने वाला)। यह लघुता वाचक भी है, जैसे हाँडा से हांडू, कुता से कुतू, बराल से बरालू आदि।

+ एरा, एड़ा : यह भी कर्तृवाचक प्रत्यय है। तद्धित रूप में इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं—मसेरा (मासी का लड़का), मलेरा या मलेरू (मामा का लड़का), भलेरा (भूलने वाला जैसे—'भला केरिया भलेरा'), भतेरा (बहुतेरा)। कृत् प्रत्यय के रूप में यह प्रायः 'एड़ा' में बदलता है—मलेड़ा>अम्लकृत, कचेड़ा (कच्चा उफरा हुआ आटा 'खमीर')।

+क, का, कू : इस प्रत्यय से लघुतावाचक और कर्तृवाचक शब्द बनते हैं, जैसे—लोटा से लघुतावाचक शब्द 'लौटकू', पौट्टू से 'पौटकू', तोप से 'तुपक' और 'तुपकू'। कई बार यह प्रत्यय अनावश्यक भी प्रतीत होता है, जैसे 'लाटा' का अर्थ 'लंगड़ा' है और 'लाटका' भी वही अर्थ देता है। इसी तरह, 'शेट' और 'शेटका', 'शुट' और 'शुड़क' (शुट बेश या शुड़क बेश), मुण्ड और मुण्डका आदि। इसकी उत्पत्ति सं० कृत् से मानी जाती है।

+ करू : यह कृत् प्रत्यय है जिससे कर्तृवाचक शब्द बनते हैं, यथा—भाल्-णा से 'भाल्करू' (देखने वाला), चिह्ल-णा से 'चिह्लकरू' (पहचान करने वाला), जुआड़करू (उजाड़ करने वाला)। इसकी उत्पत्ति सं० कर्ता से सिद्ध होती है।

+ ची : इससे कर्तृवाचक संज्ञा बनती है, इसका सम्बन्ध तुर्की +च से है, जैसे—नगारा से 'नगारची' (नगारा बजाने वाला), दराब से दराबची, बांह से 'बाहुची'।

+ टा : इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'त' से हुई है—शणाटा, गणाटा, तणेटा, झणाट, चाटा, दाटा।

+ ड़ : इसकी उत्पत्ति संस्कृत वृत शब्द (वृ धातु) से सिद्ध होती है। वृत बाद में **वट** तथा प्राकृत में बाट में बदला है। हिन्दी बाड़ी शब्द सं० वृत का ही विकसित रूप है। कुलुई के ड़-युक्त शब्दों में 'बाड़ा' या 'बेरा' का भाव बना रहता है, जैसे—बेह्ड़ (या बेढ़, घरों का समूह), बाड़ (बाड़ा), चाउड़

(बरामदा), बेउड़ (खेत का बाहर का किनारा), खुआड़ (भेड़ों को रखने के लिए लकड़ी का बना घेरा), खु:ड़ (गौशाला), कराड़ (बनिया), शाड़ (क्यारी) आदि।

ड़ा, ड़ी, ड़ू : संस्कृत वृत से व्युत्पन्न 'ड़' का ही दूसरा रूप है और यह आकारसूचक प्रत्यय है। यह लघुता के लिए 'ड़ू', गुरुता के लिए 'ड़ा' तथा स्त्रीलिंग के लिए 'ड़ी' रूप में प्रयुक्त होता है, जैसे—खौल (सं० खाल)से खौलड़ू, खौलड़ा, खौलड़ी (आटा रखने के लिए बकरे आदि की मंडाई हुई खाल), बूटा से बूटड़ी, बूटड़ू (छोटा वृक्ष), दोंद (दांत) से दोंदड़ू, दोंदड़ी, सं० दिवस से दिहाड़ा—दिहाड़ी—दिहाड़ू। जहाँ सभी भाव व्यक्त करना इच्छित नहीं है, वहाँ केवल एक ही रूप प्रचलित है—हौथ से हौथड़ू, जोंघा से जोंघड़ू, ज़ोत से ज़ोतड़ू आदि।

+णिया : मूल रूप में यह प्रत्यय 'इया' है जो संस्कृत प्रत्यय 'ईय' का विकसित रूप है। परन्तु यह क्रिया की धातु में न लगने की बजाये क्रिया के मूल रूप में 'णा' को 'णिया' में बदल देता है, यथा—खाना से 'खाणिया' (खाने वाला), खोज़णा से 'खोज़णिया' (बताने वाला), 'लिखणिया' (लिखने वाला), हुण्डणिया (चलने वाला), शोटणिया (फेंकने वाला) आदि।

+ ता : यह कृत् प्रत्यय है जो संस्कृत अत् से उत्पन्न हुआ है, यथा—ज़ाणता, मोंगता (भिखारी), दाता, ग्राहता (ग्राहक)।

+ रू : यह प्रत्यय सं० रूप का संक्षिप्त प्रकार है, और लग-भग इसी भाव में शब्दों के साथ जुड़ता है, यथा—गोरू (गौरूप, डंगरे), भौंरू (भ्रमर+रूप), चाधरू (चित्र+रूप), कोधरू (कपिल +रूप), गाभरू (गर्भ+रूप)। इसी तरह जुआरू, शोहरू (सुशील+रूप, लड़का), दारू आदि।

+ ला : इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं० 'ल' से मानी जाती है तथा यह विशेषणीय और स्वार्थे प्रत्यय है। कुलुई में यह बहुत प्रचलित है, जैसे—शोभ से 'शोभला' (सुन्दर), भाब से 'भाबला' (इच्छुक), दूध से 'दुधला'(दूध जैसा), 'गोदला' (स्वर्णिम), 'भरेकला' (चौड़ा), 'खौदला' (अस्पष्ट) आदि।

+ हरा : यह संस्कृत 'हार' से व्युत्पन्न हुआ है—कोहरा (एक पर्त), दोहरा (दो पर्त), त्रेहरा (तीन गुना), चौहरा (चार गुना) आदि।

उपर्युक्त प्रत्ययों के अतिरिक्त, कुलुई में विदेशी प्रत्यय भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे—**आना** (जर्माना, तलबाना); **खाना** (छापाखाना, डाकखाना); **खोर** (नकलखोर, चुगलखोर), **गर** (जादूगर, कारीगिर); **दार** (ठाणेदार, चौकीदार, तसीलदार); बाज़ (धोखेबाज़, मुकदमाबाज़), आदि। इनके सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं है।

(iii) समास

कुलुई के समास-विधान को निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा

सकता है :—

I. संयोग-मूलक, II. व्याख्यान-मूलक, III. वर्णना-मूलक

I. **संयोग-मूलक**—इसमें दो या दो से अधिक पदों का संयोग होता है। इसके अन्तर्गत द्वन्द्व समास आता है, जिसमें प्रायः दो पदों के बीच के समुच्चयबोधक अव्यय का लोप हो जाता है। कुलुई में द्वन्द्व समास के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें से कुछेक के उदाहरण इस प्रकार देखे जा सकते हैं—

(1) रिश्ता सम्बन्धी—आमां-बापू (माँ-बाप), बाब-बेटे (बाप-बेटे), माँ-धिऊ (माता और पुत्री), बहण-भियारू (बहिन-भाई), माई-बाप (मां-बाप), शौशू-न्हूश (सास और बहू), शौशू-शौउरा (सास और स्वसुर), शोहरू-शौर्नू (लड़के और आश्रयी), याणेमाठे (बाल-बच्चे), याणेसियाणे (जवान और बूढ़े), बेटड़ी-मौरद (स्त्री-पुरुष), आदि।

(2) वस्त्राभूषण सम्बन्धी—चोला-टोपा (चोगा और टोपी), चोला-कंलगी, सूथणू-कुरतू (पाजामा और कमीज़), कोट-पेंट, बालू-बलाक (नाक के दो आभूषण), तुनकी-तोड़ा (सिर पर लगाने के दो आभूषण), लौंग-फुली, कौंठी-कांगणू (कण्ठी-कंगन), सेला-चादरू आदि।

(3) भोजन सम्बन्धी—दाणापाणी (अन्न-जल), घिऊ-भौत (घी और भात), घिऊ-खिचड़ी (घी और खिचड़ी), सुराचाकटी (सुरा और चाकटी), काउणीचीणी, काठू कोदरा, खाणी-पीणी (खान-पान), चोकणपाणी (सब्जी और पानी), खोड़ाचाउली (अखरोट-चावल) आदि।

(4) पशुओं सम्बन्धी—भेड़ा-बौकरी (भेड़ें और बकरियां), गाई-बौछू (गाये और बछड़ा), कुते-बराल (कुत्ते और बिल्लियां), छेलू-गौभा (बकरी और भेड़ के बच्चे) गधे-घोड़े आदि।

(5) समानार्थक या सहचर शब्दों के संयोग के समासों के उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे—कोम-काज (काम-कार्य), पाथर-गौटे (पत्थर-कंकर), झीड़ी-झौकड़ (झाड़ियां और झंकाड़), धुआंधुआंठ (धुआं-धूल), चीकरचाभड़ (कीचड़-दलदल), गाश-पाणी (वर्षा-जल), घाह-पौचा (घास-पत्ते), कीड़े-मकोड़े, लाजकारी (इलाज-उपचार), रुहराखस (भूत-राक्षस), लकड़-काठ, बागर-बियाना (हवा-वायु), मेइड़माटा (मिट्टी) आदि।

(6) इसी तरह कुलुई में विपरीतार्थक या प्रतिचर शब्दों के समास भी प्रचलित है, जैसे—राल-दिहाड़ (रात-दिन), सोंझा-दोथी (सुबह-शाम), गूली-मुण्ड (चूतड़ और सिर, यथा—गुलीमुण्डारा थोग नी लागणा), ठाण्डा-तौता (ठण्डा-गर्म), हिउंदभरयाल (सर्दी-गर्मी), सौहर-गौहर (शहर-ग्राम) शूकसीन (सूखा-गीला), धारा-नाल (पर्वत की चोटी और नाला), उशनिशी (उषा-निशा, बेचैनी), पाप-पुन (पाप-पुण्य), झाऊं-भियांऊ (ऊपर-नीचे), घौर-बोण (घर-वन), ढेक-बेउड़ (खेत के अन्दर बाहर के किनारे) आदि।

(7) अनुचर या अनुगामी शब्दों सहित समास—शूई-पौरशी (कल-परसों), हिज-फौरज (पिछले कल-परसों), पौर-पराहूर (गत क्रमशः दो वर्ष), आगली-नरिगली

(आने वाले क्रमशः दो वर्ष), दिहाड़ी-दपौहरे (दिन-दोपहर)। इकट्ठे तीन-तीन संयोग भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे—हिज़-फौरज़-चौथे, शूई-पौरशी-चौथे, पौर-पराह्र-चनाह्र, आगली-नरिगली-च्रिगली आदि ।

(8) कुलुई सामासिक पदों में विकार शब्दसहित समास का बहुत रिवाज है। इत्यादि अर्थ अभिव्यक्ति के लिए ऐसे शब्दों का बड़ा प्रयोग मिलता है । आम बोल-चाल में ऐसी द्विरुक्ति द्वारा प्राय: बात-चीत होती है, जैसे—रोटी-राटी (रोटी आदि), टांग-टूंग (टांग आदि), औग-आग (आग आदि)। ऐसे शब्द नियमानुसार बनते हैं, और यह नियम शब्द के प्रथम अक्षर की ध्वनि पर निर्भर करता है। यदि प्रथम अक्षर अ-आ-युक्त हो तो वह ऊ-युक्त में बदल जाता है, जैसे—पाणी-पूणी, तार-तूर, नाक-नूक, धान-धून, प्याज़-प्यूज़, राग-रूग आदि। यदि प्रथम अक्षर इ-ई-युक्त हो तो वह 'आ' में बदल जाता है—तीर-तार, खीर-खार, शिल्ह-शाल्ह, दिल-दाल, टीका-टाका आदि। प्रथम उ-ऊ-कार अक्षर भी आकार में बदल जाता है—मूल-माल, दूत-दात, पुन-पान, लूण-लाण, पूणी-पाणी आदि। ए-ऐ भी आ-युक्त हो जाते हैं—लेर-लार (चीख़-पुकार), खेल-खाल, तेल-ताल; ये 'ऊ' में भी बदल जाते हैं, लेर-लूर, तेल-तूल, पेट-पूट या पेट-पाट; ओ-औ अक्षर आकार में बदल जाते हैं—कोट-काट, कोन-कान, पौट-पाट, मौल्-माल् आदि। ऐसे समस्त पद का दूसरा शब्द प्राय: निरर्थक होता है ।

(9) अनुकार या ध्वन्यात्मक शब्द-सहित समास—ओली-पोली (जैसे ओली-पोली ओरे-पोरे जाणा ता मूँबे बी बोली, बु०), पता-सता, नोकर-शोकर, हौल्-बौल्, होल्का-शौल्का (हलका आदि), हाछ्रा-पाछ्रा (अच्छा आदि), अदला-बदला, टूणा-टोटका, आदि ।

(10) भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों के समस्त पद भी कुलुई में आम प्रचलित हैं। इनका नियम अन्यत्र लिखा जा चुका है, उदाहरणस्वरूप कुछ समास यहां देखे जा सकते हैं—सान-गुण (अरबी 'एहसान'+संस्कृत 'गुण'), मान-इज़त (सं० मान+अ० इज्ज़त), मान-धर्म (अ० ईमान+सं० धर्म), लेखा-स्हाब (हिं० लेखा+अ० हिसाब), कागद-पतर (फा० कागज़+सं० पत्र)।

II. **आश्रय-सूचक या व्याख्यान मूलक**—ऐसे समास में समस्त पद का प्रथम शब्द द्वितीय शब्द के अर्थ को सीमित करता है, या विशेषण रूप में होता है। इसको मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता है—(1) द्विगु, (2) कर्मधारय तथा (3) तत्पुरुष। प्रत्येक की उदाहरण सहित नीचे व्याख्या की जाती है—

(1) **द्विगु**—जहां प्रथम पद संख्यावाचक विशेषण होता है, उसे द्विगु समास कहते हैं। कुलुई में इसके कई उदाहरण मिलते हैं, जैसे—**सतपोटा** (सात पेटों का समूह), **सतनाजा** (सात अनाजों का समूह, किसी दुख या कष्ट के निवारण के लिए सात प्रकार के अन्न को इकट्ठा करके चौराहे पर फेंक देते हैं), **नौग्रह** (नौ ग्रहों का समूह), **सतपुड़ा** (सात तहों वाला), **त्रकाल्** (तीन कालों का समूह। सायंकाल का वह समय जब प्रकाश अन्तिम चरण में, अंधेरा प्रथम चरण में और दिन-रात का मिलन होता है), **चरांगला** (चार अंगुली वाला, खलयान में घास को दाने से अलग करने के लिए लकड़ी-विशेष।

असल में आगे से इसके प्रायः तीन शाखें होती हैं चार नहीं), दोघरा (दो घरों वाला), **त्रमूइयां** (तीन-मंजिला), **दमुहां** (द्विमुखी), **दोजड़ी** (दो की जोड़ी), **त्रेजड़ू** (तीन की जोड़ी), **दोपहर, त्रिपुड़ा** (देवी का नाम) आदि।

(2) **कर्मधारय**—जहां सामासिक शब्द का प्रथम पद प्रायः विशेषण (संख्या-वाचक के अतिरिक्त) हो, उसे कर्मधारय कहते हैं। कर्मधारय से अभिप्राय कर्म या वृत्ति धारण करने वाला है। इसमें दूसरा पद अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यद्यपि मूल रूप में कर्मधारय का प्रथम पद विशेषण होता है, परन्तु इसके ऐसे रूप भी हैं जहां अन्य प्रकार के संयोग भी मिलते हैं, जैसे—

(i) विशेषण-विशेष्य का संयोग—लाल-टोपी, महात्मा, लाल-पाणी, शांघन (शामघन, गांव का नाम), महादेऊ (महादेव), कालट्ट (काला-पट), कचालू (कच्चा-आलू), मलारू (मिला-आरू, खट्टे आड़ू फल), मलेड़ा (मिला-पेड़ा, एक खास प्रकार की अम्लकृत रोटी जो खमीर डालकर बनाई जाती है।) कचेड़ा (कच्चा-पेड़ा अर्थात् ख़मीर)।

(ii) विशेष्य-विशेषण का संयोग—मुंहनिहारा (मुंह-अंधेरा), दुधदागला (दाग लगा हुआ दूध), गौभ-औरा (भेड़ का अधूरा गर्भ)।

(iii) विशेषण-विशेषण का संयोग—लालपींउला (लाल-पीला), शेता-चित्रा (श्वेत-चित्रित), लोमा-झोमा (लम्बा-झूमता हुआ), हौरा-पींउला (हरा-पीला), खट्ट-मीठा(खट्टा-मीठा), त्रसौता (तीन या सात), पंद्रा-ब्रीह (पंद्रह-बीस), चितवित्रा (चित्रित-वर्णित), काला-शाउंला (काला-सांवला)।

(iv) विशेष्य-विशेष्य—ठाकुर-साहब, अंग्रेज़-लोक (अंग्रेज़-लोग), अफसर-लोक (आफिसर-लोग), बाबू-लोक आदि।

(3) **तत्पुरुष**—इस समास में सामासिक शब्द के दूसरे पद का अर्थ पहले पद के अर्थ से सर्वदा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यहां प्रथम पद द्वितीय पद के अर्थ को सीमित करता है। तत्पुरुष समास में कर्ता और सम्बोधन कारकों को छोड़कर अन्य कारकों में से किसी एक कारक की विभक्ति का समावेश रहता है, और इसी आधार पर इसके निम्नलिखित भाग हैं—

(i) कर्मवाचक : द्वितीय तत्पुरुष—जहां कर्मकारक की विभक्ति का लोप हो—माणहुमार (आदमी को मारने वाला), जानमार (जीवन को मारने वाला), कठफोड़ा (काठ को फोड़ने वाला), छिड़ीचोर (लकड़ी चोर), मड़दौहणू (मृत को जलाने वाला)।

(ii) करणवाचक : तृतीय तत्पुरुष—जहां करण की विभक्ति का लोप हो—दाहदुआसी (दर्द से पीड़ित), रौछ्बुणुआ (खड्डी से बुना हुआ), हौथकजौशला (बिना यश का हाथ, यश से रहित हाथ), हौथेकौतुआ (हाथ से कता हुआ) आदि।

(iii) सम्प्रदानवाचक : चतुर्थी तत्पुरुष—कड़ोठा (कुकड़ोठा, कुक्कुट के लिए स्थान), गुहातरू (गूथ के लिए वस्त्र), तलोशी (तेल के लिए कोशी अर्थात् छोटा बर्तन), नलोशू (नमक के लिए कोशू अर्थात् छोटा बर्तन), बण्हागा (बुमणां अर्थात् बकसुआ के लिए धागा), देऊघरा (देवता के लिए घर)।

(iv) अपादानवाचक : पंचमी तत्पुरुष—घौर-बोण (घर से बण तक), ढौगे-झौड़ना (ढंकार से गिरना), देश-नकाला (देश से निकाला हुआ), छेते-पौजुआ (खेत से पैदा हुआ)।

(v) सम्बन्धवाचक : षष्ठी तत्पुरुष—इसमें सम्बन्ध कारक की विभक्ति का लोप होता है, जैसे—छ्लियाठा (या सलियाठा, छली+काष्ठक, मक्की का घास), कदराठा (कौदे का घास), सनांगणू (सोने का कंगन), बणमाण्हु (बन-मानस), ठकरेढ़ (ठाकुर+बेढ़, ठाकुरबाड़ी), कठकूणा (काठ के कोने वाला), घौर-मालक (घर का मालिक), गोंत्र (गौ+मूत्र)।

(vi) अधिकरणवाचक : सप्तमी तत्पुरुष—मुण्डासटी (सिर में चोट), हौथा-कांगणू (हाथ में कंगन), घरपेशी (घर में प्रवेश), बणवास।

(vii) नञ् तत्पुरुष—इस समास में निषेधात्मक उपसर्ग का समावेश होता है, जैसे—नजाण (अनजान), कदशा (बुरी दशा), औलणा (बिना नामक का), कबौत (बुरा रास्ता)।

III. **वर्णनामूलक** या बहुब्रीहि—इस समास में सामासिक शब्द का कोई भी पद प्रधान नहीं होता, और ये दोनों पद इस तरह से मिलते हैं कि इन द्वारा किसी अन्य पदार्थ का बोध होता है, जैसे—"काठकुण्हा" का शाब्दिक अर्थ है 'काठ के कोने वाला', परन्तु वास्तव में यह कुल्लू में घरों की एक किस्म है जिसमें प्रायः लकड़ी अधिक लगती हैं, पत्थर-गारा कम और हर कोने पर शहतीर का जोड़ा होता है, पत्थर का नहीं। वर्णना-मूलक को बहुब्रीहि भी कहा जाता है। इस समास के विग्रह में जब अर्थ किया जाता है तो 'जो', 'जिसका', या 'जिसके' आदि का व्यवहार होता है। इसके निम्नलिखित भेद हैं:—

(1) व्यधिकरण बहुब्रीहि—जब पूर्व पद विशेषण न हो तो व्यधिकरण बहु-ब्रीहि समास कहलाता है, जैसे—डानकू-घाह (घास विशेष, जिसके फल-पत्ते अण्डे के आकार के होते हैं), बण-कौकड़ी (जंगली खीरा, ऐसी ककड़ी जो वन में होती है), बौकर-शींघी (एक घास विशेष जिसके पत्ते बकरे के सींग की तरह होते हैं), बोण-जुआणे (जंगली अज्वायन), मौछू-घाह (ऐसा घास जिसके पत्ते मच्छर की तरह होते हैं), दुधलू-माहुरा (ऐसा माहुरा-विष घास जिसके पत्ते से दूध निकलता है), जौ-माला (ऐसी माला जिसके दाने जौ के दाने की तरह होते हैं), ढेढू-माला, चंद्रहार, कन-बालू (ऐसा बालू जो कान में लगाया जाता है।)

(2) समानाधिकरण बहुब्रीहि—जिसका पूर्व पद विशेषण और उत्तर पद विशेष्य हो, जैसे—चिकटी-कूरी (एक जड़ी विशेष, जिसके पत्ते चिकने होते हैं), शौठ-जलाड़ी (ऐसी जड़ी-बूटी जिसकी साठ जड़ें होती हैं), काला-माहुरा (विष की एक किसम जिसके पत्ते से दूध की तरह सफेद नहीं, वरन् काला रस निकलता है, दुधलू-माहुरा के उलट), टुम्बली-मुण्डी (जड़ी विशेष जिसके पौधे का सिर नीचे की ओर झुका होता है), काली-आंछा (ऐसा 'आंछा' फल जिसका रंग काला होता है), गुडला-

घाह (एक जड़ी विशेष जिसके पत्ते मीठे होते हैं)।[1]

(3) व्यतिहार बहुव्रीहि—जहाँ परस्पर सापेक्षता प्रकट करने के लिए प्रयुक्त समास-युक्त पद हों उसे व्यतिहार बहुव्रीहि कहते हैं यथा—मुका-मुकी, धाका-धोकी, सट्टा-पट्टी, शड़ा-शड़ी (शीघ्र), कना-कनी आदि।

(4) मध्य-पद लोपी बहुव्रीहि—जहाँ दोनों पदों के मध्यागत पद का लोप हो जाता है, जैसे—टूटू-बेला (ऐसा समय जब टूटू पक्षी घोंसले में जाता है, अर्थात् अन्तिम पल,) *खंजौथा (ऐसा व्यक्ति जिसका बायाँ हाथ अधिक चलता हो)*, नौ-*गज़िया (नौ गज़* लम्बा अर्थात् बहुत लम्बा व्यक्ति)।

1. उपर्युक्त ये सभी जड़ी-बूटियाँ हैं जो दवाई के काम आती हैं, और 'ढेली' नामक खमीर में भी पड़ती हैं जो स्थानीय सुरा बनाने के काम आती है।

अध्याय—10

संज्ञा

कुलुई में संज्ञा शब्द हिन्दी के समान ही हैं, परन्तु कुलुई संज्ञा शब्दों में देखने वाली विशेषता यह है कि हिन्दी की अपेक्षा कुलुई में संस्कृत की प्रवृतियाँ अधिक सुरक्षित हैं। भारतीय आर्य भाषाओं के विकास के मध्यकाल में व्यंजनांत संज्ञा शब्द प्राय: समाप्त हो रहे थे। परन्तु कुलुई में स्वरांत और व्यंजनांत दोनों प्रकार के संज्ञा शब्द मिलते हैं। स्वरांत संज्ञा शब्दों को सबल तथा व्यंजनांत संज्ञा शब्दों को निर्बल संज्ञा शब्द भी कहा जाता है। सबल संज्ञा शब्दों के उदाहरण इस प्रकार देखे जा सकते हैं :—

आ-अंत=दाउंआ, कुत्ता, घोड़ा, काउड़ा, बूटा, शोठा, लोटा बौकरा, लेरा, मूछा, कमला, श्यामा।

ई-अंत= माली, भाई, पाणी, साथी, तेली, नेगी, रोगी, शोहरी, छीड़ी, बेटड़ी, बूटी, शोठी, बौकरी, गाई, शाई।

ऊ-अंत= शोहरू, थिपू, चोलू, भालू, शौरू, दाढ़ू, भाऊ, देऊ, लोभू, शौशू।

सबल संज्ञा शब्दों में उपर्युक्त स्वरों को छोड़ कर शेष स्वरों से अन्त होने वाले संज्ञा शब्द प्राय: प्रचलित नहीं हैं। निर्बल संज्ञा शब्दों में सभी व्यंजनान्त रूप मिलते हैं—

नाक, खाख, राग, बराघ, खुङ, दाच, कूछ, शौउज, शांझ, पींच, रौछ, नाज, बोझ, बूट, गोंठ, चाण्ड, डाढ, घाण, कोछड़, कोढ़, रात, कोलथ, दोंद, कोंध, कोन, पाप, फाफ, बाब, चाम, माम, मोर, खौल, खौल, न्हौश, बास, घाह।

कुलुई में 'य' और 'व' अन्त वाले संज्ञा शब्द नहीं है। जैसे पहले लिखा गया है 'य' प्राय: इआ में बदल जाता है और 'व' सर्वदा उआ में बदलता है।

हिन्दी और हिन्दी की अन्य बोलियों की तरह कुलुई में भी संज्ञा-शब्द पाँच वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं, यथा—

(1) व्यक्तिवाचक—जो किसी एक का बोध कराता हो—कुल्लू, नानक, सरवरी, कमला।

(2) जातिवाचक—जिस शब्द से किसी पूरी जाति का बोध हो—कुत्ता, बराली, गाई, बौकरी, नौई, भेड़ आदि।

(3) समूहवाचक—जिस संज्ञा से अनेक व्यक्तियों या पदार्थों के समूह का ज्ञान होता है—छ्ंड (भेड़ारा छ्ंड), गोण (मांहू रा गोण), गुछा (कुंजी रा गुछा), जाच, राश आदि।

(4) द्रव्यवाचक—जिससे किसी द्रव्य का ज्ञान होता है—जैसे घीऊ, सूना, रूपा, लोहा आदि।

(5) भाववाचक—जिससे किसी गुण, दशा, भाव, अथवा क्रिया का बोध होता है—निहारा (अंधेरा), सुख, दुख, शोख (प्यास), भूख, दोश आदि।

कुलुई में भाववाचक संज्ञा कई प्रत्यय लगा कर बनती है, उदाहरणार्थ—

1. कुछ क्रिया शब्दों से भाववाचक संज्ञाएं उनकी धातुओं में 'आई' लगाने से बनती हैं। ऐसे संयोग से पूर्व मूल धातु में परिवर्तन आता है :—

क्रिया	**भाववाचक संज्ञा**	**क्रिया**	**भाववाचक संज्ञा**
चौकणा	चकाई	चिणना	चणाई
कौतणा	कताई	चौरना	चराई
भौरना	भराई	लिखणा	लखाई
बुणना	बणाई	ढोणा	ढुआई

स्पष्ट है कि ओ-अंत वाली धातुओं को छोड़ कर शेष सभी स्थितियों में धातुओं के सभी प्रकार के प्रथम स्वर 'अ' में बदल जाते हैं।

2. कुछ क्रियाओं की स्थिति में भाववाचक संज्ञा मूल क्रिया के 'ना' अथवा 'णा' में से 'आ' की मात्रा हटाने से बनती है :—

पीशणा	पीशण	बाहणा	बाहण
कूटणा	कूटण	निंडणा	निंडण
ज़ीणा	ज़ीण	लेसणा	लेसण

3. कुछ अन्य क्रियाएं भी हैं जो अपने धातु रूप में भाववाचक संज्ञाएं होती हैं :—

हारना	हार	खुंगणा	खुंग
जीतना	ज़ीत	थूकणा	थूक
चोपड़ना	चोपड़	हौसणा	हौस

4. आजकल कुलुई में हिन्दी की प्रवृत्तियाँ भी आने लगी हैं, जैसे—

(क) विशेषण में 'आई' लगा कर, जैसे—लोमा से लमाई, चौड़ा से चड़ाई, सौच से सचाई आदि।

(ख) 'हट' या 'वट' लगा कर—जैसे मलाणा से मलाउट (मिलावट), सजाणा से सजाउट (सजावट), थकना से थकाउट (थकावट), घबराणा से घबराहट, बणाणा से बणाउट, रोकणा से रकाउट।

(ग) विशेषण में 'ई' लगाने से—चोर से चोरी, चलाक से चलाकी, कंजूस से कंजूसी, सरद से सरदी, गरम से गरमी।

विशेषताएं—

कुलुई के संज्ञा शब्दों की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

1. संज्ञा शब्दों के लघु रूप भी मिलते हैं। यदि संज्ञा शब्द के आकार अथवा विशेषता की लघुता अथवा न्यूनता दिखानी हो तो वक्ता प्राय: संज्ञा शब्दों को ऊकारांत बना कर प्रस्तुत करता है—जैसे घोड़ा से घोड़ू (छोटा घोड़ा), कुता से कुतू (छोट सा कुत्ता)। इसी तरह गधा से गधू, कुरता से कुरतू, ठुरडा से ठुरडू (पैर); बौकरा से बोकरू; गौभ से गौभू, सूथण खे सूथणू (छोटा पाजामा)। कई बार यह लघु रूप ड़ू, टू, लू लगा कर भी बनाए जाते हैं, जैसे बूटा से बूटड़ू (छोटा वृक्ष), हौथ से हौथड़ू, मुँह से मुँहड़ू, बूट से बूटड़ू कोट से कोटलू, टेंडा से टेंडलू, मेज़ से मेज़टू, माँज़ा से माँज़टू, खाखड़ू, काछ़टू, मूशा से मूशटू, नाक से नाकड़ू आदि।

2. ऐसा लघु रूप स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों के भी बनाए जाते हैं—टोपी से टोपू, पौटड़ी से पौटड़ू, बाहिली से बाहिलू, गराबी से गराबटू आदि। परन्तु चाहे पुल्लिग से ऐसा रूप बने अथवा स्त्रीलिंग से ऐसे शब्द सभी पुल्लिग होते हैं।

3. भाववाचक संज्ञा प्राय: एक बचन में ही प्रयुक्त होते हैं। इनके बहुवचन रूप का प्रयोग नहीं मिलता।

4. ई-कारांत भाववाचक संज्ञाएं सभी स्त्रीलिंग होती हैं—कताई की लेणी, ढुआई बड़ी औउखी सा, चराई खरी नी हुई आदि।

5. मूल क्रिया के 'आ' हटाने से बनी सभी संज्ञाएं पुल्लिग होती हैं—पीशण नी निभू, बाहण केतरा रौहू, ज़ीण खराब हुआ।

6. धातु रूप की संज्ञाएं स्त्रीलिंग भी हो सकती हैं, और पुल्लिग भी—तें हार मोनी, खुंग नी निभदी (दोनों स्त्रीलिंग), परन्तु थूक नी निंघलिदा, चौपड़ नीं खाइंदा (पुल्लिग)।

7. हिन्दी प्रवृति पर बनने वाली संज्ञाओं के लिंग हिन्दी समान ही होते हैं।

लिंग

हिन्दी की तरह कुलुई में भी लिंग दो हैं—पुल्लिग और स्त्रीलिंग। सभी संज्ञा शब्द इन्हीं दो लिंगों में विभक्त हैं। संस्कृत की भान्ति नपुंसक लिंग कुलुई में नहीं होता। कुलुई का लिंग-ज्ञान वैयाकरणिक है। चाहे संज्ञा शब्द प्राणी हो, जैसे गाये, बैल, कुत्ता, हाथी, या अप्राणी जैसे पत्थर, वृक्ष, पहाड़, नदी, अथवा चाहे मूर्त्त हों या अमूर्त्त जैसे विचार, लाभ, हानि, भाव आदि, सभी प्रकार के संज्ञा शब्द दोनों लिंगों में से किसी एक से अवश्य संबन्धित होंगे। यह ज़रूरी नहीं कि हरएक पुल्लिग शब्द का स्त्रीलिंग भी हो या हर स्त्रीलिंग शब्द का पुल्लिग रूप भी हो। परन्तु यह आवश्यक है कि प्रत्येक संज्ञा शब्द या पुल्लिग होगा या स्त्रीलिंग। और इसी आधार पर उन से सम्बन्धित क्रिया, विशेषण, सर्वनाम आदि रूप भी बदल जाएंगे।

प्राणवान जीवों का लिंग-निर्धारण प्राकृतिक लिंग-भेद पर होता है। जैसे बौलद, बौकरा, कुत्ता, मरद, कुकड़ आदि सभी पुल्लिग हैं, तथा उनकी मादा जातियाँ गाई, बौकरी, कुत्ती, बेटड़ी, कुकड़ी स्त्रीलिंग हैं। जानदार प्राणियों में लिंग सम्बन्धी कुछ विचित्र स्थितियाँ भी हैं, जैसे गीदड़, इलकण (चील), शियारी (घटारी), ईण (गिद्ध), ढरीण, मौर्छा (मछली), मौछी (मक्खी), शालो (सहल) आदि यद्यपि नर भी होते हैं और मादा भी, परन्तु ये सर्वदा स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होते हैं। इसके विपरीत काउड़ा (कौआ), उल्लू, बिछ्., चरेड़ा, मांहू (मधुमक्खी), रींघल (भरिंड), पणसौका आदि जानवर हमेशा पुल्लिग में ही गिने जाते हैं। सम्बन्ध-सूचक संज्ञाओं में पुल्लिग ऊ-अन्तिम होते हैं—दादी दादू, नानी-नानू, आमा-बापू, परन्तु मामी से पुल्लिग माम, बेबी से भाई, माउसी से काकु बनते हैं।

निर्जीव संज्ञाओं में वस्तु के आकार के आधार पर प्रायः लिंग-भेद होता है। गुरुत्व आकार की वस्तुएं प्रायः पुल्लिग होती हैं, और लघुत्व आकार की स्त्रीलिंग। उदाहरणार्थ, वृक्ष बहुत बड़ा हो तो बूटा पुल्लिग है। परन्तु यदि वृक्ष छोटा हो, या लम्बा हो परन्तु बारीक हो तो बूटी स्त्रीलिंग है। इसी तरह शोठा (मोटी सोठी), शोठी (बारीक सोठी), कुरता-कुरती, टोपा-टोपी, थाल-थाली, दाच-दाची, रोट-रोटी, पाथर-पाथरी, पौटू-पौटी, माँज़ा-माँज़ी, शाःण्हा-शाःण्ही। कई बार लिंग-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। ऐसा अर्थ-भेद साधारण से लेकर असामान्य तक रहता है। पाथर से पाथरी हर छोटे पत्थर का स्त्रीलिंग रूप नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा छोटा पत्थर है जिस पर औज़ारों को घिसकर तेज़ किया जाता है। इसी तरह पौटू स्त्री की साढ़ीनुमा एक पोशाक है, परन्तु पौटी ऐसा कपड़ा है जिससे अन्य कपड़े कोट आदि बनाए जाते हैं। इसी तरह, 'काठ' से 'काठी' ऐसी छोटी, बारीक, गोल लकड़ी है जो ढोल आदि बजाने के काम आती है। यह साधारण अर्थ-भेद है, एक का सम्बन्ध दूसरे से कुछ सीमा तक नियत रहता है। परन्तु कुछ स्थितियों में अर्थ बिलकुल भिन्न हो जाता है। 'फूल' में स्त्रीलिंग प्रत्यय लगाने से 'फूली' छोटे आकार का फूल नहीं है, बल्कि फूल की सुन्दर पंखुड़ी की शकल का एक आभूषण है जो नाक में लगाया जाता है। इसी तरह, 'छेत' (खेत) से छेती एक ऐसी सम्पत्ति है जो किसी ने, विशेषतया पुत्री ने, खेतों से अथवा अन्य परिश्रम से प्राप्त की हो और जिस की वह एक मात्र मूल अधिकारी होती है। ऐसे ही, 'नाला से 'नाली' जुलाहे की खोखली नलिका है जिस में बाने के धागे समेटे जाते हैं।

वृक्षों का लिंग-भेद भी उनके आकारानुसार होता है। बड़े वृक्ष और ऐसे वृक्ष जो छोटे होते हुए भी घने और अधिक फैले हुए हों पुल्लिग होते हैं—शेगल, बोन, मोहरू, तोस, केलू, चोर, रीखल, खौरशू अदि सभी पुल्लिग हैं। इसी तरह फलदार वृक्ष आरू, सेऊ, खोड़, शाढ़ा, आलमखारा आदि भी पुल्लिग रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। इसके विपरीत लम्बे परन्तु बारीक आकार के वृक्ष स्त्रीलिंग के द्योतक होते हैं—काइल, रौई, दौरल, चरी, माहुन, नगाल इसी प्रकार के वृक्ष हैं जिन को स्त्रिलिंग के रूप में गिना जाता है।

अन्न की स्थिति में लिंग-भेद अक्षरांत के आधार पर होता है। जिन अनाजों के नाम ई-कारांत हैं वे स्त्रीलिंग होते हैं—छौली, काउणी, चीणी, धांगड़ी, धंगेरी सभी

स्त्रीलिंग हैं। शेष वर्णों में अंत होने वाले अनाजों के नाम पुल्लिग हैं। कोदरा, सरयारा, बाज़रा, चाउल, धान, कोल्थ, भौरठ, माह, गेंहू, बीथू, काठू, जो, आलू, कौदू आदि पुल्लिग शब्द हैं। यहाँ 'भोंग' अपवाद है। ईकारांत न होते हुए भी भोंग स्त्रीलिंग है। द्रव-पदार्थ प्रायः पुल्लिग में ही प्रयुक्त होते हैं—पाणी, दूध, घीऊ, सौरा, तेल, हिऊँ, मूच, थूक, शीमा, हौछू, लोहू आदि सभी पुल्लिग शब्द हैं। परन्तु सूर, चाकटी और चाह स्त्रीलग है—चाकटी ईकारांत होने के कारण और सूर संस्कृत का आधार 'सुरा' होने के कारण। यद्यपि 'सुरा' से 'सूर' बदलने में यह आकारान्त से अकारान्त शब्द बना, परन्तु लिंग के रूप में यह संस्कृत की तरह स्त्रीलिंग ही रहा। चाह (चाय) शब्द हिन्दी से आया है, अतः इसका लिंग भी हिन्दी के समान स्त्रीलिंग रहा। कुल्लू में इसकी किस्म का पेय-पदार्थ "फेंबड़ा" है जो पुल्लिग है—"फेंबड़ा पीणा सा।' धातुओं के नाम भी प्रायः पुल्लिग शब्द होते हैं—सूना, रूपा, तराँबा, पीतल, काँसा, लोहा आदि। चांदी अपवादरूप में स्त्रीलिग है। शेष अप्राणी शब्दों के लिंग-भेद प्रायः अक्षरांत के आधार पर होते हैं। इस आधार पर कुलुई शेष कई भाषाओं से कम जटिल है। प्रायः ईकारांत शब्द स्त्रीलिंग होते हैं, और शेष शब्द पुल्लिग—माँज़ा, मेज, लोटा, कदाल, धागा, धड़ोलू (घड़ा), थिपू, भौत, पौटू, बकसे, दारठा, शरेहणा, रौछ घौर, दरूआज़ा, छापर आदि पुल्लिग तथा ताकी, कोठड़ी, अलमारी, लोटकी, कराहड़ी, दाची, कुरसी, नाली आदि स्त्रीलिंग हैं।

केवल अकारांत शब्द ऐसे होते हैं जो दोनो पुल्लिग और स्त्रीलिंग में मिलते हैं। वहाँ प्रायः वस्तु के आकार का नियम ही लागू होता है। छोटी और लघु आकार की वस्तुएं स्त्रीलिंग तथा बड़ी, मोटी, और भद्दी आकार की पुल्लिग होती हैं।

भाववाचक और अमूर्त संज्ञा शब्दों की स्थिति में लिंग-ज्ञान प्रायः शब्दांत के आधार पर ही होता है। इ-ईकारान्त शब्द प्रायः स्त्रीलिंग होते हैं और शेष पुल्लिग। उदाहरणार्थ, खेऊ और जूनी दोनों का भाव कष्ट से है, परन्तु खेऊ पुल्लिग है (बड़ा खेऊ हुआ) और जूनी स्त्रीलिंग (बड़ी जूनी हुई)। झूरी और लोभ का भी प्रायः एक ही भाव है 'प्यार'। परन्तु झूरी स्त्रीलिंग है (मूँ तेरी झूरी लागी) और लोभ पुल्लिग (मूँ तेरा लोभ लागा)। इसी तरह 'लाज़' (इलाज) पुल्लिग है और 'कारी' स्त्रीलिंग। 'शेला' पुल्लिग है (शेला लागा) 'सरदी' स्त्रीलिंग (सरदी लागी)। परन्तु अकारान्त शब्दों की स्थिति में यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। यहाँ अकारांत शब्द समान मात्रा में पुल्लिग और स्त्रीलिंग में मिलते हैं। इसी तरह जो शब्द सीधे हिन्दी से आए हैं, उनका लिंग-भेद भी हिंदी समान है। इस तरह शुद्ध हिन्दी शब्दों को छोड़ कर शेष सभी इ-ईकारांत कुलुई भाव-वाचक अमूर्त संज्ञा शब्द स्त्रीलिंग हैं और आ, उ, ऊ, ओ आदि अंत वाले शब्द पुल्लिग। परन्तु अकारांत शब्द समान मात्रा में स्त्रीलिंग भी हैं और पुल्लिग भी। अतः इनकी स्थिति में लिंग-ज्ञान आसान नहीं है, और न ही इस सम्बन्ध में कड़े नियम निकाले जा सकते हैं।

प्रायः संस्कृत नपुंसक लिंग शब्द कुलुई में पुल्लिग में प्रयुक्त होते हैं। सुख, दुख, पुन (पुण्य), पाप, ज्ञान, वचन, बैर, सौच (सत्य), ध्यान, बल, संकट, गोत्र आदि संस्कृत नपुंसक लिंग शब्द कुलुई में पुल्लिग रूप में बरते जाते हैं। संस्कृत से आए तद्भव शब्दों

में भी लिंग-भेद आ गया है—संस्कृत में 'अग्नि' पुल्लिग है, परन्तु कुलुई में इसका तद्भव रूप 'औग' स्त्रीलिंग है। इसी तरह संस्कृत पुल्लिग 'व्याधि' कुलुई तद्भव 'व्याध' स्त्रीलिंग, संस्कृत 'पाणी' (हाथ) पुल्लिग, कुलुई 'पाण' स्त्रीलिंग (दाचा-न पाण नी आई), संस्कृत अहि (सर्प) पुल्लिग, कुलुई "हौढ़" स्त्रीलिंग आदि। यों लगता है कि इस तरह के संस्कृत इकारान्त पुल्लिग शब्द ईकारान्त होकर कुलुई में आए और स्थानीय प्रवृत्ति के कारण ईकारान्त होने पर स्त्रीलिंग बने। बाद में ध्वनि परिवर्तन के कारण अन्तिम 'ई' स्वर लुप्त हो गया, परन्तु लिंग-भेद नहीं बदला और इस तरह स्त्रीलिंग ही रहे। इस बात की पुष्टि अन्य उदाहरणों से भी होती है। संस्कृत के इकारांत स्त्रीलिंग शब्दों से 'इ' लुप्त हो गई है, परन्तु उनका स्त्रीलिंग अस्तित्व प्रचलित रहा। उदाहरणार्थ संस्कृत के इकारांत स्त्रीलिंग शब्द बुद्धि, राशि, गति, रीति, रात्रि, जाति, पंक्ति, संगति, दृष्टि, भीति, प्रीति कुलुई में क्रमशः बुध, राश, गत, रीत, रात, जात, पंगत, संगत, धृष्टा, भीत, प्रीत बने परन्तु रहे स्त्रीलिंग ही। ऐसे भी उदाहरण हैं, जहाँ संस्कृत से कुलुई में आते हुए शब्दों के रूप में फेर-बदल आ गया है, परन्तु लिंग-परिवर्तन नहीं हुआ—लज्जा से लौज़, आशा से आश, लता से लूड़, शाला से शाल़ह, छाया से छाऊं, वायु से बागर, चंचु से चूंज शब्द बने हैं परन्तु संस्कृत की तरह सभी स्त्रीलिंग हैं।

कुलुई में महीनों के नाम पुल्लिग हैं—चैत्र, बशाख, शाढ़, शाउण, भादरू आदि। इसी तरह दिनों के नाम भी पुल्लिग हैं—सुंआर, मंगल, बुध, ब्रेस्त, शुकर आदि। ऋतुओं के नाम भी पुल्लिग हैं—हिऊंद, भरयाल, शौइर आदि। बीमारियों के नाम प्रायः पुल्लिग में हैं जैसे—ज़ोर, फाकू, लुआलका, घेरा, लोमादुख, शोधा, दुखणा, गोंड, ढीअर आदि। परन्तु दाह, बाउत, ठांड, शूल, खुंग अपवाद में स्त्रीलिंग हैं। मानसिक वृत्तियों से सम्बन्धित शब्द प्रायः स्त्रीलिंग हैं—झीक, मी:श, हिरख, झोंख, चिंता, याद, भाव, शोभ, शोख, भूख, फिकर आदि। यौगिक शब्दों में लिंग-भेद उनके अन्तिम शब्द अनुसार होता है, जैसे—छो:ढ़ स्त्रीलिंग है छुड़का पुल्लिग और छो:ढ़-छुड़का पुल्लिग (छो:ढ़-छुड़का नी हुआ); शोभ स्त्रीलिंग है, लोभ पुल्लिग, परन्तु शोभ-लोभ पुल्लिग है (शोभ-लोभएँ नी रौहू); बागर स्त्रीलिंग, बियाना पुल्लिग परन्तु बागर-बियाना पुल्लिग है; फाकू पुल्लिग, खुंग स्त्रीलिंग परन्तु खुंग-फाकू पुल्लिग है। विभिन्न प्रत्ययों के प्रयोग से बनी भाववाचक संज्ञाओं के लिंग भेद के बारे में पहले ही संकेत किया जा चुका है।

कुलुई में पुल्लिग से स्त्रीलिंग शब्द विभिन्न प्रकार से बनते हैं :—

1. अकारान्त पुल्लिग शब्दों में 'ई' मात्रा जोड़ने से स्त्रीलिंग बनते हैं—बांदर से बांदरी, कदाल़ से कदाल़ी, गौभ से गौभी, कुकड़ से कुकड़ी, काकड़ से काकड़ी, माम से मामी।

2. आकारान्त शब्दों के 'आ' को 'ई' द्वारा प्रतिस्थापित करने से स्त्रीलिंग बनते हैं—घोड़ा—घोड़ी, कुत्ता—कुत्ती, कल़ेशा—कल़ेशी, शाण्हा—शाण्ही, बेटा—बेटी, बौकरा—बौकरी, लाड़ा—लाड़ी, पाण्हा—पाण्ही, साल़ा—साल़ी, खापरा—खापरी।

3. ईकारान्त शब्दों में 'ई' के स्थान पर 'अण' या 'अन' प्रयुक्त होता है—हेसी—हेसण, नेगी—नेगण, नाती—नातण, हाथी—हाथण, डागो—डागण, माली—

मालण, धोबी—धोबण, तेली—तेलण आदि ।

इसी आधार पर कई बार अकारान्त शब्दों में भी 'ण' या 'न' जोड़ने से स्त्रीलिंग शब्द बनते हैं—रीछ—रीछण, गूर—गूरन, चमार—चमारन, सेठ—सेठण, बराघ—बराघण आदि ।

4. ऊकारान्त शब्दों में भी 'ऊ' को 'ई' द्वारा प्रतिस्थापित करने से स्त्रीलिंग बनते हैं—दादू—दादी, नानू—नानी, शोहरू—शोहरी, छेलू—छेली, बौछू—बौछी ।

5. कुछ सम्बन्धसूचक प्राणीवाचक पुल्लिग शब्दों के आगे 'आणी' या 'आनी' प्रत्यय लगाने से स्त्रीलिंग रूप बन जाते हैं । ऐसी स्थिति में आरम्भिक दीर्घ-स्वर भी ह्रस्व में बदल जाता है—माश्टर—मश्टराणी, ठाकर—ठकराणी, नोकर—नकराणी पण्डत—पण्डताणी, जेठिया—जठाणी, देउर—दराणी आदि ।

6. कुछ पुल्लिग शब्दों के स्वतंत्र स्त्रीलिंग शब्द होते हैं—बापू—आमा, भाई—बेबी, मनाल—कौरडी, लौढ़—भेड़, शौहुरा—शौशू, राजा—राणी, मौरद—बेटड़ी, बौल्द—गाई, बियाहू—जोई आदि ।

वचन

हिन्दी की तरह कुलुई में भी दो वचन हैं—एकवचन और बहुवचन । संस्कृत की तरह द्विवचन रूप कुलुई में नहीं होते । मूशा, भेड़, रात आदि एकवचन हैं और मूशे भेड़ा, राती बहुवचन । परन्तु कुलुई में वचन-ज्ञान हिन्दी से भिन्न है । सभी प्रकार के पुल्लिग संज्ञा शब्दों में से केवल आ-अन्त वाले शब्दों के ही बहुवचन रूप बनते हैं । शेष किसी प्रकार के पुल्लिग संज्ञा शब्द का बहुवचन रूप नहीं बनता । जहाँ तक मूल प्रकार के बहुवचन का सम्बन्ध है हिन्दी में भी यही स्थिति है । वहाँ भी कारक-चिह्न रहित बहुवचन केवल आकारान्त शब्द का बनता है, जैसे लड़का से लड़के । शेष सभी प्रकार के पुल्लिग एकवचन शब्दों के बहुवचन रूप नहीं बनते—घर, कवि, हाथी, साधू, डाकू, जौ के मूल बहुवचन रूप नहीं बनते । कुलुई में भी ठीक ऐसी ही स्थिति है । यहाँ भी कारक-रहित शब्दों के (आकारान्त को छोड़कर) एकवचन और बहुवचन रूप समान रहते हैं—घौर बणाऊ, घौर बणाये ; हाथी आउ, हाथी आएँ; डाकू मारू, डाकू मारे आदि । तथापि, हिन्दी में कारक-चिह्न लगने पर सभी प्रकार के पुल्लिग संज्ञा शब्दों के बहुवचन रूप बनते हैं, जैसे—हाथी ने—हाथियों ने, कवि को—कवियों को । परन्तु कुलुई में ऐसा भेद भी प्रचलित नहीं है । कारक-चिह्न लगने पर भी कुलुई में एकवचन और बहुवचन पुल्लिग शब्दों के समान रूप रहते हैं । एकवचन रूप और बहुवचन रूप एक जैसे होते हैं । केवल संदर्भ से ही पता चलता है कि अभिप्राय एकवचन से है अथवा बहु-वचन से, अन्यथा वाक्य रचना से भी स्पष्ट ज्ञान नहीं होता कि अभिप्राय एक से सम्बन्धित है या अनेक से—'हाथी-बें देआ' का अर्थ 'हाथी को दो' भी है और 'हाथियों को दो' भी । इसी तरह 'डाकू-बें ढौकिया आणा (डाकू को पकड़ लाओ या डाकुओं को पकड़ लाओ), छेता-न की सा (खेत में क्या है या खेतों में क्या है) । आरशू-न मुंह भाला (शीशे

में मुंह देखो या शीशों में मुंह देखो) आदि। स्पष्ट है कि आकारान्त पुल्लिग शब्दों के अतिरिक्त शेष सभी प्रकार के शब्द एकवचन और बहुवचन में समान रहते हैं, चाहे उनका मूल रूप हो या तिर्यक रूप। केवल अकारान्त शब्द कारक-चिह्न लगाने से विकृत हो जाते हैं और वह विकृत रूप एकवचन और बहुवचन में समान रहता है—जैसे 'हौथ' में कारक-चिह्न लगने पर 'हौथा' बन जाता है और वह एकवचन और बहुवचन में एक जैसा रहता है—'हौथा पांधे" का अर्थ 'हाथ पर' या 'हाथों पर' दोनों हो सकते हैं। शेष पुल्लिग शब्द एकवचन और बहुवचन में समान रहते हैं, उनमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता। केवल पुल्लिग आकारान्त शब्दों के ही बहुवचन रूप बनते हैं और वे 'आ' को 'एँ' द्वारा प्रतिस्थापित करने से बनते हैं, जैसे—घोड़ा से घोड़ें, थोंबा—थोंबें, काउड़ा काउड़ें, बूटा—बूटें, शोठा—शोठें, दाउंआ—दाउंए, टेंडा—टेंडें आदि। आकारान्त पुल्लिग शब्दों के ये एकवचन और बहुवचन रूप मूल रूप और तिर्यक रूप (कारक-चिह्न सहित) दोनों में विद्यमान रहते हैं—बूटा चूटू (वृक्ष गिरा) बूटें चूटें (वृक्ष गिरे), घोड़ा बें देआ (घोड़े को दो) घौड़ें-बें देआ (घोड़ों को दो)।

स्त्रीलिंग शब्दों के बारे में भी कुछ ऐसी ही स्थिति है, परन्तु वहाँ आकारान्त की बजाय अकारान्त और ऊंकारान्त शब्दों के बहुवचन बनते हैं। शेष किसी प्रकार के स्त्रीलिंग एकवचन शब्दों के बहुवचन रूप नहीं बनते, एकवचन और बहुवचन में समान रहते हैं। लेरा, ज़रावा, शीखा, शोहरी, छेली, गाई, शौशू, आमा आदि एकवचन और बहुवचन दोनों के द्योतक हैं। इनके ये समान रूप मूल तथा तिर्यक दोनों स्थितियों में एक जैसे रहते हैं और ठीक अभिप्राय समझने में संदेह बना रहता है, केवल संदर्भ से ही उद्देश्य का पता चलता है—खुरसी चूटी (कुरसी टूट गई या कुरसियाँ टूट गई), गाई बें घाह देआ (गौ अथवा गौओं को घास दो), शौशुएँ मारी लेरा (सास या सासों ने चीख/चीखें मारी/मारीं), भाज़ो-बें पाणी देणा (सब्ज़ी/सब्जियों को पानी देना है)। ऊंकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के बहुवचन 'आ' जोड़ने से बनते हैं—जूं से जूंआ, बरूं से बरूंआ आदि।

कुलुई में अकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों के बहुवचन रूप दो तरह से बनते हैं—

(क) मूल अकारान्त शब्द में 'आ' जोड़ने से, जैसे—भेड़ एकवचन से भेड़ा बहुवचन (भेड़ें), टांग—टांगा, खौल—खौला (खालें), आंज—आंजा (आंतें), लौत—लौता, छ़लिग—छ़लिगा (चिंगारियाँ), गल—गला (बातें) तार—तारा (तारें)।

(ग) मूल अकारान्त शब्द में 'ई' जोड़ने से, जैसे—रात एकवचन से राती बहुवचन (रातें), कात—काती (मोटी ऊन काटने की कैंची), ज़ात—ज़ाति (जातियाँ), का:ल्—का:ली, टोल्ह—टोल्ही, शाल्ह—शाल्ही, आर—आरी।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि एक ही प्रकार के शब्दों के दो तरह से बहुवचन बनते हैं, और दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। लौत का बहुवचन लौता (लातें) है, तो कात का काती। लौत का बहुवचन लौती नहीं हो सकता और न कात का काता बहुवचन बन सकता है। प्रश्न उठता है कि अकरांत स्त्रीलिंग शब्दों के कहाँ 'ई' से तो कहाँ 'आ'

प्रत्यय लगाने से बहुवचन बनेंगे। इसमें अक्षरान्त का नियम लागू नहीं होता, क्योंकि एक ही अक्षर से अन्त होने वाले भिन्न शब्द अलग-अलग रूप से बहुवचन बनाते हैं। लूड़ और भेड़ दोनों ड़कारान्त है, हरन्तु लूड़ से बहूवचन लूड़ी और भेड़ से भेड़ा बनता है। इसी तरह आंज और शांज दोनों जकारान्त हैं (दोनों को स्पष्टीकरण के लिए हलंत मानने से, अन्यथा ये सब अकारान्त हैं) परन्तु आंज से आंजा और शांज से शांजी बहुवचन बनते हैं। यों लगता है कि इसका कारण कुछ और है, और ऐसा प्रतीत होता है कि जिन अकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का आधार संस्कृत शब्द है, उनके बहुवचन रूप 'ई' जोड़ने से बनते हैं और शेष शब्दों का बहुवचन 'आ' द्वारा बनता है। संस्कृत में अकारान्त शब्द प्रायः स्त्रीलग नहीं होते। वहाँ स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द आकारान्त, इकरान्त, ईकरान्त उ—ऊका-रान्त आदि होते हैं। परन्तु कुलुई में उनके रूप स्वरलोप होकर आए हैं, इस बात का संकेत 'लिंग' शीर्ष के अधीन पहले ही किया जा चुका है। अतः संस्कृत स्त्रीलिंग शब्दों के अन्तिम स्वर के लोप द्वारा जो अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द कुलुई में आए हैं उनका बहुवचन रूप 'ई' जोड़ने से बनता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत राशि, भीति, व्याधि, कुक्षि, और रात्रि शब्दों के अन्तिम स्वर 'इ' के लोप होने से कुलुई रूप क्रमशः राश, भीत, व्याध, कूछ और रात बने और इनसे बहुवचन राशी, भीती, व्याधी, कूछी और राती बनते हैं। इसी तरह सं० शाला कु० शाल़ह ब० वसे श़ल्ही, सं० लता कु० लूड़ ब० व० लूड़ी, सं० छाया कु० छाऊं ब० व० छाई, सं० भगिनी कु० बेहण ब० व० बेहणी आदि। इसके अतिरिक्त 'अण' या 'अन' प्रत्यय जोड़ कर पुल्लिग से स्त्रीलिंग बने शब्दों के बहुवचन भी 'ई' जोड़ने से ही बनते हैं। यहाँ भी वास्तव में हिन्दी के स्वर 'इ' के 'अ' द्वारा अर्थात् 'इन' के 'अन' द्वारा प्रतिस्थापन के कारण ऐसा होता है, जैसे—नेगण से बहुवचन नेगणी, मालण से मालणी, बराघण से बराघणी, हेसण से हेसणी आदि। शेष अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द जिनका आधार स्पष्टतः संस्कृत स्त्रीलिंग शब्द नहीं है, 'आ' प्रत्यय के प्रयोग से बहुवचन बनाते है, जैसे—धार से धारा, लाल़—लाल़ा, कताब—कताबा आदि।

विभिन्न प्रकार के स्त्रीलिंग और पुल्लिग शब्दों के मूल तथा तिर्यक रूप के बहु-वचन निम्नांकित सारणी द्वारा बताए जा सकते हैं :—

एकवचन		बहुवचन	
		मूल रूप	कारकचिह्न-सहित
अकारान्त			
	पुल्लिग	(एक) हौथ (चा़र) हौथ	(चा़र) हौथा-बें/हौथा पांधें,
	स्त्री०	(एक) भीत (चा़र) भीती	(चा़र) भीती-बें/पांधें,
		(एक) भेड़ (चा़र) भेड़ा	(चा़र) भेड़ा-बें/पांधें,
आकारान्त			
	पु०	(एक) घोड़ा (चा़र) घोड़े	(चा़र) घोड़े-बें/पांधें,
	स्त्री०	(एक) आमा (सेभ) आमा	(चा़र) आमा-बें,

ईकारान्त

पु० (एक) नेगी (चा़र) नेगी (चा़र) नेगी-बें/पांधें,
स्त्री० (एक) छ़ेली (चा़र) छ़ेली (चा़र) छेली-बें/पांधें,

ऊकारान्त

पु० (एक) शोहरू (चा़र) शोहरू (चा़र) शोहरू-बें/पांधें,
स्त्री० (एक) शौशू (चा़र) शौशू (चा़र) शौशू-बें,

ऊंकारान्त

स्त्री० (एक) जूं (चा़र) जूंआ (चा़र) जूंआ-बें,

उपर्युक्त से प्रतीत होता है कि कुलुई में एकवचन और बहुवचन का भेद अधिक स्पष्ट नहीं है। सभी रूपों में केवल अकारान्त और ऊंकारान्त स्त्रीलिंग तथा आकारान्त पुल्लिग के ही मूल बहुवचन बनते हैं। शेष एकवचन और बहुवचन में रूप समान रहते हैं। ऐसी स्थिति में वचन-भेद प्रकट करने के लिए बहुवचन प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। कुछ विशेष प्रत्यय इस प्रकार हैं :—

सेभ—संस्कृत सर्व का विकृत रूप है। यह शब्द के पूर्व में लगता है, जैसे—
सेभ बेटड़ी, सेभ मौरद, सेभ चा़कर, सेभ देऊ आदि।

बोहू—संस्कृत बहु (हिन्दी बहुत) से व्युत्पन्न हुआ है। यह भी शब्दों के आरम्भ में प्रयुक्त होता है, जैसे—बोहु छेत, बोहू माण्हूं, बोहू बांदर आदि।

बहुवचन निर्माण के अतिरिक्त कुलुई में वचन सम्बन्धी कुछ अन्य विशेषताएं भी हैं। कुलुई में कई ऐसी संज्ञाएं हैं जो केवल एकवचन में ही प्रयुक्त होती हैं। उनके न बहुवचन रूप बनते हैं न बहुवचन में ऐसा प्रयोग सम्भव है। उदाहरणार्थ बेजा, पीठा, माटा, गाश, शौरू, हिऊं आदि शब्द सदा एकवचन में ही प्रयुक्त होते हैं। सभी प्रकार की धातुएं भी केवल एक वचन में प्रयुक्त होती हैं। सूना, रूपा, तांबा, कांसा, लोहा आदि बहुवचन में प्रयुक्त नहीं होते। इसी तरह कोदरा, सरयारा, बाजरा, धान, बीथू, काठू आदि अन्न केवल एकवचन में प्रयुक्त होते हैं—कोदरा बाहू, सरयारा लूणू, काठू खाऊ को बहुवचन रूप में कोदरा बाहें, सरयारे लूणें, काठू खाएं इस तरह बोले नहीं जा सकते। इसके विपरीत गेंहू, जौ, माह, भौरठ आदि आनज केवल बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं—गेहूं बाहें, जौ लूणें, माह खाएं आदि। इन्हें गेहूं बाहू, जौ लूणू, माह खाऊ कहना अपनी हंसी उड़ाना है। इसी तरह ग्रौह, गोरू, दरशण आदि केवल बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं—एइरें ग्रौह सी खरें (इसके ग्रह अच्छे हैं), गोरू आणें चा़रिया (डंगर चराकर लाए) आदि। कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिनके एकवचन में कुछ और अर्थ होते हैं, और बहुवचन में कुछ और। जैसे—'रोंग' यदि बहुवचन में प्रयुक्त हो तो इसका अर्थ "राजमाह" है, यदि एकवचन में प्रयुक्त हो तो 'रंग' है। इसी तरह 'पूला' का एकवचन में प्रयोग "फसल की गाँठ" का द्योतक है और बहुवचन में इसका अर्थ "घास की विशेष जूतियां" है। भाग का बहुवचन में अर्थ 'भाग्य' तथा एकवचन में "घराट की पिसाई" है।

अध्याय—11

कारक

हिन्दी और अन्य कतिपय भारतीय आर्य भाषाओं के समान कुलुई में भी आठ कारकों का प्रयोग होता है। इन सब का आधार संस्कृत है यद्यपि संस्कृत की विभिन्न विभक्तियां अब समाप्त हो रही हैं और उनके स्थान पर स्वतन्त्र परसर्गों का प्रयोग होता है। कुलुई के विभिन्न कारक-चिह्न हिन्दी से कुछ भिन्न हैं, जो इस प्रकार हैं :—

कारक	**विभक्तियां**
कर्ता	(i) बिना प्रत्यय
	(ii) एँ
कर्म	(i) बिना प्रत्यय
	(ii) वेँ
करण	एँ, लाइया (लाई), सोंगेँ
सम्प्रदान	बेँ, तांइये (तांई)
अपादान	न
सम्बन्ध	रा, रे, री; ना, ने, नी; का, के, की
अधिकरण	न, मोंभेँ, पांधेँ, परयालेँ,
सम्बोधन	एई, एउ

कर्ताकारक

कुलुई में कर्ताकारक अप्रत्यय और सप्रत्यय दोनों प्रकार का है। मूल रूप में कर्ताकारक का कोई प्रत्यय नहीं है, और न ही इसकी अभिव्यक्ति के लिए संज्ञा में कोई विकार आता है। यह शब्दों का विभक्ति-रहित मूल रूप है। दोंद चूटू, घौर फूखुआ, शोहरू सूता, नेगी रोटी खांदा लागीरा आदि वाक्यों में दोंद, घौर, शोहरू, नेगी संज्ञा शब्द अपने मूल रूप में हैं। यहां कर्ता-कारक बिना प्रत्यय के है।

दूसरी स्थिति में कुलुई कर्ताकारक की विभक्ति 'एँ' है, जो मूल रूप में करण-कारक की विभक्ति है। यहां यह हिन्दी के 'ने' का अर्थ देता है। स्वर-अन्त (अकारान्त

और आकारान्त को छोड़कर) शब्दों में 'एँ' मूल रूप में प्रयुक्त होता है, जैसे—नेगी से नेगीएँ, शोहरी से शोहरीएँ, भाऊ से भाऊएँ, साधू से साधूएँ, जौ से जौएँ आदि। अकारान्त और आकारान्त संज्ञाओं में 'एँ' मात्रा में बदल जाता है—मरद से मरदें, कुत्ता से कुतें, रीछ से रीछें। इस तरह मूल और मात्रा रूप में 'एँ' विभक्ति इस प्रकार देखी जा सकती है—मरदें रोटी खाई (मरद ने रोटी खाई), बेटड़ीएँ दूध पीऊ (स्त्री ने दूध पिया), घोड़ें बोझा चौकू (घोड़े ने बोझ उठाया), शोहरूएँ पाथर शोटू (लड़के ने पत्थर फेंका) आदि।

कर्ताकारक का 'एँ' संस्कृत की इसी विभक्ति अर्थात् प्रथमा के विसर्ग (:) का विकृत रूप है—कविः>कविस्>कविएँ। 'एँ' एकवचन और बहुवचन में समान रहता है। कुलुई में एकवचन में जो सप्रत्यय रूप हो वही बहुवचन में भी रहता है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इससे भी 'एँ' का संस्कृत विसर्ग आधार होना स्पष्ट होता है—कवियः>कविएँ, सुधियः>सुधीएँ, नद्यः>नदीएँ आदि।

अप्रत्यय और सप्रत्यय कर्त्ताकारक के प्रयोग के बारे में कोई स्पष्ट नियम बनाना कठिन है। तथापि, इनका प्रयोग सारांश में इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है :—

(1) जब क्रिया अकर्मक हो तो वाक्य में अप्रत्यय कर्ताकारक का प्रयोग होता है। कर्ता शब्द में कोई विकार नहीं आता—शाहरू हौंसू (लड़का हँसा), कुत्ता भौगू, शोहरी सोली, घोड़ा मुआं।

(2) जब वाक्य की क्रिया सकर्मक हो तो वर्तमान और भविष्यत् काल में अप्रत्यय कर्ताकारक का प्रयोग होता है—चाचा कताब पौढ़ा सा ता चाची चिठी लिखा सा, शोहरू छिड़ी आणलें ता शोहरी घाह काटली। यहां पौढ़ना, लिखणा, आणना, काटणा सकर्मक क्रियाएं हैं परन्तु वर्तमान और भविष्यत् काल प्रयोग होने के कारण चाचा, चाची, शोहरू, शोहरी कर्त्ताकारक रूप में मूलावस्था में रहे, उनमें विकार नहीं आया।

(3) यदि वाक्य में क्रिया सकर्मक हो और प्रयोग भूतकाल या भूतकाल की किसी अवस्था का हो तो कर्ताकारक सप्रत्यय होता है, उसमें 'एँ' का संयोग होता है जो यहां 'ने' का पर्यायवाची है, जैसे—चाचें कताब पौढ़ी ता चाचीएँ चिठी लिखी, शोहरूएँ छीड़ी आणी ता शोहरीएँ घाह काटू। यहाँ यह मूल रूप में करण-कारक का लक्षण है। प्राकृत में आकारान्त पुल्लिग संज्ञाओं के अतिरिक्त शेष पुल्लिग और स्त्रीलिंग संज्ञाओं के प्रथम एकवचन में कोई विभक्ति नहीं होती।[1] संस्कृत में भी इकारान्त, उकारान्त नपुंसक लिंग, आकारान्त, ईकारान्त स्त्रीलिंग एकवचन कर्ताकारक में विभक्ति-चिह्न नहीं लगता। परन्तु कुलुई में कर्ता के लिंग अथवा अक्षरान्त का नियम लागू नहीं होता। यहां कर्ताकारक सप्रत्यय का प्रयोग क्रिया और काल के आधार पर होता है, कर्त्ता अथवा अक्षरान्त के आधार पर नहीं। 'एँ' का कर्ताकारक सप्रत्यय प्रयोग केवल सर्कमक क्रियाओं के भूतकाल और भूतकालिक सभी अवस्थाओं में ही होता है,

1. डा० कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, पृ०188.

जैसे—दादीएँ रोटी पकाई/पकाइदी/पकाइरी थी/पकाइदी होली आदि ।

कर्मकारक

कर्मकारक के भी कुलुई में दो तरह के प्रयोग मिलते हैं—बिना प्रत्यय के और प्रत्यय सहित। 'माइटरें शोहरू जूकू' (अध्यापक ने लड़का पीटा) में कर्मकारक रूप 'शोहरू' बिना प्रत्यय के है, परन्तु 'माइटरें शोहरू-बें बोलू' (अध्यापक ने लड़के को कहा) वाक्य में 'शोहरू-बें' सप्रत्यय कर्मकारक का प्रयोग है ।

मूल रूप में कर्मकारक बिना प्रत्यय के ही अभिव्यक्त होता है । कर्म अपने आप में पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है—मूं रोटी खाणी, तेई ऊना कौतणी, पुलसें चोर ढौकू, शोहरूएँ चिठी लिखी आदि । कर्मकारक का प्रत्यय 'बें' प्रायः निम्नलिखित स्थितियों में प्रयुक्त होता है :—

(1) जब कर्म को निश्चित बनाया जाए तो 'बें' प्रयोग में लाया जाता है—लिडें घोड़ा-बें शौ ब्याधी (लो०), सेभी शोहरू-बें मार पोई, घुंगदी कुत्ती बें दोहरा दोश (लो०) आदि ।

(2) द्विकर्मक क्रियाओं में 'बें' का प्रयोग आवश्यक है । जहां एक वाक्य में दो कर्म हों तो गौण कर्म के साथ कर्मकारक का प्रत्यय ज़रूर लगता है—मैं दोस्ता बें चिठी लिखी, तेइएँ बौलदा-बें पाणी धीना, तें तेई-बें खरी गल दसी, आदि ।

(3) बोलणा, शाधणा, देणा, मिलणा (तलाश होना), आणना (लाना) आदि कुछ रूढ़ क्रियाओं के प्रयोग में कर्म के साथ 'बें' ज़रूर लगता है आपणी आमा-बें बोल, सेभी-बें शाध, म्हारें देशाबें ज़ादी मिली, बैठें माहूं-बें धूँ देणा (मु०), आदि ।

'बें' संस्कृत 'वल' से व्युत्पन्न हुआ है । 'वल' का अर्थ है 'साथ लगना', 'साथ आना', 'पास' । संस्कृत भाषा में भी 'वल' कर्म और अधिकरण का द्योतक रहा है[1] । इसकी उत्पत्ति इस प्रकार स्पष्ट है—सं० वल > प्रा० वअ > वे > बें ।

करणकारक

करणकारक की मूल विभक्ति 'एँ' है—हौछूएँ भौरूआ फाढ़ा (लो० गी०) (आँसुओं से गोद भर गई), कोनें शुण काहणी (कान से बात सुनो), लोहूएँ मूऊीला माटा (लहू से मिट्टी गूंधी जाएगी । लो० गी०) आदि । अपभ्रंश में भी यह रूप प्रचलित था । 'एँ' संस्कृत 'एन' या 'एण' का संक्षिप्त रूप है । 'न' या 'ण' अनुस्वार में बदल गया और बाद में उसका लोप हो गया । कुलुई में ऐसे लोप होने के कई उदाहरण हैं, यह पहले अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है । करणकारक की यह विभक्ति गढ़वाली, राजस्थानी आदि अन्य भाषाओं में भी है, परन्तु इसकी उत्पत्ति के बारे में भिन्न राय है । इस सम्बन्ध में डॉ० गोविन्द चातक का कहना है कि गढ़वाली में "करणकारक में एइ विभक्ति प्रत्यय का प्रयोग मिलता है—राजस्थानी में यह इँ (इ) और इइँ रूप में

1. Sir Monier Monier Williams : Sanskrit English Dictionary, p. 927.

मिलता है । गढ़वाली और राजस्थानी के ये रूप सम्भवतः अपभ्रंश के तृतीया एकवचन के वचन-प्रत्यय **एँ** से तथा वैदिक एभिः (>एहिं प्रा० >इहिं) से निष्पन्न हुए हैं।"[1]

'एँ' करणकारक की मूल विभक्ति है जो 'से', 'द्वारा' और 'साथ' आदि का अर्थ देता है, जैसे—

(1) हेतुवाचक रूप में—शोखें आई कौकड़ी फूटी (प्यास से/के कारण हृदय फट रहा है । लो० गी०), दाहिएँ न्हीसी होंहूई (दर्द से/के कारण चला नहीं जाता) आदि ।

(2) उपकरण के रूप में—शोठें मारू (लाठी से/द्वारा मारा), कलमें लिख (कलम से/द्वारा लिख), चाकूएँ भाज़ी काट (चाकू से सब्ज़ी काट) आदि ।

(3) साधन के रूप में—ढबुएँ बोणा सी सेभ कोम (पैसे से सब काम बनते हैं), ओकतीएँ होणा राम (दवाई से आराम आ जाएगा), शीमें नी लूणा हुँदा (सीम से नमकीन नहीं होता । लो०)

(4) भाववाचक क्रिया के अर्थ में—भाऊएँ न्होली सोई (बच्चे से सोया नहीं जाता), ठांडें पाणीएँ नी निहाइंदा (ठंडे पानी से नहाया नही जाता), तेईएँ न्होली उठी (उससे उठा न गया) आदि ।

(5) क्रिया-विशेषण वाक्य में—रीझें नी रोटी खाई, मज़ें-मज़ें केरा कोम, निहुंचें बेशीता आदि ।

करणकारक की 'एँ' मूल विभक्ति के अतिरिक्त, इस कारक के '**लाइया**' और '**सोंगे**"' दो अन्य प्रत्यय भी हैं । लाइया प्रत्यय छत्तीसगढ़ी में भी 'ले' के रूप में करणकारक का परसर्ग है ।[2] गढ़वाली में भी यह 'लाई' के रूप में सम्प्रदान का परसर्ग है ।[3] तथा विद्वानों ने इसे 'लग्ने' अथवा 'लब्धे' से व्युत्पन्न माना है—सं० लग्ने >प्रा० लग्गे>लाई >लाइया । 'लाइया' का प्रयोग मूल शब्द के असल रूप के साथ जोड़कर नहीं होता, वरन् मूल शब्द पहले ही करण की वास्तव विभक्ति में बदल जाता है और तत्पश्चात् लाइया का प्रयोग होता है । उदाहरणार्थ '**हौथ**' मूल शब्द से करणकारक विकृत रूप 'हौथें" (हाथ से) तथा 'हौथें लाइया' (हाथ द्वारा) । इसी तरह कताब—कताबें—कताबें लाइया, मुण्ड – मुण्डें—मुण्डें लाइया आदि । करणकारक का दूसरा प्रत्यय सोंगें संस्कृत शब्द 'संग' का कुलुई रूप है । संग से सोंग बनना कुलुई उच्चारण की प्राकृतिक प्रवृत्ति है । वैसे कई विद्वान हिन्दी के प्रत्यय 'से' की उत्पत्ति भी 'संग' से ही मानते हैं । इसका प्रयोग सदा मूल शब्द के करणकारक के वास्तव रूप में बदल जाने पर ही नहीं होता है । अकारान्त और आकारान्त शब्द ऍकारान्त होने के बाद 'सोंगें"' को साथ जोड़ते हैं—शोठा—शोठें सोंगें, हौंथ—होथें सोंगे । अन्य शब्द मूल रूप में रहते हैं—छाई—छाई सोंगें, लोहू—लोहू सोंगें आदि ।

उपर्युक्त से पता चलता है कि कुलुई में सप्रत्यय कर्ताकारक और करणकारक

---

1. डॉ० गोविन्द चातक : मध्य पहाड़ी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृ० 101.
2. डॉ० भालचन्द्र तेलंग: छत्तीसगढ़ी, हलबी, भतरी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन, पृ० 119.
3. डॉ० गोविन्द चातक : मध्य पहाड़ी का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 102.

की विभक्तियों में समानता है। 'एँ' विभक्ति दोनों के लिए समान रूप से प्रचलित है। परन्तु ऐसा केवल कुलुई में ही अपवाद नहीं है। कई और भाषाओं में भी कर्ता और करण-कारकों के प्रत्यय समान हैं। तिब्बती भाषा में तो प्रायः पूर्ण रूप से ही कर्ता कारक की अभिव्यक्ति के लिए करणकारक की विभक्ति का प्रयोग होता है। वहाँ "लड़के ने फल खाया" के लिए प्रायः "लड़के द्वारा फल खाया गया", "वह पुस्तक पढ़ता है" के लिए "उस द्वारा पुस्तक पढ़ी जाती है" रूप ही अधिक प्रचलित हैं। कुलुई में यद्यपि ऐसी स्थिति नहीं है परन्तु दोनों कर्ता और करणकारक 'एँ' द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं—"आरीएँ काट्ट" का अर्थ "आरी ने काटा" भी हो सकता है और "आरी द्वारा काटा गया" भी। वैसे हर कारक का अपना-अपना स्थान है और अर्थ में इस तरह की द्विविधा नहीं होती।

सम्प्रदानकारक

सम्प्रदानकारक की विभक्ति वही है जो कर्मकारक की है। अर्थात् दोनों की एक ही विभक्ति 'बें' है। 'बें' की उत्पत्ति पहले बताई गई है। इसका सम्बन्ध इसी कारक की बहुवचन की संस्कृत विभक्ति 'भ्यः' से भी जोड़ा जा सकता है। संस्कृत में चतुर्थी विभक्ति अर्थात् सम्प्रदानकारक की अभिव्यक्ति **भ्यः** जोड़ने से होती है। कुलुई में एकवचन और बहुवचन में कारक से पूर्व शब्दों का रूप समान रहता है (सिवाये आकारान्त शब्दों के), और कारक चिह्न भी एकवचन और बहुवचन के समान होते हैं। यह पहले भी लिखा जा चुका है। अतः इससे भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि कुलुई सम्प्रदानकारक की विभक्ति "बें" संस्कृत "भ्यः" का ही रूप है—भ्यः > भयः > भैं > बहे > बैं > बें।

कुलुई में कर्म और सम्प्रदान दोनों के लिए 'बें' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यह केवल कुलुई में कोई अपवाद नहीं है। कई अन्य भाषाओं में भी इनके समान कारक चिह्न हैं। हिन्दी में भी प्रायः दोनों को अन्तर्मिश्रित किया जाता है—'घोड़े को दाना दो' या 'घोड़े के लिए दाना दो', 'मैंने लड़के को पुस्तक दी' या 'मैंने लड़के के लिए पुस्तक दी।' परन्तु यह केवल दोनों कारकों के लिए समान प्रत्यय के प्रयोग की बात है, अन्यथा कर्म और सम्प्रदान दोनों अलग-अलग कारक हैं "मैंने उस लड़के को देखा है" के स्थान पर "मैंने उस लड़के के लिए देखा है" प्रयोग नहीं हो सकता। कुलुई में कर्मकारक की अभिव्यक्ति बिना प्रत्यय के भी हो सकती है, जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया है परन्तु सम्प्रदान कारक बिना विभक्ति के अभिव्यक्त नहीं हो सकता। यहाँ "बें" का प्रयोग अवश्य होगा। 'सम्प्रदान' का अर्थ 'प्रदान करना' या 'देना' है और जहाँ भी कर्म का प्रयोग इस अर्थ में होगा वहाँ सम्प्रदानकारक होगा और वहाँ 'बें' का प्रयोग आवश्यक है—'होरी-बें ज्ञान आपू-बें गोशटें' (लो०) में बें का हर दो स्थान पर प्रयोग अनिवार्य है, क्योंकि यहाँ 'ज्ञान देना' और "गोशटें देना" का भाव प्रदान करने से है। इसके अतिरिक्त जब भी क्रिया का प्रयोग संज्ञा के रूप में होगा तो भी 'बें' का प्रयोग ज़रूरी है—खाणा-बें, पीणा-बें, रौहणा-बें, धोणा-बे आदि।

सम्प्रदान को कर्मकारक से स्पष्टत: अलग करने के लिए एक अन्य प्रत्यय 'तांइये' का प्रयोग होता है जो सम्प्रदान कारक का परसर्ग है। यह केवल 'के लिए' के अर्थ में प्रयुक्त होता है 'को' के अर्थ में नहीं—'तेईएँ नो करी री तांइये दरखास्त धीनी'। यहाँ तांइये के स्थान पर बे ँ का प्रयोग नहीं हो सकता। तांइये या तेंइये दोनों तरह की ध्वनियाँ प्रचलित हैं। मूल रूप में यह हिन्दी शब्द ताईं है। डॉ० तेस्सितोरी इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'तावति' से मानते हैं—तावति>तामहि>तावँहि>ताअइँ> ताई>ताँई>ताई।[1] डॉ० गोविन्द चातक इसकी व्युत्पत्ति 'प्रति' शब्द से मानते हैं—प्रति>प्रतई>तई>तांई[2]। तांइये सम्प्रदान की विभक्ति नहीं है, बल्कि सम्प्रदान की अभिव्यक्ति का परसर्ग या प्रत्यय है। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि तांईये का प्रयोग संज्ञा अथवा सर्वनाम के तुरन्त बाद नहीं होता, बल्कि शब्द और तांइये के बीच में सम्बन्ध कारक की स्त्रीलिंग मूलक विभक्ति 'री' का प्रयोग अवश्य होता है—शोहरू री तांइये, खाणे री तांइये, तेरी तांइये आदि।

अपादानकारक

कुलुई में अपादानकारक की विभक्ति 'न' है—कौ-न आऊ (कहाँ से आया), मुँहा-न नी फियाड़ा निकता (मुँह से शब्द न निकला), बूटा-न औलू (वृक्ष से गिरा) आदि। कुलुई में अपादान की यह 'न' विभक्ति उसे संस्कृत से प्राप्त हुई है। संस्कृत में इकारान्त, उकारान्त नपुंसकलिंग तथा हलन्त पुल्लिंग और नपुंसक-लिंग की अपादान की विभक्ति 'न:' अथवा 'ण:' है। कुलुई में विसर्ग का लोप हो गया है और 'न' रूप में अवशेष रही है— सं० आत्मन: >कु० आत्मा-न, सं० गुणिन: >कु० गुणी-न, सं० कर्मण: >कु० कर्मा-न, सं० वारिण:>कु० बारी-न, सं० वस्तुन: कु० बस्तु-न आदि। अपादान कारक की विभक्ति के रूप में 'न' का प्रयोग निम्नलिखित स्थितियों में होता है :—

(1) "साधन" जहाँ से कोई वस्तु या कार्य प्राप्य हो—बोणा-न जड़ी-बूटी मिला सा, धौरनी-न पाणी निकला सा ,आदि।

(2) "पृथकता" दिखाना—सो शिमला-न आऊ, हाऊं आपणी कोठी-न आऊ, 'ज़ागा-न उठणा ज़ाती-न बटालीणा" (लो०), आदि।

(3) "तुलना" दिखाना—मूं-न सो बड़ा सा, पाणी-न हिऊं ठांडा हौआ सा, तौ-न ता मूं खरा केरना, आदि।

(4) "समय" जब से आरम्भ हो—हीज़ा-न ओर गाश लागादा, पिछले ँ सुआंरा-न ओर सो बमार सा, दोथी-न सोंझा तांई, आदि।

हिन्दी आदि कुछ भाषाओं में करण और अपादान कारक की एक ही विभक्ति होती है (जैसे हिन्दी में 'से')। परन्तु कुलुई में दोनों की अलग-अलग विभक्तियाँ हैं, जैसा कि पिछले उल्लेखों से स्पष्ट है।

---

1. तेस्सितोरी : पुरानी राजस्थानी, अनु० श्री नामवरसिंह, पृ० 72.
2. डॉ० गोविन्द चातक : "मध्य पहाड़ी का भाषा शास्त्रीय अध्ययन" पृ० 102.

सम्बन्धकारक

कुलुई में सम्बन्धकारक की तीन श्रेणियों की विभक्तियाँ प्रचलित हैं, अर्थात्—रा—रें—री, णा—णें—णी तथा का—कें—की। इन में से रा—रें—री का प्रयोग सर्वाधिक है। णा—णें—णी का प्रयोग केवल निजवाचक सर्वनाम में मिलता है—आपणा—आपणें—आपणी। हिन्दी सम्बन्ध कारक प्रत्ययों का—कें—की का प्रयोग कुलुई में केवल कालवाचक क्रियाविशेषण की स्थिति में मिलता है जैसे—हीज़ का, औज़ का, पौरकी, प्राःर कें, एशका; सोंझका पाहुणा ता सोंझका गाश छ़े के नी जांदा (लो०) आदि।

सम्बन्धकारक की उपर्युक्त विभक्तियाँ लगभग सभी आर्य भाषाओं में कुछ थोड़ा-बहुत हेर-फेर के प्रचलित हैं, और विद्वानों ने इनकी व्युत्पत्ति विभिन्न शब्दों से मानी है। डा० चटर्जी सं० **कार्य** शब्द से **केर** और 'र' की उत्पति मानते हैं।[1] डॉ० कृष्ण लाल हंस 'का, के, की' की उत्पत्ति **मद्रक, धर्मक** आदि शब्दों के उदाहरण से संस्कृत 'क' विभक्ति से ही मानते हैं। इसी तरह वह का, के, की तथा रा, रे, री की उत्पत्ति प्राकृत के **केरा, केरी** प्रतियों से भी सम्भाव्य समझते हैं।[2] डॉ० उदयनारायण तिवारी 'के' की उत्पति संस्कृत **कृत्य** से मानते हैं—कृत्य>कअ>कए>कै>के।[3] जैसा कि ऊपर लिखा गया है, कुलुई में मुख्यतः रा, रें, री का ही सम्बन्धकारक के प्रत्यय के रूप में प्रयोग मिलता है और इनकी उत्पत्ति संस्कृत की इसी विभक्ति अर्थात् षष्ठी के विसर्ग (:) से अधिक मान्य है। विसर्ग संधि में 'र्' में बदल जाता है और स्वर आगम से 'र' पूर्ण बन जाता है। अतः कुलुई 'रा' संस्कृत विसर्ग (:) का रूप है—गुरोः>गुरोर्+आ>गुरोरा>गुरुरा; कवेः> कवेर्>कवेर्+आ> कवेरा> कविरा; धनुषः> धनुषर्>धनुषर्+आ>धनुषरा आदि। 'रा' बाद में कर्म के लिंग के अनुसार 'रें' या 'री' में बदल जाता है—गुरूरें चें लें, गुरू री जागा आदि।

जहाँ तक प्रयोग का सम्बन्ध है, सम्बन्धकारक के प्रत्ययों का रूप कर्त्ता के अनुरूप नहीं वरन् कर्म के अनुसार बदलता है।

(i) 'रा, ना या का' का प्रयोग सभी एकवचन पुल्लिंग कर्म से पहले होता है, परन्तु शर्त यह है कि कर्म का प्रयोग विभक्ति रहित कर्ता या कर्मकारक के रूप में होता हो—जैसे, ए राज़ा रा घोड़ा सा, मैं शोहरू रा कोट हेरो रा, एबें सोंझ़ का बौकत सा आदि।

(ii) परन्तु यदि कर्म विभक्ति सहित हो तो कर्म चाहे एकवचन भी हो तब भी 'रा-का-ना' नहीं लगता वरन् 'रे-के-ने' लगता है—साधु रें बेटें चोरी केरी, राज़ा रें बेढ़ा-न औग शौची, मैं हीज के पाहुणा बें भौत खियाऊ। इन उदाहरणों में यद्यपि कर्म बेटा, बेढ़ा और पाहुणा एकवचन है परन्तु इनसे पहले रें या कें का प्रयोग हुआ

1. डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी : भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी
2. डॉ० कृष्ण लाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, पृ० 10.
3. डॉ० उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० 192.

है क्योंकि बेटा, बेढ़ा और पाहुणा कारक-चिह्न सहित हैं। इसके अतिरिक्त रें-कें-णें का मूलत: प्रयोग सभी बहुवचन कर्म-संज्ञाओं के पहले होता है—ये कुणी रें घोड़ें सी, तेई रें बोहू कोट सी, पौर कें बूटें बड़ें-बड़ें हुए आदि।

(iii) री-की-णी का प्रयोग सभी स्त्रीलिंग कर्मों के पहले होता है। चाहे कर्म एकवचन हो अथवा बहुवचन, चाहे विभक्ति सहित हो या विभक्ति रहित, री-की-णी का स्त्रीलिंग कर्म के पूर्व प्रयोग होता है—ए मेरी घोड़ी सा, ये म्हारी भेड़ा सी, मैं आपणी बौकरी-बें घाह धीना, हीज़ की पाहुणी औज़ नौठी, शोहरू री कताब रहीठी आदि।

अधिकरणकारक

कुलुई में अधिकरण के दो रूप हैं। 'में' के अर्थ में इसकी विभक्ति 'न' है—घड़ोलू-न पाणी सा (घड़े में पानी है), कताब बकसा-न डाह (किताब बक्स में रखो), टेंडा-न दुआई भौरी (आँख में दवाई डाली)। यह 'न' संस्कृत की सर्वनामीय सप्तमी विभक्ति (अधिकरण) '**स्मिन**' का अवशेष है। इसकी व्युत्पत्ति इसी कारक की इकारान्त, उकारान्त संस्कृत नपुंसकलिंग या हलन्त पुल्लिग के 'नि' से भी सम्भाव्य है—सं० वारिणि>कु० बारी-न, सं० वस्तुनि>कु० बस्तू-न, सं० गुरुणि>कु० गुरु-न, सं० आत्मनि>कु० आत्मा-न, सं० राजनि>कु० राज़ा-न आदि।

'पर' के अर्थ में मूल विभक्ति तो कुलुई में प्राप्य नहीं हैं, परन्तु इस अर्थ के कई परसर्गों का प्रयोग मिलता है जिनमें पांधें, परयालें, ऊझें, धामें आदि अधिक प्रचलित परसर्ग हैं—घोड़ा पांधें कूण बेशीरा (घोड़े पर कौन बैठा है), छापरा पांधें बांदर सा। इनकी '**अव्यय**' अध्याय में अधिक विस्तार से व्याख्या की गई है। 'में' के अर्थ में भी **मोंझें**, **हांदरें**, **मीथरें** आदि परसर्ग प्रचलित हैं। मोंझें का सम्बन्ध सं० '**मध्य**'>प्राकृत **मज्झे** से है। हांदरें हिन्दी अंदर और मीथर हिन्दी भीतर सं० अभ्यंतर के कुलुई रूप हैं। संस्कृत में अधिकरणकारक एकारान्त होता है—रामे, फले आदि। यह रूप प्राकृत में भी सुरक्षित था। पांधें, परयालें, ऊझें आदि कुलुई शब्दों में भी यही रूप विद्यमान है। पांधे शब्द संस्कृत 'उपांत' से व्युत्पन्न हुआ है और परयालें 'उपरि' से। इनमें प्रथम स्वर का लोप हो गया है और उसी की पूर्ति के लिए बीच में व्यंजन परिवर्तन हो गया है—उपांत>पांत>पांध>पांधें; उपरि+ले>परिलें> परयालें। इसी तरह ऊझें की ऊर्ध्व से व्युत्पत्ति स्पष्ट है।

सम्बोधन

सम्बोधन में संस्कृत 'हे' के रूप कुलुई में लिंग के आधार पर भिन्न होते हैं। पुल्लिग में 'हे' के लिए **एई** (एही) और स्त्रीलिंग **एऊ** (एहू) रूप प्रचलित हैं। वचन के आधार पर इनमें कोई भेद नहीं आता। एकवचन और बहुवचन में समान रूप रहते हैं। मूल शब्द में भी सम्बोधन के लिए परिवर्तन आता है, और यह परिवर्तन वचन के आधार पर भी होता है और लिंग-भेद पर भी।

पुल्लिग शब्द सम्बोधन के लिए एक-वचन में आकारान्त हो जाते हैं और बहु-

वचन में ओकारान्त में बदल जाते हैं, जैसे—एई बांदरा (एकवचन)—एई बांदरो (बहुवचन), एई घोड़ेआ—एई घोड़ेओ, एई नेगीआ—एई नेगीओ, एई शोहरूआ—एई शोहरूओ आदि। स्त्रीलिंग शब्दों की स्थिति में एकवचन में ऐंकारान्त तथा बहुवचन में ओकारान्त हो जाते हैं—एऊ भेड़ें—एऊ भेड़ो, एऊ भीतीएँ—एऊ भीतीओ, एऊ शोहरीएँ—एऊ शोहरीओ, एऊ शौशूएँ—एऊ शौशूओ आदि। स्पष्ट है कि बहुवचन में स्त्रीलिंग और पुल्लिग में समान रूप रहते हैं, परन्तु एकवचन में दोनों के रूप भिन्न हैं।

विशेषताएँ

विभिन्न विभक्तियों का अध्ययन करने के बाद अब कारक-सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का उल्लेख करना जरूरी होगा—

1. जैसा कि **वचन** शीर्षक के अधीन स्पष्ट किया गया है, कुलुई में आकारान्त पुल्लिग और अकरान्त एवं ऊंकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों को छोड़ कर शेष संज्ञाओं के बहुवचन रूप नहीं बनते। बहुवचन के वही रूप होते हैं जो एकवचन के हों। आकारान्त पुल्लिग शब्द बहुवचन में ऐंकारान्त बनते हैं—घोड़ा-घोड़ें, ऊंकारान्त स्त्रीलिंग आंकारान्त हो जाती हैं—जूं-जूआं, संस्कृत आधारित अकारान्त स्त्रीलिंग ईकारान्त हो जाती हैं—राश-राशी, और अन्य आकारान्त—भेड़-भेड़ा।

2. विभिन्न कारक-चिह्न पुल्लिग और स्त्रीलिंग के लिए समान रहते हैं। संस्कृत की तरह पुल्लिग के लिए अन्य और स्त्रीलिंग के लिए कोई अन्य विभक्तियां नहीं होतीं। अर्थात् कुलुई में लिंग-भेद के आधार पर प्रत्यय-भेद नहीं है—घोड़ा-बें—घोड़ी-बें, शोहरूएँ—शोहरीएँ आदि।

3. इसी तरह वचन के आधार पर भी विभक्तियों अथवा प्रत्ययों में भेद नहीं होता। यहाँ भी संस्कृत का वचन-भेद कुलुई में प्रचलित नहीं है। एकवचन और बहुवचन में विभक्तियाँ समान रहती हैं—घोड़ाबें—घोड़ेबें।

4. मूल विभक्तियाँ केवल तीन हैं—एँ, बें और न। इनमेंसे प्रत्येक एक से अधिक कारकों के लिए प्रयुक्त होती हैं—'एँ' कर्ताकारक और करणकारक के लिए, 'बें' कर्म और सम्प्रदान, तथा 'न' अपादान और अधिकरण के लिए। दो या अधिक कारकों के विभक्ति प्रत्यय एक जैसे होना केवल कुलुई में कोई अपवाद नहीं है। संस्कृत जैसी सम्पन्न भाषाओं में भी ऐसा नियम है, और कर्म तथा सम्प्रदान के तो कई भाषाओं में समान प्रत्यय हैं। वैसे सम्प्रदान कारक प्राकृत युग में ही कई भारतीय भाषाओं में लुप्त हो रहा था, उसका काम कर्म से ही चलाया जाता है।

5. चूँकि दो-दो कारकों की समान विभक्तियाँ हैं इसलिए दोनों के स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न परसर्गों का जन्म हुआ है। कर्ताकारक को करणकारक से विभेद करने के अभिप्राय से करणकारक के लिए लाइया ओर सोंगे परसर्गों का प्रयोग होता है। सम्प्रदान को कर्मकारक से स्पष्ट करने के लिए 'तांइबे' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। इसी तरह अपादान और अधिकरण को पृथक करने के लिए अधिकरण को मोंझें, पांधें,

परयाले ँ आदि परसर्गों से स्पष्ट किया जाता है। कहना न होगा कि कर्ता, कर्म और अपादान तो केवल अपनी मूल विभक्तियों 'एँ', 'बेँ' और 'न' से अभिव्यक्त होते हैं, तथा करण, सम्प्रदान और अधिकरण इन विभक्तियों के अतिरिक्त विभिन्न परसर्गों से भी स्पष्ट हो जाते हैं। वास्तव में जहाँ भी उत्तरोक्त तीन में से पूर्वोक्त की अपनी कक्षा की विभक्ति से द्विविधा की सम्भवना हो तो उन्हें विभक्ति की बजाय परसर्ग से अभिव्यक्त किया जाता है।

(6) अकारान्त और आकारान्त पुल्लिग एवं अकारान्त और ऊंकारान्त स्त्रीलिंग को छोड़कर शेष संज्ञाओं के रूप विभक्ति अथवा परसर्ग जोड़ने से नहीं बदलते। विभक्ति लगाने से उनके रूप में कोई विकार नहीं आता। यह प्रवृति हिन्दी से भिन्न है, हिन्दी में कारक-चिह्न जोड़ने पर विशेषत: बहुवचन में ऐसा विकार अवश्य आता है—लड़के ने—लड़कों ने, हाथी पर—हाथियों पर, साधु का—साधुओं का आदि। परन्तु कुलुई में जो मूल रूप एक वचन में है वही अविकृत रूप बहुवचन में रहता है—नेगी रा, शोहरी बेँ, शोहरूएँ, शौशूएँ, बेटी-न, माण्हु री तांइये, छे़ली लाइया आदि में विभिन्न विभक्तियों के जोड़ने पर भी नेगी, शोहरी, शोहरू, शौशू, बेटी, माण्हु, छे़ली शब्दों के रूप में कोई परिवर्तन नहीं है, और इन सब का अर्थ एकवचन में भी हो सकता है और बहुवचन में भी—नेगी रा का मतलब 'एक नेगी' का भी हो सकता है और नेगियों का भी, बेटी-न का अर्थ 'एक बेटी से' तथा 'बेटियों से' दोनों अर्थ निकलते हैं।

(7) अकारान्त और आकारान्त पुल्लिग शब्दों में विभक्ति या परसर्ग लगने से विकार आता है। अकारान्त पुल्लिग आकारान्त में बदल जाता है, और एकवचन तथा बहुवचन में समान रहता है। उदाहरणार्थ हौथ (हाथ) में जब विभक्ति लगेगी तो हौथा हो जाएगा और 'हौथा-न' का अर्थ 'हाथ में' भी हो सकता है और 'हाथों में' भी। इसी तरह मुंड से मुंडा पांधेँ (सिर पर, सिरों पर), नाक से नाका-न (नाक में, नाकों में), छा़पर से छा़परा पांधेँ (छत पर, छतों पर—कुलुई में छापर पुल्लिग है), काठा पांधेँ मणयाठ (मु०) आदि। इस सम्बन्ध में डा० ग्रियर्सन का कथन कि "व्यंजनांत (अर्थात् अकारान्त) पुल्लिग संज्ञा शब्दों का तिर्यक रूप 'ए' या 'आ' हो जाता है" ठीक नहीं है। व्यंजनांत पुल्लिग शब्द कभी तिर्यक में एकारान्त नहीं बनते बल्कि सर्वदा आकारान्त हो जाते हैं। हां, अलबता यह प्रवृति आकारान्त शब्दों में अवश्य देखी जाती है। आकारान्त पुल्लिग संज्ञा शब्द एकारान्त में बदलते हुए भी दिखाई देते हैं और आकारान्त में भी। यहां भी डा० ग्रियर्सन का निष्कर्ष ठीक नहीं कि "आकारान्त पुल्लिग सदा एकारान्त हो जाते हैं।" वास्तव में यहां दोनों रूप प्रचलित हैं—घोड़ा बेँ या घोड़े बेँ, बूटा पांधेँ या बूटे पांधेँ, बेटा रा या बेटे रा आदि। आम बोल चाल में दोनों रूप बिना भेद के प्रचलित हैं। वक्ता की अपनी इच्छा है इसे आकारान्त ही रखे या एकारान्त में बदल दे। रवानगी पर अधिक निर्भर है। हमारा अपना विचार है कि यहां वचन का आधार काफी हद तक नियमित है। एक वचन में आकारान्त पुल्लिग शब्द आकारान्त ही रहते हैं, परन्तु बहुवचन में एकारान्त बन जाते हैं। यथा—घोड़ा पांधेँ (घोड़े पर) परन्तु घोड़े पांधेँ (घोड़ों पर), बूटा रा (वृक्ष का) बूटे रा (वृक्षों का), कुत्ता-बेँ नी लूण निर्गुणा-बेँ नी

गूण (लो०) आदि।

(8) अकारान्त स्त्रीलिंग के बारे में पहले ही लिखा जा चुका है कि किस तरह अकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द दो तरह से बहुवचन बनाते हैं। (देखिए वचन अध्याय के अधीन)। वही नियम विभक्ति या परसर्ग से पूर्व अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द के विकार पर भी लागू होता है। डा० ग्रियर्सन ने 'बेहण' शब्द लेकर लिखा है कि "व्यंजनान्त (अकारान्त) स्त्रीलिंग संज्ञाएं 'ई' जोड़कर अपना तिर्यक रूप बनाती हैं, जैसे बेहणी।" सम्भवतः उनके ध्यान में भेड़, लौत, जोंघ, आंज, कताब, टांग, आदि अनेक अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द न आए होंगे जिनके तिर्यक रूप भेड़ी, लौती, आंजी, कताबी आदि नहीं बनते बल्कि भेड़ा, लौता, आंजा, कताबा, टांगा आदि बनते हैं। यहां भी यही कहना होगा कि संस्कृत के अन्तिम स्वर के लोप होने से बने अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द या इसी रूप के अन्य स्त्रीलिंग शब्दों के तिर्यक रूप 'ई' जोड़ने से बनते हैं—जैसे भीत से भीती पांधें, राश से राशी-न, रात से राती मोंझें आदि, तथा दूसरी तरह के अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द 'आ' में बदल जाते हैं। ऊंकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों का तिर्यक रूप आकारान्त होता है—जूं से जूंआ-न, बरूं से बरूंआ आदि। यहां भी स्त्रीलिंग विकृत संज्ञा शब्द एकवचन और बहुवचन के समान रहते हैं—आपणी बेहणी-बें दे (अपनी बहिन को या बहिनों को दो), भेड़ाबें पाणी पिया (भेड़ को या भेड़ों को पानी पिलाओ) आदि।

(9) ऊपर 6 से 8 तक संज्ञाओं के जिन विकृत अथवा तिर्यक रूपों का वर्णन किया गया है वे कर्ता और करण की समान विभक्ति 'एँ' के अतिरिक्त हैं। अर्थात् जब कर्ताकारक में 'ने' का तथा करणकारक में 'से' का अर्थ हो तो उपर्युक्त नियम लागू नहीं होते। इन दो स्थितियों में तो हर प्रकार का संज्ञा शब्द सर्वदा ऐंकारान्त में बदल जाएगा। चाहे शब्द किसी रूप का हो, स्त्रीलिंग हो या पुल्लिग, एकवचन हो या बहुवचन, वह जरूर ऐंकारान्त बनकर ही करताकारक के 'ने' और कारणकरक के 'से' का अर्थ देगा। यहां यह नहीं कहा जा सकता कि नेगी, शोहरी, शोहरू, शौशू आदि शब्द विभक्ति लगाने से वैसे ही रहते हैं। ये अवश्य ऐंकारान्त हो जाएंगे—नेगीएँ (नेगी ने/से), शोहरीएँ (लड़की ने/से), शोहरूएँ (लड़के ने/से) आदि। परन्तु वचन के आधार पर ये दोनों वचनों का अर्थ देंगे—'भेड़ें' का अर्थ 'भेड़ ने' या 'भेड़ों ने' दोनों हो सकता है।

(10) हिन्दी में प्रायः हम देखते हैं कि शब्द का जो तिर्यक रूप (oblique form) कर्ताकारक के 'ने' अर्थ (Nominative agentive) के लिए बनता है वे शेष सभी कारकों के लिए समान रहता है, जैसे लड़के ने, लड़के को, लड़के से; लड़कियों ने, लड़कियों को, लड़कियों के लिए आदि। परन्तु कुलुई में ऐसा नियम नहीं है। 'ने' के लिए कुलुई में हर शब्द ऐंकारान्त बन जाता है, परन्तु अन्य कारकों के लिए यह रूप नहीं रहता। उदाहरणार्थ, नेगीएँ (नेगी ने) परन्तु नेगी-बें (नेगी को), नेगी री तांइयें (नेगी के लिए); बेहणीएँ (बहिन ने) परन्तु बेहणी-बें (बहिन को), बेहणी-न (बहिन में) आदि।

अब विभिन्न अक्षरों द्वारा अन्त होने वाले पुल्लिग और स्त्रीलिंग सज्ञा शब्दों के सभी कारकों के रूप प्रदर्शित करना आवश्यक होगा—

अकारान्त पुल्लिग 'बौल्द' (बैल)			अकारान्त स्त्रीलिंग 'भेड़'	
कारक	**एकवचन**	**बहुवचन**	**एकवचन**	**बहुवचन**
कर्त्ता	(i) बौल्द (ii) बौल्दें	(i) बौल्द (ii) बौल्दें	(i) भेड़ (ii) भेड़ें	(i) भेड़ा (ii) भेड़ें
कर्म	बौल्दा-बें	बौल्दा-बें	भेड़ा-बें	भेड़ा-बें
करण	बौल्दें, (बौल्दा सोंगें, लाइया)	बौल्दें, (बौल्दा सोंगें, लाइया)	भेड़ें, (भेड़ा सोंगें, लाइया)	भेड़ें, (भेड़ा सोंगें, लाइया
सम्प्रदान	बौल्दा-बें (बौल्दा री तांइये)	बौल्दा-बें (बौल्दा री तांईये)	भेड़ा-बें (भेड़ा री तांइये)	भेड़ा-बें (भेड़ा री तांइये)
अपादान	बौल्दा-न	बौल्दा-न	भेड़ा-न	भेड़ा-न,
सम्बन्ध	बौल्दा रा-रे-री	बौल्दा रा-रे-री	भेड़ा रा-रे-री	भेड़ा रा-रे-री
अधिकरण	(i) बौल्दा-न, (मोंझें) (ii) बौल्दा पांधें	(i) बौल्दा-न, (मोंझे) (ii) बौल्दा पांधें	(i) भेड़ा-न, (मोंझें) (ii) भेड़ा पांधे	भेड़ा-न (मोंझें) भेड़ा पांधें
सम्बोधन	एई बौल्दा	एई बौल्दो	एऊ भेड़ें	एऊ भेड़ो

आकारान्त पुल्लिग **'घोड़ा'**			**बेहण (बहिन)**	
कर्त्ता	(i) घोड़ा (ii) घोड़ें	(i) घोड़े (ii) घोड़ें	(i) बेहण (ii) बेहणीएँ	(i) बेहणी (ii) बेहणीएँ
कर्म	घोड़ा-बें	घोड़े-बें	बेहणी-बें	बेहणी-बें
करण	घोड़ें, (घोड़ा सोंगें,लाइया)	घोड़ें, (घोड़े सोंगें,लाइया)	बेहणीएँ, (बेहणी सोंगें)	बेहणीएँ, (बेहणी सोंगें)
सम्प्र०	घोड़ा-बें, (घोड़ा री तांइये)	घोड़े-बें, (घोड़े री तांइये)	बेहणी-बें, (बेहणी री तांइये)	बेहणी-बें, (बेहणी री तांइये)
अपा०	घोड़ा-न	घोड़े-न	बेहणी-न	बेहणी-न
सम्ब०	घोड़ा रा-रे-री	घोड़े रा-रे-री	बेहणी रा-रे-री	बेहणी रा-रे-री
अधि०	घोड़ा-न (पांधें)	घोड़े-न (पांधें)	बेहणी-न (मोंझें)	बेहणी-न (मोंझें)
सम्बो०	एई घोड़ेआ	एई घोड़ेओ	एऊ बेहणीएँ	एऊ बेहणीओ

ईकारान्त पुल्लिग **'नेगी'**			ऊकारान्त पुल्लिग **'शोहरू' (लड़का)**	
कर्त्ता	(i) नेगी (ii) नेगीएँ	(i) नेगी (ii) नेगीएँ	(i) शोहरू (ii) शोहरूएँ	(i) शोहरू (ii) शोहरूएँ

कर्म	नेगी-बें	नेगी-बें	शोहरू-बें	शोहरू-बें
करण	नेगीएँ, (नेगी सोंगें)	नेगीएँ, (नेगी सोंगें)	शोहरूएँ, (शोहरू सोंगें)	शोहरूएँ, (शोहरू सोंगे)
सम्प्र०	नेगी-बें, (नेगी री तांइये)	नेगी-बें, (नेगी री तांइये)	शोहरू-बें, (शोहरू री तांइये)	शोहरू-बें, (शोहरू री तांइये)
अपा०	नेगी-न	नेगी-न	शोहरू-न	शोहरू-न
सम्ब०	नेगी रा-रे-री	नेगी रा-रे-री	शोहरू रा-रे-री	शोहरू रा रे-री
अधि०	नेगी-न (पांधें)	नेगी-न (पांधें)	शोहरू-न (पांधें)	शोहरू-न-(पांधे)
सम्बो०	एई नेगीआ	एई नेगीओ	एई शोहरूआ	एई शोहरूओ

आकारान्त स्त्रीलिंग ईकारान्त स्त्रीलिंग

'आमा' **'शोहरी'** (लड़की)

कर्त्ता	(i) आमा (ii) आमें	(i) आमा (ii) आमें	(i) शोहरी (ii) शोहरीएँ	(i) शोहरी (ii) शोहरीएँ
कर्म	आमा-बें	आमा-बें	शोहरी-बें	शोहरी-बें
करण	आमें	आमें	शोहरीएँ	शोहरीएँ
सम्प्र०	आमा-बें	आमा-बें	शोहरी-बें	शोहरी-बें
अपा०	आमा-न	आमा-न	शोहरी-न	शोहरी-न
सम्ब०	आमा रा-रे-री	आमा रा-रे-री	शोहरी रा-रे-री	शोहरी रा-रे-री
अधि०	आमा-न	आमा-न	शोहरी-न	शोहरी-न
सम्बो०	एऊ आमें	एऊ आमेओ	एऊ शोहरीएँ	एऊ शोहरीओ

ऊकारान्त स्त्रीलिंग ऊंकारान्त स्त्रीलिंग

शौशू (सास) **'जूं'** (जूं)

कर्त्ता	(i) शौशू (ii) शौशूएँ	(i) शौशू (ii) शौशूएँ	(i) जूं (ii) जूंएँ	(i) जूंआ (ii) जूंएँ
कर्म	शौशू-बें	शौशू-बें	जूंआ-बें	जूंआ-बें
करण	शौशूएँ	शौशूएँ	जूंएँ	जूंएँ
सम्प्र०	शौशू-बें	शौशू-बें	जूंआ-बें	जूंआ-बें
अपा०	शौशू-न	शौशू-न	जूंआ-न	जूंआ-न
सम्ब०	शौशू रा-रे-री	शौशू रा-रे-री	जूंआ रा-रे-री	जूंआ रा-रे-री
अधि०	शौशू-न	शौशू-न	जूंआ-न	जूंआ-न
सम्बो०	एऊ शौशूएँ	एऊ शौशूओ	एऊ जूंएँ	एऊ जूंओ

अध्याय—12

सर्वनाम

संज्ञा को 'नाम' भी कहते हैं और जो शब्द सब नामों के लिए प्रयुक्त होते हैं उन्हें सर्वनाम कहते हैं। इस प्रकार सर्वनाम संज्ञा का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुलुई में भी हिन्दी की तरह छः प्रकार के सर्वनाम हैं :

1. पुरुषवाचक—हाऊं, तू, सो, आदि 2. निजवाचक—आपु
3. निश्चयवाचक—ए, सो 4. अनिश्चयवाचक—किछ, कोई
5. सम्बन्धवाचक—जो 6. प्रश्नवाचक—कुण, की

कुलुई के ये सभी सर्वनाम संस्कृत से आए हैं। केवल उच्चारण में परिवर्तन आया है, जो इस लम्बी अवधि में स्वाभाविक है। कुलुई सर्वनामों में एक मुख्य विशेषता यह है कि यहां अन्यपुरुष तथा निश्चयवाचक सर्वनाम के स्त्रीलिंग और पुल्लिग दोनों रूप मिलते हैं। कुलुई में यह नियम हिन्दी से बिलकुल भिन्न है। हिन्दी में अन्य पुरुष में पुल्लिग और स्त्रीलिंग रूप अलग-अलग नहीं हैं। एक ही रूप से दोनों लिंगों की अभिव्यक्ति हो जाती है—'उसने खाना खाया' से अभिप्राय 'उस (पुरुष) ने खाना खाया' भी हो सकता है और 'उस (स्त्री) ने खाना खाया' भी। परन्तु कुलुई में दोनों के लिए अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं—'तेइएँ खाणा खाऊ' (पुल्लिग) परन्तु 'तेसे खाणा खाऊ' (स्त्रीलग)। अन्यपुरुष में पुल्लिग और स्त्रीलिंग के अलग-अलग रूप होना **पहाड़ी** भाषा की विशेषता है।[1] इस दिशा में कुलुई संस्कृत के अनुरूप है, हिन्दी के नहीं।

1. पुरुषवाचक

पुरुषवाचक सर्वनाम के पुनः तीन रूप हैं—(१) उत्तमपुरुष, (2) मध्यमपुरुष तथा अन्यपुरुष।

उत्तमपुरुष

कुलुई में उत्तमपुरुष का मूल शब्द 'हाऊं' है। परन्तु 'हाऊं' के लिए 'मैं' और

1. देखिए शिक्षा विभाग, हिमाचल प्रदेश, द्वारा प्रकाशित "शोध पत्रावली में (1) श्रीरामदयाल नीरज : सिरमौरी पृ० 62-63 (2) श्री नन्देशकुमार : चमियाली, पृ० 21-22, चुराही, पृ० 25, भटियाला, पृ० 27, (3) श्री मनशाराम शर्मा अरुण : कहलूरी पृ० 51, (4) श्री भीमदत्त काले : बघाटी पृ० 85.

'मूं' दो रूप और भी हैं। 'मूं' शब्द 'हाऊं' का विकारी रूप है। कर्ताकारक कर्तृ रूप में सर्वदा 'हाऊं' का प्रयोग होता है। हाऊं सा (मैं हूँ), हाऊं खाणा खाआसा (मैं खाना खाता हूँ), हाऊं निहाइया सा (मैं नहाता हूं)। परन्तु सप्रत्यय कर्ताकारक रूप में 'हाऊं' और 'मैं' दोनों प्रयुक्त होते हैं। अकर्मक क्रिया की स्थिति में 'हाऊं' तथा सकर्मक क्रिया की स्थिति में 'मैं'—हाउं सूता (मैं सोया), हाऊं बैठा (मैं बैठा); परन्तु मैं छीड़ी काटी (मैंने लकड़ी काटी), मैं कीड़ा मारू (मैंने सांप मारा)। परन्तु भविष्यत् काल में चाहे सकर्मक क्रिया हो या अकर्मक, दोनों स्थिति में मूं शब्द ही प्रयोग में आता है । मूं काल सहरा-बें जाणा (मैं कल शहर को जाऊंगा), मूं सोणा (मैं सोऊंगा), मूं रौशी चौड़नी (मैं रस्सी तोड़ूंगा)। कर्मकारक में विभक्ति रहित प्रयोग के लिए हमेशा हाऊं प्रयुक्त होता है। इस प्रकार कर्ता, कर्म और करणकारकों को छोड़कर (जिनकी स्थिति ऊपर बताई गई है) तथा सम्बन्ध के अतिरिक्त शेष सभी कारकों में 'मूं' ही उत्तम पुरुष का एक वचन का रूप है। सम्बन्धकारक में कुलुई का उत्तमपुरुष में एकबचन ठीक हिन्दी की तरह मेरा, मेरे और मेरी है, इसमें कोई भी अन्तर नहीं:

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	हाऊं, मूं, मैं	आसें
कर्म	मूं-बें, हाऊं	आसाबें, आसें
करण	मैं, हाऊं, मूं (सोंगें)	आसें, आसा (सोंगें)
सम्प्रदान	मूं-बें	आसाबें
अपादान	मूं-न	आसा-न
सम्बन्ध	मेरा, मेरे, मेरी	आसारा, रे, री
अधिकरण	मूं-न (पांधे)	आसा-न (पांधें)

उत्तमपुरुष एकवचन में हाऊं स्पष्टतः संस्कृत अहम् का विकसित रूप है, जो अपभ्रंश 'हाऊं' से कुलुई में आया है। 'हाऊं' शब्द थोड़ा-बहुत उच्चारण भेद के साथ पहाड़ी भाषा की सभी उप-भाषाओं में प्रचलित है। गढ़वाली और निमाड़ी में भी यह शब्द है। कुलुई में हिन्दी की भान्ति 'मुझ-मुझे, हम-हमें' आदि रूपों का प्रयोग नहीं होता बल्कि 'हाऊं' के तिर्यक रूप 'मूँ' तथा 'आसा' में कारक चिह्न संज्ञा शब्दों की भान्ति प्रयुक्त होते हैं।

'मूं' संस्कृत 'माम्' का दूसरा रूप है—सं० माम् > मां > मों > मूँ। 'आ' कुलुई में 'ओं' में बदल जाता है और अन्तिम 'ओं' का 'ऊ' में विकार हो जाता है। बंगला मुई, मु, आसामी मुँ, राजस्थानी मूँ, गढ़वाली मु, उड़िया मु और निमाड़ी 'म' से इसका रूप-साम्य है। 'मैं' का उच्चारण ठीक हिन्दी 'मैं' जैसा नहीं है, बल्कि 'मय' सा है जो संस्कृत के 'मया' के अधिक निकट है और प्राकृत मई, अपभ्रंश 'मि' द्वारा निष्पन्न हुआ है।

बहुबचन आसें में संस्कृत असमद् के रूप सुरक्षित हैं। मूल रूप में इसका आधार वैदिक 'अस्मे' है—अस्मे > अस्से > आसे। संस्कृत अस्मभ्यम् के लिए आसाबै, अस्मात् के लिए आसा-न, अस्माकम् के लिए आसारा शब्दों में संस्कृत रूप विद्यमान हैं। यहां यह

स्पष्ट करना जरूरी होगा कि 'आसारा' आदि शब्दों में 'आ' अग्र विवृत स्वर अऽ है जो हिन्दी अ से अधिक तथा आ से कम है। उपर्युक्त आसा शब्द न असा है न ठीक आसा, बल्कि दोनों के बीच का उच्चारण है। इस तरह अस्मद के विभिन्न विभक्तियों के कारक रूप ठीक संस्कृत के निकट हैं। सम्बन्ध कारक बहुबचव में 'आसा रा-रे-री' स्थान पर हिन्दी 'हमारा-रे-री' का भी कुछ ध्वनि परिवर्तन के साथ 'म्हारा-रे-री' के रूप में प्रयोग मिलता है। आसा रा-रे-री और 'म्हारा-रे-री' का प्रयोग समान रूप से प्रचलित है और एक दूसरे का स्थान ले सकते हैं, कोई भेद नहीं है। अन्य किसी विभक्ति में 'म्ह' का प्रयोग नहीं मिलता, केवल 'आसा' शब्द ही प्रचलित है।

मध्यमपुरुष

कुलुई में पुरुषवाचक मध्यमपुरुष एकबचन तू और बहुबचन तुसेँ है। इसके कारकों सम्बन्धी रूप इस प्रकार हैं:--

	एकबचन	बहुवचन
कर्ता	तू, तेँ, तौ	तुसेँ
कर्म	तौ-बेँ, तू	तुसा-बेँ, तुसेँ
करण	तेँ, तौ (सोंगेँ)	तुसेँ, तुसा (सोंग)
सम्प्रदान	तौबेँ	तुसाबेँ
अपादान	तौ-न	तुसा-न
सम्बन्ध	तेरा, रे, री	तुसारा, रे, री
अधिकरण	तौ-न (पांधेँ)	तुसा-न (पांधेँ)

तू हिन्दी तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में मामूली ध्वनिपरिवर्तन के साथ विद्यमान है। विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'त्वम्' से मानी है। 'तौ' तू का विकारी रूप है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत त्वाम से मान्य है—त्वाम > त्वाअ > तौ। इसी के साथ अन्य परसर्गों या प्रत्ययों का प्रयोग होता है—तौ-बे, तौ-न, तौ-पांधे, तौ-सोंगे, तौ बाभी आदि। कर्ताकारक में 'ने' के अर्थ के लिए कुलुई विभक्ति 'एँ' एवं करण की इसी विभक्ति 'एँ' के संयोग से 'तू' का तिर्यक रूप 'तेँ' बना है। इसका प्रयोग भी इन्हीं दो कारकों की अभिव्यक्ति अर्थात् 'ने' और 'से' के लिए होता है—तेँ रोटी खाई (तूने रोटी खाई), तँ न्होली केरी (तुझसे न किया जा सका)। ध्वनि-परिबर्तन से इसका 'तैं' रूप भी प्रचलित है। ब्रज, अवधि, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी भाषाओं में भी तैं प्रचलित है और डा० भालचन्द्र राव तेलंग इसकी उत्पत्ति त्वया+एन से मानते हैं।[1] एन करणकारक की विभक्ति है और अनुस्वार की मूल स्रोत है। सम्बन्धकारक एकबचन में ठीक हिन्दी की तरह तेरा, तेरे, तेरी रूप प्रचलित हैं।

बहुवचन में 'तू' से 'तुसेँ' का रूपान्तरण 'हाऊँ' से 'आसे' के अनुकूल हुआ है। तुसेँ का रूप संस्कृत के 'युष्य' से मान्य है। संस्कृत के 'युष्य' का 'यु' प्राकृय में ही 'तु'

1. डा० भालचन्द्र राव तेलंग : छतीसगढ़ी, हलबी भतरी बोलियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन पृ० 129.

में बदल चुका था और 'ष्' का 'स' होना बड़ा स्वाभाविक है—सं० युष्य>तुष्य>तुस्य >तुसें। इसे प्रायः 'तुसैं' उच्चरित होते भी सुना जाता है। सम्बन्धकारक में जिस प्रकार 'आसारा-रे-री' के स्थान पर "म्हारा-रे-रो" समरूप से पर्याप्त प्रचलित है, वैसे 'तुसारा-रे-री' के स्थान पर 'तुम्हारा-रे-री का प्रयोग तो प्रचलित नहीं है, परन्तु ऊझी वादी में 'तुहरा, तुहरे, तुहरी' रूप अवश्य प्रचलित हैं। वहाँ तुसारा-रे-री की बजाय तुहरा-रे-री का प्रयोग है, जो हिन्दी के प्रभाव के कारण है। हिन्दी 'तुम्हारे' में से 'म्' का लोप हो गया है और 'हकार' मृदु हो गया है। **तुसारा** की व्युत्पत्ति युष्म+कार से मानी जानी चाहिए।

अन्यपुरुष

कुलुई का तृतीय पुरुष पुरुषवाचक सर्वनाम 'सो' तथा बहुवचन 'ते' है। उत्तम पुरुष हाऊं और मध्यमपुरुष तू के रूप सब कारकों में पुल्लिग और स्त्रीलिंग के समान रहते हैं। परन्तु अन्य पुरुष में 'सो' (वह) के रूप एक वचन में लिंग-भेद अनुसार बदल जाते हैं बहुवचन समान रहते हैं। यह नीचे लिखी रूपावली से स्पष्ट हो जाता है :—

सो (वह, पुल्लिंग)

कर्ता	सो, तेईएँ	ते, तिउंआ, तिन्हे
कर्म	तेईबें, सो	तिन्हाबें, ते
करण	तेईएँ, तेई (सोंगें)	तिन्हे, तिन्हा (सोंगें)
सम्प्रदान	तेईबें	तिन्हा-बें
अपादान	तेई-न	तिन्हा-न
सम्बन्ध	तेईरा, रे री	तिन्हारा, रे, री
अधिकरण	तेई-न, तेई (पांधें)	तिन्हा-न, तिन्हा (पांधें)

'सो' शब्द संस्कृत का सः और प्राकृत सो है। कुलुई में 'अ' या विसर्ग [:] को ओं में बदलने की प्रवृत्ति है। बहुवचन 'ते' ठीक संस्कृत का तत्सम 'ते' शब्द है, इसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आया है। सो से तेई विकारी रूप है और शेष कारकों में इसी से रूपान्तरण हुआ है, बहुवचन में 'ते' से 'तिन्हा' विकारी रूप है और इसीके साथ विभिन्न विभक्ति चिह्न लगे हैं।

उत्तमपुरुष तथा मध्यमपुरुष की अपेक्षा अन्यपुरुष का रूपान्तरण अधिक सरल और युक्तिसंगत है। उत्तम और मध्यम में चार-चार रूप हुए हैं—हाऊं, मैं, मूँ तथा सम्बन्ध के लिए मेरा; इसी तरह तू, तें, तौ और सम्बन्ध के लिए तेरा। अन्य पुरुष में एकवचन **सो** से तिर्यक रूप तेई बना और यह सभी कारकों, परसर्गों या प्रत्ययों के लिए एक रूप से प्रचलित रहा—तेई-बें, तेई-न, तेईरा, तेई सोंगें, तेई पांधें, तेई लाइया आदि। इसी तरह बहुवचन में **ते** से **तिन्हा** तिर्यक रूप बिना विकार के प्रचलित होता है—तिन्हा-बें, तिन्हा-न, तिन्हारा, तिन्हा पांधें आदि। **तेई** की उत्पत्ति करणकारक **तेन** से मानी जानी चाहिए—तेन>तेंहि>तेई। तिन्हा (अथवा तिनहा) रूप कई

भाषाओं में मिलता है। पुरानी हिन्दी में निश्चयवाचक सर्वनाम 'जो...सो' के लिए 'जौन...तौन' का प्रयोग मिलता है, और तौन का तिर्यक रूप एकवचन और बहुवचन में तिसने—तिन्हों ने, तिसको—तिनको चलता था। विद्वानों ने तिनहा (तिन्हा) की व्युत्पत्ति बहुवचन प्रत्यय अन्<संस्कृत आनाम् से स्वीकार की है।[1]

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, अन्यपुरुष एकवचन 'सो' के रूप लिंग-भेद अनुसार बदल जाते हैं। बहुवचन में रूप समान रहते हैं—तिन्हाबें, तिन्हारा आदि दोनों लिंगों के लिए समान रूप से प्रयुक्त होते हैं; परन्तु एकवचन में स्त्रीलिंग के रूप भिन्न हैं, जो इस प्रकार हैं—

सो (वह, स्त्रीलिंग)

कर्ता	सो, तेसें	सम्प्रदान	तेसावें
कर्म	तेसाबें, सो	अपादान	तेसा-न
करण	तेसें, तेसा (सोंगें)	सम्बन्ध	तेसारा, रे, री
अधिकरण	तेसा-न, तेसा (पांधें)		

यहाँ संस्कृत के रूप सुरक्षित हैं। तस्यै के लिए तेसाबें, तस्मान् के लिए तेसा-न, तस्याम् के लिए तेसा-न में संस्कृत के साथ निकट समानता परिलक्षित होती है। सो का रूप नपुंसक लिंग में नहीं होता, परन्तु वस्तु के लिंग भेद के अनुसार उपर्युक्त रूप से सो के विभिन्न रूप सभी अन्यपुरुष सर्वनामों के लिए प्रयुक्त होते हैं।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि कर्ताकारक विभक्ति-रहित रूप 'सो' दोनों लिंगों के लिए समान है—सो नौठा (वह गया), सो नौठी (वह गई)। इसी प्रकार बहुवचन भी हिन्दी की तरह दोनों लिंगों के रूप समान हैं—ते नौठें (वे गए), ते नौठी (वे गई), तिन्हारा घौर कौ सा (उनका घर कहां है—दोनों लिंगों के लिए)। परन्तु एक वचन में पुल्लिग में 'सो' का विकारी रूप 'तेई' बना और स्त्रीलिंग में 'तेस'। अकारान्त होने के नाते 'तेस' में पुनः विकार 'तेसा' या 'तेसें' हो जाता है—तेईएँ बोलू 'उस (लड़के) ने कहा', तेसें बोलू 'उस (लड़की) ने कहा', तेई मौरदा री टोपी आण (उस मरद की टोपी ले आ) तेसा बेटड़ी रा थीपू आण (उस स्त्री का दुपट्टा ले आ) आदि।

2. निजवाचक सर्वनाम

कुलुई में अपने-आप के लिए "आपु" शब्द का प्रयोग होता है, इसीलिए 'आपु' शब्द निजवाचक सर्वनाम कहलाता है, क्योंकि 'आपु' से निजत्व का बोध होता है। हिन्दी, ब्रज, बुन्देली, निमाड़ी आदि भाषाओं में निजवाचक के रूप में 'आप' का प्रयोग होता है। कुलुई 'आपु' की उत्पत्ति संस्कृत 'आत्मन्' से हुई है। संस्कृत आत्मन् के लिए प्राकृत में अप्प तथा अत्त रूप प्रचलित थे। इनमें से अप्प आगे प्रचलित रहा और इसी से 'आप' का निष्पादन हुआ। अतः कुलुई 'आपु' भी संस्कृत 'आत्मन्'>प्राकृत 'अप्प'

---

1. डा० भालचन्द्र राव तेलंग : छत्तीसगढ़ी, हलबी, भरती बोलियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन पृ० 130.

से व्युत्पन्न हुआ है। संयुक्त रूप में प्राकृत 'अप्प' उसी रूप में भी सुरक्षित रहा है, जैसे—'अप्प-आपणा कोम केरा' में अप्प विद्यमान है। सम्बन्धकारक में अन्तिम उ-मात्रा का लोप हो जाता है तथा आपणा रूप प्रचलित है। केवल इसी शब्द में सम्बन्ध कारक के चिह्न णा-णे-णी प्रयुक्त होते हैं, अन्यथा रा-रे-री का ही प्रयोग होता है। प्राकृत में भी अप्प का षष्ठी रूप 'अपणा' था।

कुलुई 'आपु' शब्द हिन्दी में प्रयुक्त 'तू' या 'तुम' के लिए आदरसूचक शब्द 'आप' नहीं है, और न ही इस रूप में इसका प्रयोग मिलता है। आदर के लिए कुलुई में प्रायः 'तू' के बहुवचन 'तुसे' के रूप प्रयुक्त होते हैं, और 'तुसे' शब्द आदर, मान, नम्रता के लिए एकवचन रूप में आम प्रयुक्त होता है। 'आपु' का मूल प्रयोग 'स्वयं' जैसा है, यद्यपि इसका प्रयोग-क्षेत्र स्वयं तक सीमित नहीं है। 'आपु' के एकवचन और बहुवचन में समान रूप रहते हैं, दोनों के लिए भिन्न रूप नहीं होते, तथा सभी विभक्तियों में इसका प्रयोग होता है—जैसे, कर्त्ता-विभक्ति रहित 'आपु', विभक्ति सहित 'आपुएँ' (आपुएँ ता मौर, लो० क०), कर्म 'आपु-बें' गोशटें' होरी बें' गुरुज्ञान, (लो०), करण 'आपुएँ', सम्प्रदान 'आपु-बें'', अपादान 'आपु-न' सम्बन्ध 'आपणा-णे-णी', अधिकरण 'आपु-न, आपु पाँधे'' आदि।

निजवाचक आपु सभी पुरुषवाचक सर्वनामों के साथ प्रयुक्त होता है, जैसे—मूं आपु जाणा, तू आपु जा, तेई आपु एणा आदि। वास्तव में 'आपु' से पहले तीनों पुरुष वाचक सर्वनामों में सी किसी एक का आना जरूरी है। 'आपुएँ लिख' आदि प्रयोग में भी मध्यम पुरुष गुप्त रूप में विद्यमान है अर्थात् 'तू आपु लिख'।

3. निश्चयवाचक सर्वनाम

कुलुई में निश्चयवाचक सर्वनाम दो हैं—'ए' और 'सो'। परन्तु दोनों में निकट-वर्ती और दूरवर्ती का भेद नहीं है जैसा कि प्रायः अन्य भाषाओं में होता है। इन दोनों में भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष का है। जो प्रत्यक्ष हो वह 'ए' (यह) है जो परोक्ष हो वह 'सो' (वह)। दूर और निकट का प्रभाव 'ए' द्वारा ही दिखाया जाता है। दूरवर्ती भाव के लिए 'ए' के साथ अन्य शब्द आते हैं, जैसे—पारला ए (पार का यह अर्थात वह); ए की सा (यह क्या है), पारला ए की सा (वह क्या है)। दूरवर्ती के लिए यहां 'सो' का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'सो' तथा उसके विकारी रूपों का प्रयोग भूतकालिक अव-स्थाओं में ही होता है। इससे 'सो' के परोक्ष होने का भाव स्पष्ट होता है, दूरवर्ती का नहीं। कुलुई में जब तक परोक्ष की भावना न हो, 'सो की सा' कहना अशुद्ध है। इससे "वह क्या है" का भाव प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'सो' के परोक्ष होने के कारण 'सो की थी' कहना ही उचित है। दूरवर्ती के लिए कोई दूसरा सर्वनामी शब्द भी नहीं है। यदि 'सो' के विकारी रूपों का वर्तमान या भविष्यत में प्रयोग हो तो भी उनसे परोक्ष-भाव का ही प्रकटन होगा, दूरवर्ती का नहीं—तेई पाथरा कुण चौकला (उस पत्थर को कौन उठाएगा) वाक्य में 'पत्थर' सामने नहीं है, न निकट सामने, न दूर सामने, बल्कि कहीं छुपा हुआ है। एक बार एक कुल्लू के बच्चे को अंग्रेजी वाक्यों 'व्हट इज़ दिस'

और 'व्हट इज़ देट' का अर्थ समझाना कठिन हो गया। उसे हिन्दी का ज्ञान नहीं था। सीधे *अंग्रेज़ी माध्यम* से पढ़ाई शुरू थी। उसे 'पारला ए की सा' द्वारा 'पारला' अलग शब्द लगाकर ही संतुष्ट कराना पड़ा।

प्रत्यक्ष निश्चयवाचक सर्वनाम का मूल विभक्ति रहित रूप 'ए' है जो एकवचन में है, बहुवचन में इसका रूप 'ये' हो जाता है। विभक्ति-रहित अवस्था में पुल्लिग और स्त्रीलिंग में कोई भेद नहीं है—ए मौरद सा (यह मरद है), ए बेटड़ी सा (यह स्त्री है)। परन्तु विकारी रूप में वचन के आधार पर भी और लिंग-भेद पर भी दोनों में अन्तर है। लिंग के भेद पर ऐसे रूप द्वारा हिन्दी से भिन्नता परिलक्षित होती है। पुल्लिग में 'ए' के विभक्ति रूप इस प्रकार होंगे—

'ए' (यह, पुल्लिग)

कारक	**एकवचन**	**बहुवचन**
कर्त्ता	ए, एईएँ	ये, इउंआ, इन्हें
कर्म	एईबें, ए	इन्हा-बें, ये
करण	एईएँ, एई सोंगें	इन्हें, इन्हा सोंगें
सम्प्रदान	एई-बें	इन्हा-बें
अपादान	एई-न	इन्हा-न
सम्बन्ध	एईरा-रे-री	इन्हारा-रे-री
अधिकरण	एई-न, एई पांधें	इन्हा-न, इन्हा पांधें

'ए' की उत्पत्ति संस्कृत 'एतद्' से हुई है। 'द्' का लोप हो गया है। 'त' पहले श्रुति में बदल गया है (कुलुई में 'त' की श्रुति में बदलने की प्रवृति है जैसे सेतु से सेऊ)। यही श्रुति 'ए' के विकारी रूप में 'एई' में बदल गई है। बाद में मूल रूप में श्रुति का भी लोप हो गया है—एतद् > एतअ > एई > ए। प्राकृत में भी 'यह' के लिए **एअ** शब्द प्रचलित था, जो अपभ्रंश में **एह** में बदल गया। अन्तिम अक्षर के लोप द्वारा यह शब्द कुलुई में 'ए' रूप में पहुंचा है। बहुवचन मे 'इन्हा' के रूप 'सो' पुरुषवाचक के बहुवचन 'तिन्हा' के अनुकूल हुए हैं। कर्ताकारक में बहुवचन 'ये' का दूसरा रूप 'इउंआ' संस्कृत के शब्द 'इमाः' का विकृत आकार है। कुलुई में 'म' प्रायः 'उँ' या 'ऊं' में बदल जाता है, जैसे 'हिम' से 'हिऊं' तथा स्वर के निकट बाद का दूसरा स्वर मात्रा से पूर्ण अक्षर में बदल गया है—इमाः > इउंआ। चूंकि कुलुई में 'ए' (यह) के बहुवचन रूप पुल्लिग और स्त्रीलिंग में समान रहते हैं, और केवल एकवचन में अन्तर आता है, इसलिए संस्कृत स्त्रीलिंग बहुवचन 'इमाः' से 'इउंआ' बनना अधिक अस्वाभाविक नहीं है। 'ए' के स्त्रीलिंग रूप इस प्रकार हैं :—

'ए' (यह, स्त्रीलिंग)

कारक	**एकवचन**	**बहुवचन**
कर्ता	ए, एसें	ये, इउंआ, इन्हें

कर्म	एसाबें, ए	इन्हाबें, ये
करण	एसें, एसा (सोंगें)	इन्हें, इन्हा (सोंगें)
सम्प्रदान	एसाबें	इन्हाबें
अपादन	एसा-न	इन्हा-न
सम्बन्ध	एसारा, रे, री	ईन्हारा, रे, री
अधिकरण	एसा-न, एसा (पांधें)	इन्हा-न, इन्हा (पांधे)

स्पष्ट है कि 'ए' के बहुवचन के लिए पुल्लिग और स्त्रीलिंग रूप समान हैं, परन्तु एकवचन में विभिन्नता है। 'एई' पुल्लिग के स्थान पर 'एस' स्त्रीलिंग में 'ए' का विकारी रूप है, तथा संस्कृत अस्यै के लिए एसाबें, अस्याः के लिए एसारा, अस्याम् के लिए एसा-न रूपों में इनका संस्कृत से सीधा सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

उपर्युक्त एई (पुल्लिग) और एसा (स्त्रीलिंग) के अतिरिक्त कुल्लू के कुछ भागों में 'ए' का एक अन्य विकारी रूप भी प्रचलित है—'उंई', जो प्रायः निर्जीव वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होता है, और दोनों स्त्रीलिंग और पुल्लिग के लिए समान रूप से प्रचलित है—'उंई री तांइए सी तीर्थ तुहार' (लो० गी०), उंई-न की डाहुदा (इसमें क्या रखा है)। 'उंई' को संस्कृत नपुंसक लिंग 'अदस्' का रूप मानना चाहिए जो इसके बहुवचन 'अमूनि' से व्युत्पत्त हुआ है। कुलुई में 'म' का अनुस्वार में बदलना बड़ी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। उंई शब्द में सभी कारकचिह्न और परसर्ग आदि जुड़ जाते हैं—उंईएँ, उंई-बें, उंई-न, उंई पांधें आदि।

परोक्ष निश्चयवाचक सर्वनाम के लिए कुलुई शब्द 'सो' है। यह अन्यपुरुष पुरुष-वाचक सर्वनाम भी है, और वहीं इस पर व्याख्या की जा चुकी है।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम

अनिश्चयवाचक सर्वनाम के लिए कुलुई में **'कोई' और किछ्'** का प्रयोग होता है, परन्तु इनमें केवल कोई के सब कारकों में रूपान्तरण होता है, किछ् का नहीं। किछ् का प्रयोग बहुधा विशेषण के समान होता हैं। यह संस्कृत शब्द 'किंचित्' है, जो प्राकृत 'किंची' से 'किछ्' बना है। किछ् के साथ 'की' का बहुत प्रयोग होता है। यहां 'की' चीज या वस्तु के भाव में प्रयुक्त होता है। एइएँ किछ् की शोटू (इसने कुछ फेंका या कोई चीज फेंकी) : मेरी मुठीन किछ् की सा (मेरी मुट्ठी में कोई चीज या कुछ है)। 'कोई' की कारक रचना केवल एकबचन में होती है। विभिन्न कारकों में इसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता, 'कोई' के साथ विभिन्न विभक्ति प्रत्यय लगते हैं। कोई का प्रयोग कुलुई में हिन्दी 'किसी' के लिए भी होता है—कोईबें हेरी दसदा (किसी को मत बताना), कोईएँ ता बोलू होला (किसी ने तो कहा होगा), कोईरा बुरा नी केरना (किसी का बुरा नहीं करना चाहिए)। कोई के साथ जो और सेभ विशेषण प्रायः प्रयोग में आते हैं, जैसे—जो कोई (या सेभ कोई) आंदराफेट (भाव हर कोई या सब कोई अन्दर आते हैं)। हिन्दी में 'कोई' के साथ जब विभक्ति प्रत्यय लगते हैं तो यह 'किसी' में बदल जाता है। परन्तु कुलुई में इस तरह का परिवर्तन नहीं आता। शब्द मूल रूप में रहता है और

उसमें कारक जुड़ जाते हैं :—

कर्ता	(i) कोई
	(ii) कोईएँ
कर्म	कोई-बेँ
करण	कोईएँ, कोई सोंगेँ
सम्प्रदान	कोई-बेँ, कोई री तांइएँ,
अपादान	कोई-न
सम्बन्ध	कोईरा-रे-री
अधिकरण	कोई-न, कोई पांधेँ ।

'कोई' में लिंग या वचन के आधार पर कोई अन्तर नहीं आता । 'कोई' की उत्पत्ति संस्कृत कोऽपि से स्पष्ट है। इसका प्राकृत रूप 'कोवि' था। 'कोई' का प्रयोग प्रायः जीव-प्राणियों के लिए होता है, और 'किछ' निर्जीव वस्तुओं के लिए। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, मूल रूप में 'किछ' का प्रयोग प्रायः विशेषण की तरह होता है। इसमें कोई विभक्ति प्रत्यय या परसर्ग नहीं जोड़ा जा सकता। "किछ-बेँ, किछ-न, किछ-पांधेँ" ऐसे रूप कुलुई में सम्भाव्य नहीं हैं। परन्तु यदि 'किछ' के साथ 'की' जोड़ दिया जाए तो फिर 'किछकी' रूप में सभी प्रकार के प्रत्यय या परसर्ग आदि जोड़े जा सकते हैं और निर्जीव वस्तुओं के भाव में अभिव्यक्ति हो जाती है—किछकीएँ (किसी चीज़ ने अथवा द्वार), किछकी-न (किसी चीज़ में), किछकी-बेँ (किसी चीज़ के लिए), किछकी पांधेँ, किछकी री तांइये आदि।

5. सम्बन्धवाचक सर्वनाम

मूल रूप में सम्बन्धवाचक सर्वनाम का वास्तविक शब्द 'ज़ो' है, यद्यपि यह 'ज़ुण' और 'ज़ौस' रूप में भी प्रचलित है। 'ज़ो' का सीधा सम्बन्ध संस्कृत 'यः' से है। 'श्रुति' शीर्ष के अधीन पहले ही उदाहरण सहित यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कुलुई में 'य' अक्षर 'ज' में बदल जाता है। विशेषतः आरम्भिक 'य' अवश्य ही 'ज' में बदल जाता है। और फिर व्यंजन ध्वनि के अन्तर्गत यह भी निर्दिष्ट किया जा चुका है कि कुलुई में तालव्य 'ज' वर्त्स्य 'ज़' में बदल जाता है, तथा विसर्ग (:) का 'ओँ' में बदलना बड़ा स्वाभाविक है। अतः सं० यः > जः > जो > ज़ो होना स्पष्ट है। 'ज़ो' में लिंग के आधार पर कोई भेद नहीं आता—ज़ो शोहरू एला बशाई (जो लड़का आएगा, बिठा देना), ज़ो शोहरी एली बशाई। इसी तरह वचन के आधार पर भी अन्तर नहीं आता—ज़ो घोड़े शेतेँ थी, ज़ो घोड़ा शेता थी आदि।

'ज़ो' शब्द विशेषण की तरह प्रयुक्त होता है। इसके साथ विभक्ति प्रत्यय या परसर्ग नहीं जुड़ सकते। ज़ो-बेँ, ज़ो पांधेँ, ज़ो सेंई आदि प्रयोग सम्भव नहीं है। परन्तु 'ज़ो' का दूसरा रूप 'ज़ुण' है, जिसकी व्युत्पति संस्कृत यः + पुनः से सम्भाव्य है—सं० यः + पुनः > जोपुन > जपुण > जउण > जुण > ज़ुण। 'ज़ुण' का सप्रत्यय तिर्यक रूप 'ज़ुणी' हो जाता है। केवल कर्ताकारक में अस्तित्व सूचक रूप में 'ज़ुण' का बहुवचन

'ज़ुणा' भी बन जाता है—ज़ुण हीज एज़ीरा थी (जो कल आया था) परन्तु ज़ुणा हीज एज़ीरें थी (जो कल आए थे)। इस बहुवचन ज़ुणा का रूपान्तरण नहीं होता। न 'ज़ुण' में कोई लिंग भेद आता है, बल्कि दोनों वचनों और दोनों लिंगों में एक ही रूप प्रचलित है, जो इस प्रकार है :—

कर्ता	ज़ुण, ज़ुणीएँ, ज़ो
कर्म	ज़ुणीबें, ज़ुण
करण	ज़ुणीएँ (सोंगें)
सम्प्रदान	ज़ुणीबें
अपादान	ज़ुणी-न
सम्बन्ध	ज़ुणीरा-रे-री
अधिकरण	ज़ुणी-न (पांधें)

'ज़ो' का एक तीसरा रूप ज़ोस भी प्रचलित है जो 'ज़ौसा' में विकृत हो जाता है—ज़ौसारा बियाह तेइबें औधला बौड़ा (लो०)(जिसका विवाह हो उसे आधा भल्ला), ज़ौस कौसी बें मौत शदांदा (जिस किसी को मत बुलाओ)। 'ज़ौस' शब्द कर्ताकारक रूप में प्रयुक्त नहीं होता, न सप्रत्यय रूप में न अप्रत्यय रूप में। अतः स्पष्ट है कि ज़ौस का सम्बन्ध संस्कृत यस्य रूप से है—सं० यस्य > जस्य > जस > ज़ौस। उपर्युक्त ज़ो, ज़ुण और ज़ौस तीनों शब्दों के प्रयोग को और अधिक स्पष्ट करना ज़रूरी होगा—

(1) जैसा कि ऊपर लिखा गया है 'ज़ो' शब्द केवल कर्ताकारक अप्रत्यय रूप में प्रयुक्त होता है, अन्यथा नहीं। ठीक इसके विपरीत 'ज़ौस' का कर्ताकारक में प्रयोग नहीं होता, अन्य में होता है और 'ज़ुण' का प्रयोग सभी रूपों में होता है।

(2) कर्ताकारक में जहाँ 'ज़ो' और 'ज़ुण' का प्रयोग होता है, दोनों एक दूसरे का स्थान ले सकते हैं—'ज़ो बोलला' या 'ज़ुण बोलला', 'ज़ो माण्हु' या 'ज़ुण माण्हु' आदि।

(3) अन्य कारकों में 'ज़ुण' और 'ज़ौस' एक-दूसरे का स्थान ले सकते हैं—ज़ुणी-बें या ज़ौसा-बें, 'ज़ुणी सोंगें' या ज़ौसा सोंगें, ज़ुणी (या ज़ौसा) पांधें आदि।

(4) ज़ो के साथ प्रायः सो का संयोग होता है—ज़ो बोलला सोएँ दरुआज़ा खोलला (लो०), ज़ो खाणा सो देणा मूं, ज़ो हारला सो रोला बी आदि।

(5) अप्रत्यय कर्ताकारक में ज़ो...सो के स्थान पर कभी-कभी ज़ुण...सो भी प्रयुक्त होता है। 'ज़ुण हीज एज़ीरा थी सो नौठा'। परन्तु यदि ऐसी तुलना के वाक्यों में ज़ुण का बहुवचन ज़ुणा का प्रयोग हो तो 'सो' नही आता बल्कि अन्य पुरुष का सम्बन्धित रूप प्रयुक्त होता है—ज़ुणा हीज एज़ीरें थी, ते न्हौठे। ज़ुणीएँ गुआऊ तेईएँ बणाऊ, ज़ुणी बेटड़ीएँ रोटी बणाई तेसें खाई आदि।

(6) संयुक्त रूप में 'ज़ो' के साथ अनिश्चयवाचक सर्वनाम 'किछ़' का प्रयोग होता है—ज़ो किछ़ मौत बौकदा (जो कुछ न बक)। जीव-प्राणी की स्थिति में 'किछ़' की जगह 'काई' का प्रयोग होता है—ज़ो-कोई आंदरे मीथर, ज़ो-कोई मौत शाददा आदि।

(7) ज़ुण के साथ ऐसा संयुक्त प्रयोग नहीं होता। परन्तु ज़ौस के साथ कौस

का प्रयोग होता है—जौस कौसी सोंगे मौत हुडंदा, जौस कौसी लेइया आऊ आदि।

6. प्रश्नवाचक सर्वनाम

कुलुई में प्रश्नवाचक सर्वनाम दो हैं—'कुण' और 'की'। कुण का प्रयोग प्रायः सजीव प्राणियों के लिए होता है और की निर्जीव वस्तुओं के लिए, जैसे—तुसारी धीरे कुण आहुदा (आपके घर कौन आया है)। परन्तु, कोठड़ी-न की सा (कोठड़ी में क्या है)। इस दृष्टि से 'कुण' अनिश्चयवाचक 'कोई' और 'की' अनिश्चयवाचक 'किछ' के समानानुकूल हैं।

'कुण' की व्युत्पत्ति भी 'यः+पुनः=जुण' की भान्ति 'कः+पुनः=कुण' के रूप हुई है। जुण में ध्वनि परिवर्तन के कारण अधिक भेद लक्षित होता है, पुरन्तु कः पुनः से कुण में इतना अन्तर दिखाई नहीं देता। अपभ्रंश में इस का रूप **कवण** था—सं० कः+पुनः > कः+उण > कवण > कुण। विभक्ति प्रत्यय लगने पर कुण शब्द कुणी में विकृत हो जाता है जिस प्रकार जुण शब्द जुणी में हुआ है। यह संस्कृत की षष्ठी विभक्ति कस्मिन् के प्रभावाधीन है। लिंग के आधार पर कुण या इसके विकृत रूप कुणी में कोई अन्तर नहीं आता, जैसे—कुण आऊ (कौन आया), कुण आई (कौनआई)), कुणी शोहरू बे धीना, कुणी शोहरी बे धीना आदि। परन्तु वचन के आधार पर अप्रत्यय कर्त्ताकारक अस्तित्व सूचक में 'कुण' एकवचन' कुणा' बहुवचन में बदल जाता है—बाहरें कुण सा (बाहर कौन है), बाहरें कुणा सी (बाहर कौन हैं)। इसके विपरीत अन्य कारकों में प्रत्यय लगने पर वचन के आधार पर कोई भेद नहीं आता। कुण का विकृत रूप कुणी दोनों वचनों में समान रूप से प्रचलित है। कुणी में सभी प्रत्यय या परसर्ग जुड़ जाते हैं—कुणीएँ, कुणी-बे, कुणी-न, कुणी पांधे आदि।

जुण के जौस रूप की तरह ही 'कुण' का एक दूसरा रूप 'कौस' भी है, जो संस्कृत 'कस्य' से विकसित हुआ है। कौस शब्द कर्त्ताकारक अप्रत्यय रूप में प्रयुक्त नहीं होता। इसका प्रयोग केवल अन्य कारकों में होता है जब यह कारक प्रत्यय लगने से पहले कौसा में बदल जाता है—बोट कौसा-बे देणा (वोट किसको दोगे), तौ कौसा-न ज़ोतणा (तू ने किस से जीतना है), ए बौल्द कौसा रा सा (यह बैल किस का है) आदि। ऐसे प्रयोग में 'कुणी' और 'कौसा' एक दूसरे का स्थान ले सकते हैं—कौसा-बे देणा या कुणी-बे देणा, कौसा-न या कुणी-न ज़ोतणा, कौसा-रा या कुणी-रा सा आदि।

निर्जीवमूलक प्रश्नवाचक सर्वनाम 'की' संस्कृत शब्द 'किम्' का संक्षिप्त रूप है। अपभ्रंश में इसके लिए 'कीआ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अन्तिम स्वर लोप के कारण कुलुई 'की' की व्युत्पत्ति स्वीकार्य है। मूल रूप में 'की' का रूप कर्त्ताकारक अस्तित्व सूचक में इसी प्रकार रहता है और लिंग अथवा वचन के आधार पर कोई अन्तर नहीं आता—ए की सा (यह क्या है), ये की सी (ये क्या हैं ?) 'की' पूर्णतः केवल निर्जीव वस्तुओं के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता। तिरस्कार, अपमान या अभिमान प्रदर्शन करने के लिए सजीव प्राणियों के लिए भी 'की' का प्रयोग होता है—जैसे, तू की सा, तू आपु-बे की बूझा सा, तौ की केरना आदि। हिन्दी में 'क्या' की कारक रचना नहीं

होती। परन्तु कुलुई में 'की' का प्रयोग अन्य कारकों में भी होता है। तब यह 'कीज़ी' में बदल जाता है, और इसी रूप में सभी कारक प्रत्यय या परसर्ग इसमें जुड़ जाते हैं— कीज़ीऍं काटणा (किस चीज या काहे से काटें), कीज़ी-बें डाहणा (काहे को रखें), कीज़ी-न डाहणा (काहे में रखें) आदि। इस प्रकार प्रश्नवाचक दोनों सर्वनामों 'कुण' और 'की' की कारक-रचना निम्न प्रकार होगी जो लिंग या वचन के आधार पर किसी प्रकार परिवर्तित नहीं होगी :—

कारक	**कुण (कौन)**	**की (क्या)**
कर्त्ता	कुण, कुणीऍं	की, कीज़ीऍं
कर्म	कुण, कुणी-बें	की, कीज़ीबें
करण	कुणीऍं, कुणी-सोंगें	कीज़ीऍं, कीज़ी सोंगे
सम्प्रदान	कुणी-बें, कुणी री तांइये	कीज़ी-बें, कीज़ी री तांइये
अपादान	कुणी-न	कीज़ी-न
सम्बन्ध	कुणी रा-रे-री	कीज़ीरा-रे-री
अधिकरण	कुंणीं-न (पांधें)	कीज़ी-न (पांधें)

उपर्युक्त छः प्रकार के सर्वनामों के अतिरिक्त कुलुई में कुछ अन्य सर्वनाम भी प्रचलित हैं। समूहवाचक सर्वनाम के रूप में स्थानीय सर्वनाम 'सेभ' संस्कृत कर्त्ताकारक बहुवचन रूप 'सर्वे' से निष्पन्न हुआ है। यह बहुवचन रूप में ही प्रयुक्त होता है। कारक-प्रत्यय लगने पर यह 'सेभी' में बदल जाता है—सेभीऍं, सेभीबें, सेभी-न सेभी-सोंगें आदि। इसी तरह 'होर' शब्द भी सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त होता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'इतर' से माननी चाहिए। जब कारक प्रत्यय लगते हैं तो यह 'होरी' में बदल जाता है—होरीऍं (अन्य ने), होरीबे (अन्य को), होरी सोंगे (अन्य के साथ) आदि। अप्रत्यय कर्त्ताकारक में यह एकवचन में 'होर' तथा बहुवचन में 'होरा' हो जाता है।

कभी-कभी कुलुई में दो-दो सर्वनाम संयुक्त रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—

होर-कुण : होर कुण सा (और कौन है)
सेभ-कोई : सेभ कोई मूंगदें (सब कोई माँगते हैं)
सेभ-किछ : सेभ-किछ मन्हेरू (सब कुछ समाप्त किया)
जो-किछ : जो-किछ ढूणू (जो-कुछ कहा)
जो-कोई : जो-कोई शादें (जो-कोई बुला लिए)
जौस-कौस : जौस-कौसी मौत शाददा (जिस किसी को मत बुलाओ)

इसी क्रम में पुरुषवाचक सर्वनामों का प्रायः संयोग होता है—आसें-तुसें, आसें-सेभ, तुसें सेभ, ते-सेभ, आसें-आपु, तुसे-आपु, हाऊं-तू, आदि।

यहाँ कुछ विशेष सार्वनामिक विशेषणों का उल्लेख करना असंगत न होगा, क्योंकि इनका सर्वनामीय प्रयोग बड़ा व्यापक है। **एतरा, केतरा, जेतरा, तेतरा** तथा **एण्डा, केण्डा, जेण्डा, तेण्डा** दो श्रेणी के सार्वनामिक विशेषण इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। मूल रूप में इनका आधार तो मूल सर्वनाम शब्द हैं, परन्तु प्रयोग प्रायः

विशेषण रूप में ही होता है। इनमें 'रा-वाले' शब्द परिमाणवाचक तथा 'डा-वाले' शब्द प्रकार वाचक हैं।

एतरा, केतरा, जेतरा, तेतरा सर्वनाम "रा' प्रत्यय के संयोग से सम्पन्न हुए हैं। इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत **इयान्** से सम्भव है। अपभ्रंश में इसका रूप **एत्तुलो** था। कुलुई में 'ल' को 'र' में बदलने की प्रवृत्ति है।

एंडा, केंडा, जेंडा, तेंडा शब्दों पर अपभ्रंश प्रत्यय **बड्ड** का प्रभाव है। मूल रूप में ये एंडा <सं० एतादृश, केंडा <सं० कीदृश, जेंडा <सं० यादृश, तेंडा <सं० तादृश से सम्बन्धित हैं। 'दृश' से 'श' का लोप होने से 'दृ' संयोग से 'ड' में बदल गया है।

सर्वनाम के रूप में इनका प्रयोग मुख्यत: यौगिक स्थिति में होता है। नियमानुसार विशेषण के रूप में इनका प्रयोग संज्ञा से पहले होता है—एण्डा माण्हु (ऐसा आदमी) केतरें शोहरू (कितने लड़के)। परन्तु सार्वनामिक प्रयोग में इन प्रत्येक के साथ दूसरा सर्वनाम प्रयुक्त होता है—जैसे, 'एंडें एईबें नी मूं कोट देणा (इस जैसे को मैं कोट नहीं दूंगा)। इस वाक्य में एंडा सर्वनाम एईबें से पहले आया है, और हम देख चुके हैं कि एईबें निश्चयवाचक सर्वनाम 'ए' का कर्मकारक रूप है। इसी तरह 'तेंडें तेईरें नी मूं रौहणा' (उस जैसे के मैं नहीं रहूँगी) वाक्य में 'तेंडें' सर्वनाम तेईरें के पहले आया है और तेईरें निश्चयवाचक सर्वनाम 'सो' का सम्बन्धकारक रूप है। इन सर्वनामीय विशेषणों के सार्वनामिक संयोग के अन्य रूप इस तरह हैं—

एतरें इउंआ कौ-न आए (इतने ये कहाँ से आए)
केतरें-बोहू/थोडें
जेतरें थी तेतरें आण,
जेत-केतरें, जेंडें-केंडें,
एंडें ए/इउंआ/ते/तिउंआ

इस तरह के अन्य प्रयोग भी प्रचलित हैं। देवताओं के प्रति आभार प्रकट करते हुए उसके उपासक प्राय: कहते हैं—"तुसें सी तेएँ तेंडे" (आप हैं उस जैसे ही अर्थात् वैसी ही विशेषताओं वाले)। इस प्रकार सार्वनामिक विशेषणों के सर्वनाम के साथ संयुक्त प्रयोग से उनके मूल सर्वनाम रूप परिलक्षित होते हैं।

अध्याय—13

विशेषण

प्रयोग की दृष्टि से कुलुई विशेषण शब्द हिन्दी के समान हैं। इनका प्रयोग विशेष्य और विधेय दोनों प्रकार का मिलता है। अपने विशेष्य शब्दों से पूर्व आकर ये अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं—कालो गाई, लाल कुकड़, हौरे छेत, लेंगड़ा बौल्द आदि प्रयोग में काली, लाल, हौरे, लेंगड़ा विशेषण अपने विशेष्य शब्दों गाई, कुकड़, छेत, बौल्द से पूर्व आकर उनके गुण प्रदर्शित करते हैं। परन्तु कई बार संज्ञा शब्दों के बाद आ कर विशेषण शब्द अपने विशेष्य और क्रिया पद के बीच सम्बन्ध जोड़ते हैं—ए गाई कालो सा, सो कुकड़ लाल थी, छेत हौरे लागा थी, ए बौल्द लेंगड़ा सा। इन वाक्यों में विशेषण शब्दों का प्रयोग विधेय के रूप में है।

रूप की दृष्टि से कुछ विशेषण शब्द अपने विशेष्य के अनुसार लिंग भेद प्रदर्शित करते हैं—जैसे, काली घोड़ी, काला घोड़ा, काले घोड़े में विशेषण शब्द काला संज्ञा शब्द 'घोड़ा' के लिंग तथा वचन के अनुसार बदल गया है। यहाँ विशेषण का रूपान्तरण संज्ञा के अनुसार होता है। यहाँ कुलुई विशेषणों का प्रयोग हिन्दी के निकट हैं, पंजाबी के निकट नहीं है। पंजाबी में बहुवचन स्त्रीलिंग के साथ भी विशेषण का रूप बदलता है, जैसे कालीयां घोड़ीयां, चंगीयां कुड़ीयां। ऐसा प्रयोग कुलुई में सम्भाव्य नहीं है। यहाँ विशेषण शब्द का लिंग-रूप हिन्दी की तरह एकवचन में ही रहता है—कालो भेड़, तथा कालो भेड़ा, लाल कुकड़ी (एकवचन और बहुवचन में समान रूप)। इसी तरह पंजाबी में पुल्लिंग के सप्रत्यय बहुवचन में विशेषण के रूप संज्ञा के अनुसार बदल जाते हैं—जैसे, कालेयां घोड़ेयां नू, चंगेयां मुण्डेयां दा कम आदि। ऐसा प्रयोग भी कुलुई में प्रचलित नहीं है। वास्तव में, पहले लिखा जा चुका है कि कुलुई के अधिकतः संज्ञा शब्दों के एकवचन और बहुवचन रूप समान रहते हैं ('लिंग' और 'वचन' के अधीन देखें।) चूंकि संज्ञा मूल शब्द वचन के आधार पर सप्रत्यय और अप्रत्यय रूप में मुख्यतः समान रहते हैं, इसलिए विशेषण शब्दों का समान रूप में रहना भी स्वाभाविक है। परन्तु जहां बहुवचन में संज्ञा के रूप बदल भी जाते हैं, वहाँ भी विशेषण शब्द में उसके अनुरूप परिवर्तन नहीं आता। जैसे—काले इन्हा घोड़े बें देआ, बांके इन्हा शोहरू बें बशाआ आदि। कुलुई विशेषण पदों की अन्य विशेषताएँ निम्नलिखित विस्तृत विवरण में देखी जा सकती हैं।

कुलुई में भी चार प्रकार के विशेषण होते हैं : —

1. **गुणवाचक**
2. **संख्यावाचक**
3. **परिमाणवाचक**
4. **सार्वनामिक विशेषण**

1. गुणवाचक विशेषण

ये विशेषण संज्ञा या सर्वनामों की विशेषता या गुण दिखाते हैं। ये छः प्रकार के होते हैं :—

(1) **कालवाचक** विशेषण काल या समय दर्शित करते हैं, जैसे—पिछला दिहाड़ा, आगली रात, पुराणा ज़माना, नुआं चा़ला में पिछला, पुराणा, नुआं शब्द काल या समय को सूचित करते हैं, तथा कालवाचक कहलाते हैं। कुलुई में बहुत से काल-वाचक विशेषण 'का' प्रत्यय लगाने से बनते हैं। संज्ञा शब्दों में 'का' जोड़ने से काल-वाचक विशेषण बनते हैं, जिनका कालवाचक क्रिया-विशेषण के रूप में भी प्रयोग होता है—जैसे, दिहाड़ (दिन)—दिहाड़का (दैनिक), बौरश (वर्ष)—बौरशका (वार्षिक)। इसी तरह हीज़का, दोतका, सोंझका आदि। 'का' प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत 'काल' से हुई है। "**श्रुति**" के अन्तर्गत लिखा जा चुका है कि कुलुई में ल़ श्रुति में बदल जाता है। श्रुति के लघु हो जाने से उसका लोप हो जाता है। यथा, संस्कृत काल>काल़>कअ >का।

(2) **स्थानवाचक** विशेषण स्थान का बोध कराते हैं—बाहरला ओबरा, हांदरला दरुआज़ा, सोहरला समान आदि में बाहरला, हांदरला, सोहरला शब्द स्थानवाचक विशेषण हैं क्योंकि ये स्थान विशेष के द्योतक हैं। स्थानवाचक विशेषण का प्रत्यय 'ला' है, जो संस्कृत 'लग्' का विकसित रूप है। बहुत से स्थान-वाचक विशेषण 'ला' जोड़ने से ही बनते हैं—जैसे, बाहर से बाहरला, अन्दर से अन्दरला या हांदरला, ऊझें से ऊझला (ऊपर का), बुन्ह से बुन्हला (नीचे का), हेठला (नीचे का) आदि।

(3) **आकार वाचक** विशेषण जिनसे आकार का ज्ञान होता है, जैसे—घरोटली टोपी, लोमचा़ मुंह, चू़चरा नाक। इनमें घरोटली, लोमचा़, चू़चरा शब्द क्रमशः टोपी, मुंह और नाक के आकार को बताते हैं अतः ये आकारवाचक हैं। सोंगड़ा, बेरला, उथड़ा, निशटा, चकूणा, तकूणा आदि इसी श्रेणी के विशेषण हैं।

(4) **वर्णवाचक विशेषण** वे हैं जो रंग के द्योतक हों, जैसे—लाल कोट, शेती भेड़, चिठी ऊन, हौरी बूटी, काला चो़ला आदि यौगिक शब्दों में पूर्वोक्त शब्द उत्तरोक्त शब्दों के वर्णों का उल्लेख करते हैं अतः वर्णवाचक विशेषण हैं।

(5) **दशावाचक विशेषण** जो दशा या स्थिति बताए, जैसे—गरीब शोहरू, सेठ माण्हु, सीना टौल्हा, शुका माटा आदि में गरीब, सेठ, सीना, शुका स्थिति विशेष का बोध कराते हैं।

(6) **गुणवाचक** विशेषण ऐसे विशेषण हैं जो संज्ञा या सर्वनाम के गुण व्यक्त करें, जैसे—खरा माण्हु, सोची़ काया, बुरी बेटड़ी आदि।

2. संख्यावाचक विशेषण

संख्यावाचक विशेषण वे विशेषण हैं जो सज्ञा या सर्वनामों की सांख्यिक स्थिति या मात्रा का बोध कराते हैं। इन विशेषणों को मुख्यतः दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है :—

(1) **निश्चित संख्यावाचक तथा**

(2) **अनिश्चित संख्यावाचक**

(1) **निश्चित संख्यावाचक विशेषण** निश्चित संख्या के द्योतक होते हैं। कुलुई में निश्चित संख्यावाचक विशेषण हिन्दी के समान ही हैं। मूल रूप में कुलुई में केवल बीस तक की संख्या प्रचलित है। सभी संख्यावाचक शब्द संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश द्वारा कुलुई में पहुँचे हैं। इस लम्बी अवधि के प्रयोग में इनमें ध्वन्यात्मक परिवर्तन आया है। परिवर्तन मूलतः वही हैं जिनका स्वर तथा व्यंजन ध्वनियों में विस्तार से उल्लेख किया गया है। अतः ध्वनियों के परिवर्तन के कारण या प्रवृति की पुनरावृति में न जाते हुए, केवल उनके रूप नीचे दिये जाते हैं :—

संस्कृत	प्राकृत	कुलुई
एक	एक्क	एक
द्वि	दुवे, दुए	दूई
त्रि	तिण्णि	त्राई
चत्वारि	चत्तारि	चा़र
पञ्च	पंच	पोंज़
षट्	छह्	छौ़ह
सप्त	सत्त	सौत
अष्ट	अट्ठ	औठ
नवं	णओ	नौ या नौऊ
दश	दह	दस या दौस

शेष निश्चित संख्यावाचक अंक हिन्दी के समान हैं, सिवाये इसके कि अंकों का अन्तिम 'ह' कोमल होकर 'आ' में बदल गया है तथा अठारह, उन्नीस तथा बीस में प्रथम दो अक्षरों के पूर्व स्वरों का लोप हो गया है तथा कुलुई ध्वनि प्रवृति के अनुसार अन्तिम 'स' अघोष 'ह' में बदल गया है, तथा इनका रूप क्रमशः इस प्रकार है—ठारा, नींह, बीह। बीस के बाद गिनती 'बीह' शब्द 'बीहा' में बदल जाता है—बीहा-एक, बीहा-दूई, बीहा-त्राई आदि। यहाँ 'आ' स्वर का जोड़ **संयोजक** समुच्चयबोधक का द्योतक है, क्योंकि यह "और" का अर्थ देता है, जैसे—बीहा-एक (बीस और एक), बीहा-दूई (बीस और दो) आदि। अगले दशक शब्द इस प्रकार हैं—

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी	कुलुई
त्रिंशत्	तीसा	तीस	तीह
चत्वारिंशत्	चत्तालीसा	चालीस	चा़ली

पंचाशत्	पण्णासा	पच्चास	पंजाह
षष्टि	सट्ठि	साठ	शौठ/शठ
सप्तति	सत्तरि	सत्तर	सौतर/सतर
अशीति	आसीइ	अस्सी	औशी/असी
नवति	नउए	नव्वे	नौबे/नबे
शत	सअ	सौ	शौउ

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि अन्तिम संस्कृत 'श' प्राकृत में 'स' में बदला, जो हिन्दी में सुरक्षित है परन्तु कुलुई में 'ह' अघोष में परिवर्तित हो गया है। कुलुई में तीह, पंजाह, सतर और नबे पर गिनती नहीं बदलती। आम बोल चाल में ये शब्द आ गए हैं, अन्यथा बीहा-दस, बीहा-ग्यारा ही चलता है। संयोजक समुच्चयबोधक का द्योतक 'आ' हर बीस के बाद की गिनती में जुड़ जाता है, यथा—चालीआ-एक, शौठीआ-एक, औशीआ-एक आदि।

अपूर्णांक गणनावाचक में केवल आधे तक का हिसाब लक्षित होता है—औधा <प्रा० अद्धअ<सं० अर्द्धक, देउड़<प्रा० डिअड्ढ<सं० द्विअर्द्धक, ढाई<प्रा० अड्ढ-इअ<सं० अर्द्धतृतीय। 'ढाई' के बाद हर आध के लिए 'साढ़े' शब्द प्रयुक्त होता है— साढ़े त्राई, साढ़े चार, साढ़े पोंज आदि। गणनावाचक संख्याएं वचन या लिंग के आधार पर किसी तरह नहीं बदलतीं, वरन् समान रहती हैं—एक रोटी, चार रोटी, देउड़ सेर, बारा सेर आदि।

(ख) क्रमवाचक निश्चित संख्याएं तीन प्रकार से बनती हैं—(i) 'एक' के क्रमवाचक रूप कुलुई में दो तरह के प्रचलित हैं, एक हिन्दी का अनुरूप है पइला<हिन्दी पहला, और दूसरा संस्कृत का, पथमका<संस्कृत प्रथम, (ii) दो गिनती से चार गिनती तक क्रमवाचक संख्याएँ 'जा' प्रत्यय लगाने से बनती हैं, परन्तु साथ ही मूल गणनावाचक रूपों में कुछ अन्तर भी आता है, यथा

गणनावाचक रूप	क्रमवाचक रूप
दूई	दूजा
त्राई	त्रीजा
चार	चौथा

(iii) इससे आगे की संख्याओं का क्रमवाचक रूप हिन्दी के समान 'वां' प्रत्यय लगाने से बनता है, जैसे पोंज से पोंजुवां, सौत से सौतुवां, दस से दसुवां, सोला से सोलुवां आदि। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जहां हिन्दी में 'वां' प्रत्यय मूल संख्या शब्द में जुड़ जाता है; वहां कुलुई में 'वां' के जुड़ने से मूल शब्द उकारान्त बन जाता है— औठ>औठु>औठुवां, बीह>बीहु>बीहुवां आदि। 'वां' का उच्चारण 'उआं' ही समझना चाहिए। क्रमवाचक निश्चित संख्याएं लिंग के आधार पर रूप बदलती हैं—दूजा शोहरू परन्तु दूजी शोहरी, चौथा दिहाड़ा परन्तु चौथी रात आदि।

(ग) आवृतिवाचक संख्याएं गणनावाचक संख्याओं में 'गुणा'<सं० गुण प्रत्यय जोड़नेसे निर्मित होती हैं। परन्तु एक से चार तक संख्याओं के मूल रूप में 'गुणा' जोड़ने

से पहले कुछ परिवर्तन आता है—एक से एकणा, दूई से दुगणा, त्राई से त्रिगणा, चार से चौगणा। स्पष्ट है कि मूल शब्द में परिवर्तन होने पर 'गुणा' भी केवल 'गणा' रह जाता है—दूई—दूईगुणा—दुगुणा—दुगणा आदि। पांच और पांच से अगली संख्याओं में कोई परिवर्तन नहीं आता। मूल गणनावाचक रूप में 'गुणा' जुड़ जाता है—पोंज़ से पोंज-गुणा, सौत से सौत-गुणा आदि।

चार तक सख्याओं के आवृतिवाचक रूप अन्य प्रकार के भी प्रचलित हैं। इसका प्रत्यय 'हरा' है, जिसकी उत्पत्ति संस्कृत 'कार' से हुई है—कार >आर>हार >हरा। 'हरा' के संयोग से पहले गणनावाचक मूल संख्या के रूप में अन्तर आता है, जैसे-–एक से कोहरा, दूई से दोहरा, त्राई से त्रेहरा तथा चार से चौहरा। इससे आगे की संख्याओं में यह रूप नहीं चलता। यहां भी यह रूप लिंग के अनुसार बदलता है—कोहरा धागा, कोहरी बुणती; दोहरा पौट्टू, दोहरी फूड़ आदि।

(घ) **समुदायवाचक** निश्चित संख्याएं प्रायः गणनावाचक संख्या रूप में 'एँ' के संयोग से बनती हैं, जैसे गणनावाचक संख्या 'ग्यारा' से समुदायवाचक रूप 'एँ' जोड़ने से 'ग्याराएँ' (सभी ग्यारह), तथा 'औठ' से 'औठें' (आठों) निर्मित होते हैं। 'एक' के दो प्रकार के समुदायवाचक रूप प्रचलित हैं—एकें तथा केल्हा (अकेला)। समुदायवाचक रूप 'ज़िण' संस्कृत 'जन्' प्रत्यय लगाने से भी बनते हैं—दूई ज़िण, सौत ज़िण, दस ज़िण आदि। कई बार समुदायवाचक में संख्या की पुनरावृति भी हो जाती है। एक संख्या को दो बार प्रयुक्त किया जाता है। पहला रूप गणनावाचक मूल संख्या में रहता है जिसमें सम्बन्धकारक का बहुवचन प्रत्यय 'रे' या री' जुड़ता है तथा दूसरा रूप समुदायवाचक होता है, जैसे 'पांचों' के लिए 'पोंज़रे पोंज़ें', 'सात' के लिए 'सौत रे सौतें'; "चार री चारें शोहरी खड़ी उठी" (चारों लड़कियां खड़ी हो गईं), 'दौस री दौसें भेड़ा मुईं' (दसों भेड़ें मर गईं) आदि।

(2) **अनिश्चित संख्यावाचक**—कुलुई में अनिश्चिय का भाव मुख्यतः मूल गणनावाचक संख्या के आगे 'एक' जोड़ने से व्यक्त किया जाता है, जैसे दूई से दूई-एक, त्राई से त्राई-एक, चार से चारेक। यहां 'एक' हिन्दी में प्रयुक्त 'लगभग' शब्द का समानार्थक है—दस-एक माण्हु थी तौखें (वहां लगभग दस आदमी थे), चार-एक कताबा आणी (लग-भग चार पुस्तकें ले आना) आदि। दो संख्याओं को साथ-साथ बोलने से भी अनिश्चितत: प्रकट की जाती है, जैसे—दस-ग्यारा बूटे काटे, छौह-सौत छेत लीडे, पोंज-छौह कताबा पौढ़ी। यह सब रूप अनिश्चित भाव को प्रकट करते हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त कुलुई में कुछ अनिश्चित शब्दों का प्रयोग भी इस प्रयोजन के लिए किया जाता है। सेभ, किछ, कोई, बोहू, सारे, केतरे, थोड़े आदि शब्द इस तरह के हैं—सेभ लोका, किछ सेऊ, बोहू भेड़ा, सारे छेत, केतरे शोहरू आदि प्रयोग आम प्रचलित हैं। इनमें कोई का प्रयोग सर्वाधिक होता है—कोई बीह दिहाड़े हुए होले (लगभग बीस दिन बीत गए होंगे)। इसके साथ पूर्वोक्त 'एक' का प्रयोग भी हो जाता है—कोई दस-एक दाच आणे होले (लगभग दस दराट लाए होंगे)। जब किछ, कोई, बोहू आदि शब्द अकेले प्रयुक्त हों तो ये अनिश्चियवाचक आदि विशेषण होते हैं—कोई

नी थी औथी (कोई न था), बोहू थी तौखे (वहां बहुत थे); परन्तु जब ये किसी संख्या से पहले आते हैं तो अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण होते हैं—कोई दस भड़ा, बोहू माण्हु, किछ़ लोका आदि ।

3. परिमाणवाचक विशेषण

कुलुई में माप, तोल और मात्रा प्रदर्शित करने वाले कतिपय परिमाणवाचक विशेषण शब्द प्रचलित हैं, जो हिन्दी में सामान्यतः प्रचलित नहीं है । माप में सबसे छोटी लम्बाई-चौड़ाई के लिए सूत शब्द प्रयुक्त होता हैं—"एक सूत रे तखते चीरे ।" 'सूत' संस्कृत शब्द 'सूत्र' का विकसित रूप है । सूत से ऊपर आंगल़ माप की मात्रा है । यह संस्कृत शब्द 'अंगुल' है । चार अंगुलियों तक इसी से माप। जाता है । इससे चौड़ी या लम्बी वस्तु पूरी हथैली से मापी जाती है, जिसे पैंदल़ कहते हैं—"एक पैंदल़ (या पेंइदल़) बौर सा पोट्टूरा" (पट्टू की चौड़ाई एक पैंदल है) । पैंदल की व्युत्पत्ति संस्कृत 'करतल' से हुई है—सं० करतल >पअतल >पेंतल >पैंदल़ > पेंइदल़ । इससे अगला माप गरेंठ है । इसकी लम्बाई अंगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक का भाग है—"गरेंठ एक शोहरू ता चाँडा कुण" (गरेंठ भर लड़का अभिमान कितना) । गरेंठ शब्द की उत्पत्ति संस्कृत 'ग्रस्त' से माननी चाहिए । कुलुई में 'स्त' प्रायः 'थ' या 'ठ' में बदल जाता है, जैसा कि 'ध्वनि' अध्याय से स्पष्ट है—ग्रस्त >ग्रथ>ग्रठ >ग्रंठ >गरेंठ । गरेंठ से ऊपर माप का पैमाना बेंथ है । इसका अन्तर अंगूठे के सिरे से लेकर कनिष्ठिका के सिरे तक की लम्बाई है । बेंथ शब्द संस्कृत 'वितस्ति' का कुलुई रूप है । 'श्रुति' के अधीन बताया जा चुका है कि कुलुई में पूर्व 'व' अक्षर 'ब' में बदल जाता है (जैसे वर>बौर), 'स्त' प्रायः 'थ' में बदल जाता है (हस्त>हौथ) । संस्कृत वितस्ति का अर्थ ही कुलुई बेंथ या उर्दू अथवा फारसी बालिश्त है । इस तरह सं० वितस्ति> वितत्ति >विअथ >बेत्थ >बेंथ । मापके लिए बेंथ का प्रयोग सर्वाधिक होता है । "बेंथ एक छोकरू मुण्डा पांधे टोकरू" (बु०) । सब से लम्बा माप हौथ >सं० हस्त है जिसका अन्तर कफोणि से लेकर मध्यमा के सिरे तक का फासला है । इससे भी अधिक लम्बाई मापनी हो तो कदम द्वारा मापा जाता है । एक कदम को लांच कहते हैं जो संस्कृत शब्द 'लञ्ज' का विकसित रूप है ।

मात्रा और तोल से सम्बन्धित भी कई स्थानीय शब्द प्रचलित हैं । 'एक मुठी नाज' से अभिप्रायः 'मूठी भर अन्न' से है । 'मुठी' संस्कृत 'मुष्टि' है । यदि अन्न बंद मुठी में न होकर खुली मुठी में हो तो 'एक पौरस नाज' कहा जाता है । इसका सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'प्रसृ' से है—प्रसृ >परस >पौरस । पौरस से अधिक मात्रा नोल़ा है । दोनों खुले हाथों को साथ-साथ रखकर कदरे गोल करने से जो अन्न या पानी आदि भर जाए उसे 'एक नोल़ा नाज' या 'एक नोल़ा पाणी' कहा जाता है । नोल़ा शब्द संस्कृत 'अञ्जलि' से व्युत्पन्न है । महर्षि यास्क द्वारा प्रतिपादित नियमानुसार 'अंजलि' से आदि स्वर 'अ' का लोप हो गया है, तथा आदि वर्ण के लुप्त होने से उसकी पूर्ति के लिए शब्द के मध्य में विकार आ जाता है, तथा अन्तिम स्वर 'इ' से 'आ' में बदल गया है—

अञ्जलि>नजलि>नोलि>नोला।

अन्नादि तोलने के लिए नोलें से अगली मात्रा **पौथा** है। यह लकड़ी (आजकल धातु का भी) के बने गोलाकार बरतन 'बसाजू' में जितना अधिकतम अनाज सिरे से भी ऊपर स्तूपाकार में भर जाए, वह मात्रा होती है। 'पौथा' शब्द संस्कृत 'पस्त्य' से व्युत्पत्त है—सं० पस्त्य>पथ>पथा>पौथा। पस्त्य का अर्थ विक्रयणी अर्थात स्टॉल होता है। लगता है कि प्राचीनकाल में सामान बेचने के लिए बाजार की दुकान 'पस्त्य' पर जो बरतन माप-तोल के लिए प्रयुक्त होता था वही आम प्रयोग में 'पौथा' कहलाया। इसकी मात्रा का वज़न लगभग सोलह छटाँक होता है। साहित्यिक भाषा में भी इसका प्रयोग होता है—"खाणा पौथा लाणा चौथा" (लो०)।

सोलह पौथे का एक **भार** होता है। 'भार' शब्द संस्कृत 'भारम्' है। सोलह पौथे का वज़न एक आदमी का पूरा बोझ होता है। बीस पौथे की मात्रा **लाख** (सं० लक्ष) कहलाती है—"भार नी चौकणा लाख चौकणा" (लो०)। तीस भार का एक **खार** होता है। यह संस्कृत शब्द 'खार' है। संस्कृत साहित्य में इसका वज़न 16 या 18 द्रोण के बराबर अनाज का माप है। इसका प्रयोग साहित्यिक भाषा में भी होता है—"खार खाई काउणी, लौड़ खाऊं मिंढा, दोथी उठिया ढलकी लिंढा" (लो०)।

परिमाण वाचक विशेषण के रूप में आजकल हिन्दी शब्द इंच, फुट, गज़, मीटर, छटाँक, सेर, किलो, मन आदि का प्रयोग भी होता है, जिनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। परिमाणवाचक विशेषण के निश्चित और अनिश्चित दो उपभेद हैं—एक मुठी बेजा, एक पीरस दाणे, दस हौथ लोमा पौट्टू, एक पैंदल दहलीज ये सभी निश्चित परिमाण का बोध कराते हैं। इसके विपरीत औधला पौथा नाज़, धाउड़ा नोला पाणी, बोहू भार छौली आदि में औधला (आधा), धाउड़ा (अधूरा), बोहू (बहुत) शब्द अनिश्चित परिमाण के द्योतक हैं। अनिश्चितवाचक में अधिक प्रचलित शब्द 'केतरेएँ' (कितने ही) है—केतरेएँ पौथे नाज़ धीना, केतरेएँ बेंथ बेरला पौट्टू में केतरेएँ से अभिप्राय 'कितने ही' अर्थात् 'बहुत' है।

4. सार्वनामिक विशेषण

इन विशेषणों के बारे में सर्वनाम-सम्बन्धी अध्याय में कुछ परिचय दिया गया है। यहाँ कुछ विस्तार से उल्लेख करना अनुचित न होगा। यह लिखा जा चुका है कि ए (यह), सो (वह), जो या जुण (जो), तथा कुण (कौन) मूल रूप में सर्वनाम हैं। जब इनका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से होता है तो ये सर्वनाम होते हैं, जैसे सो नौठा (वह गया), ए एभएँ आऊ (यह अभी आया), सौहरा-बें कुण चौलिरा (शहर कौन जा रहा है), जुण भी होला साथ आणी (जो भी होगा उसे साथ लाना)। इन वाक्यों में सो, ए, कुण तथा जुण शब्द स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुए हैं, अतः ये सर्वनाम हैं। परन्तु जब ये किसी संज्ञा के साथ आएं या संज्ञा शब्द को निर्दिष्ट करें तो ये विशेषण होते हैं। विशेषण के रूप में उपर्युक्त वाक्यों का प्रयोग क्रमशः इस प्रकार होगा—सो शोहरू नौठा (वह बालक गया), ए शोहरू एभएँ आऊ, सौहरा बें कुण शोहरू चौलिरा, जुण शोहरू भी

होला साथ आणी। इन वाक्यों में सो, ए, कुण तथा जुण शब्द 'शोहरू' संज्ञा शब्द से पहले आए हैं, अतः यहां ये विशेषण या सार्वनामिक विशेषण हैं। इसे निर्देशक विशेषण भी कहते हैं।

कुलुई में सार्वनामिक विशेषण वस्तुतः पांच प्रकार के प्रचलित हैं। प्रथम प्रकार के मूल सर्वनामीय विशेषण हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। इन्हें साधित सार्व-नामिक विशेषण भी कहा जाता है।

दूसरी प्रकार के सार्वनामिक विशेषण संख्यावाचक है। **एती, केती, जेती** तथा **तेती** ये चार संख्यावाचक हैं क्योंकि ये संख्या की अभिव्यक्ति करते हैं, जैसे केती सेऊ खाए (कितने सेब खाए), ज़ेति सेऊ थी तेतीए खाए (जितने सेब थे उतने ही खाए)। इन सब विशेषणों का आधार संस्कृत है, जैसे—केती<सं० कति (कितने), एती>सं० यति (इतने), तेती<सं० तति (उतने), और इसी आधार पर ज़ेती (जितने)।

तीसरी प्रकार के सार्वनामिक विशेषण परिमाणवाचक है, जैसे एतरा, केतरा, ज़ेतरा तथा तेतरा। ये विशेषण किसी वस्तु की मात्रा बताते हैं, और 'मात्रा' शब्द के संयोग से ही इन शब्दों की व्युत्पत्ति हुई है—सं० एतत्मात्रा>एतत्रा>एतरा, सं० यत्+मात्रा>जत्मात्रा>ज़ेतरा (उतनी मात्रा) आदि। एतत्मात्रा>एतरा के सदृश्य से शब्दों की व्युत्पत्ति सम्भव है।

चौथी श्रेणी के सार्वनामिक विशेषण प्रकारवाचक हैं, जैसे—एण्डा, केण्डा, ज़ेण्डा तथा तेण्डा। ये रूप या प्रकार प्रदर्शित करते हैं—एण्डा माण्हु मैं कदी नी हेरू (ऐसा आदमी मैंने कभी नहीं देखा), ज़ेण्डा बाब तेण्डा बेटा (जैसा बाप वैसे बेटा) आदि। इनकी व्युत्पति संस्कृत एतादृश>एण्डा, तादृश>तेण्डा, कीदृश>केण्डा, यादृश> अन्य जादृश>ज़ेण्डा से मान लेनी चाहिए।

पांचवीं श्रेणी के सार्वनामिक विशेषण आकारवाचक हैं। ये आकार या वस्तु के बड़े या छोटे होने का भाव प्रकट करते हैं—कौद्दू केबड़ा सा (कद्दू कितना बड़ा या छोटा है)। इस श्रेणी के विशेषणों की उत्पत्ति उपर्युक्त चार मूल ए, के, ज़े, ते अक्षरों में 'बड़ा' प्रत्यय जोड़ने से हुई है, यथा—एबड़ा (इतना बड़ा), केबड़ा (कितना बड़ा), जेबड़ा (जितना बड़ा) तथा तेबड़ा (उतना बड़ा)। 'बड़ा' शब्द स्वयं संस्कृत 'वृद्धि' से व्युत्पन्न हुआ है। वैसे इन पर अपभ्रंश प्रत्यय 'वड' के प्रभाव की भी सम्भावना है।

उपर्युक्त विवरण से पांच प्रकार के सार्वनामिक विशेषण यद्यपि विभिन्न श्रेणियों के लगते हैं, परन्तु ध्यान से देखा जाये तो इन सबके आधार में वही चार मूल सार्वना-मिक विशेषण हैं, केवल विभिन्न प्रत्ययों द्वारा इन की पृथकता सिद्ध हो जाती है। यह बात निम्नलिखित ब्यौरे से स्पष्ट हो जाएगी :

मूलसार्वनामिक वाचक	संख्या वाचक	परिमाण वाचक	प्रकार वाचक	आकार वाचक
ए (यह)	एती	एतरा	एण्डा	एबड़ा
सो (वह)	तेती	तेतरा	तेण्डा	तेबड़ा
जुण (जो)	जेती	जेतरा	जेण्डा	जेबड़ा

कुण (कौन) केती केतरा केण्डा केबड़ा

इस प्रकार एक ही मूल शब्द से पांच तरह के विशेषण बनना कुलुई की बहुत बड़ी विशेषता है। किसी विशिष्ट बात को बताने के लिए किसी और फालतू विशेषण ढूंढने की आवश्यकता नहीं पड़ती—ए कताब सा मूँआगे (यह किताब मेरे पास है),एती कताबा सो मू ं आगे (इस कदर पुस्तकें हैं मेरे पास), एतरी किताबा सी मू ं आगे (इतनी ज्यादा पुस्तकें हैं मेरे पास), एण्डी कताब सी मू ंआगे (ऐसी कताब है मेरे पास), एबड़ी कताब सा मू ं आगे (इतनी बड़ी किताब है मेरे पास) आदि प्रयोगों में हिन्दी की तरह 'इस कदर', 'इतनी ज्यादा' 'इतनी बड़ी' दो-दो विशेषण शब्दों की जरूरत नहीं पड़ती।

उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य सर्वनामों का भी विशेषण के रूप में प्रयोग होता है, जैसे-—कोई माण्हु, बोहू बेटड़ो, सेभ लोका, कुणी शोहरूए, जुणी मौरदे आदि। परन्तु इनके बारे में कोई विशेष बात उल्लेखनीय नहीं है। जब ये स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होते हैं तो सर्वनाम होते हैं, परन्तु जब किसी संज्ञा के साथ आते हैं तो विशेषण कहलाते हैं। तिब्बती जैसी कुछ भाषाओं में विशेषणों में कारक प्रत्यय दोहरे लगते हैं, अर्थात जो कारक प्रत्यय संज्ञा में लगना होता है, वह विशेषण में भी जुड़ जाता है, जैसे—उसको लड़के को अर्थात उस लड़के को, जिसकी लड़की की अर्थात जिस लड़की की। ऐसा प्रयोग कुलुई में नहीं है।

विशेषणों का रूपान्तरण

प्रयोग की दृष्टि से कुलुई विशेषण दो श्रेणियों के अन्तर्गत आते हैं। (1)परिवर्तनीय, तथा (2) अपरिवर्तनीय। अपरिवर्तनीय विशेषण वे हैं जो हर प्रकार के संज्ञा-शब्द के पूर्व तथा हर स्थिति में समान रहते हैं। उनमें कभी कोई रूप-परिवर्तन नहीं होता, जैसे लाल भेड़, लाल भेड़ा, लाल लौढ़, तेज़ घोड़ा, तेज घोड़ी, तेज़ घोड़े। इन प्रयोगों में यद्यपि संज्ञा-शब्दों में लिंग तथा वचन के आधार पर परिवर्तन आया है, जैसे भेड़, भेड़ा, लौढ़ तथा घोड़ा, घोड़ी, घोड़े परन्तु उनके साथ प्रयुक्त विशेषण शब्दों में कोई भेद नहीं आया, वे सबके साथ समान रूप से 'लाल' और 'तेज' ही रहे हैं। इनके विपरीत कुछ विशेषण शब्द ऐसे होते हैं जो उन द्वारा लक्षित संज्ञा शब्दों के लिंग-वचन के अनुसार बदलते हैं, जैसे—काली भेड़, काला लौढ़; शेता घोड़ा, शेते घोड़े आदि।

प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि केवल एक प्रकार के विशेषण ही परिवर्तनीय हैं, और शेष सभी परिवर्तनशील नहीं है। केवल आकारान्त विशेषण ही रूपान्तरित होते हैं। चाहे वे गुणवाचक हैं अथवा संख्यावाचक, परिमाणवाचक या सार्वनामिक, यदि वे आकारान्त हों तो उनके रूप संज्ञा शब्द के लिंग-वचन भेद के अनुसार बदल जाते हैं, और यह परिवर्तन इस प्रकार है :

(1) एक वचन पुल्लिग शब्द का 'आ' बहुवचन पुल्लिग के लिए 'ए' में बदल जाता है, जैसे काला घोड़ा—काले घोड़े, दूजा शोहरू— दूजे शोहरू, एक पौथा नाज—दस पौथे नाज, एण्डा कुत्ता—एण्डे कुत्ते आदि।

उपर्युक्त से यह भी स्पष्ट है कि आकारान्त विशेषण द्वारा लक्षित पुल्लिग संज्ञा

शब्द चाहे बहुवचन के लिए बदले या न बदले परन्तु वह विशेषण ज़रूर बदलेगा। ऊपर घोड़ा और कुत्ता आकारान्त होने के कारण घोड़े और कुत्ते में परिवर्तित हुए, परन्तु शोहरू और नाज़ में ऐसा परिवर्तन नहीं आया, परन्तु आकारान्त विशेषण सबके साथ बदलते रहे—दूजा शोहरू, दूजे शोहरू, एक पौथा नाज़, दस पौथे नाज़।

(2) आकारान्त विशेषण का 'आ' स्त्रीलिंग एक बचन के लिए 'ई' में बदल जाता है और बहुवचन के लिए भी वही रूप रहता है, जैसे—बांका बेटा (सुन्दर पुत्र), बांकी बेटी (सुन्दर पुत्री); लोमा दरूआज़ा, लोमी भीत, लोभी भीती; शेता लोढ़, शेती भेड़, शेती भेड़ा आदि।

स्पष्ट है कि ईकारान्त में बदला विशेषण दोनों एकवचन और बहुवचन के लिए समान रहा है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। चाहे स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द के रूप में बचन के आधार पर परिवर्तन आ भी जाए, जैसे भेड़ (एक वचन) से भेड़ा (बहुवचन), भीत (एक वचन) से भीती (बहुवचन), परन्तु ईकारान्त में परिवर्तित विशेषण दोनों के लिए समान रहता है।

(3) आकारान्त विशेषण पुल्लिग तिर्यक रूप (या कारक प्रत्यय प्रयोगों) में एक वचन के लिए 'एकारान्त' में बदल जाता है और बहुवचन के लिए वैसे ही रहता है, जैसे 'काल़े कुत्तारी काल़ी लिंगट' (काले कुत्ते की काली दुम) तथा 'काल़े कुत्ते री काल़ी लिङ्गटी' (काले कुत्तों की काली दुमें), 'उथड़े बूटा-न बोहू फौल' (ऊंचे वृक्ष पर बहुत फल) तथा 'उथड़े बूटे-न बोहू फौल' (ऊंचे वृक्षों पर बहुत फल)। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'काला' और 'उथड़ा' विशेषण एकबचन तिर्यक रूप 'कुत्तारी' और 'बूटा-न' के लिए काले और उथड़े में बदल गए और जब 'कुत्ता' और 'बूटा' बहुवचन रूप में 'कुत्ते' और 'बूटे' में बदले तो भी विशेषण अपने पूर्व रूपान्तरित दशा में ही रहे।

(4) स्त्रीलिंग शब्दों की स्थिति में आकारान्त विशेषण ईकारान्त में बदलते हैं, और तिर्यक अथवा सप्रत्यय प्रयोग में भी इसी प्रकार रहते हैं। शेती भेड़, शेती भेड़ा, शेती भेड़ा-बें। बास्तव में स्त्रीलिंग शब्द के साथ आकारान्त विशेषण ईकारान्त में बदल जाते हैं, और फिर बहुवचन में भी उसी रूप में रहते हैं, तथा सप्रत्यय प्रयोग में भी उसी रूप को धारण किए रहते हैं।

विशषणों की तुलनात्मक श्रेणियां

तुलना की दृष्टि से कुलुई विशेषण हिन्दी के समान हैं, संस्कृत या अंग्रेज़ी की तरह नहीं हैं। जब दो या अधिक वस्तुओं की तुलना की जाती है तो विशेषण की तीन श्रेणियां होती हैं—

(1) मूलावस्था (2) उत्तरावस्था (3) उत्तमावस्था

सभी विशेषण अपने सामान्य रूप में मूलावस्था में होते हैं, किसी के साथ तुलना नहीं होती। जैसे कमला बांकी शोहरी सा, मेरी कताब होछी सा। उत्तरावस्था में दो व्यक्यिों या वस्तुओं में तुलना होती है, जैसे–बिमला कमला-न बांकी सा, तेरी कताब मेरी

कताबा-न होछी सा। उत्तमावस्था में किसी व्यक्ति या वस्तु को अन्य सबसे उत्तम या अधम दिखाया जाता है—बिमला सेभी-न बांकी सा, मेरी कताब सेभी-न होछी सा। संस्कृत में उत्तरावस्था तथा उत्तमावस्था को दिखाने के लिए मूलावस्था में 'तर' और 'तम' लगाया जाता है—निकट-निकटतर-निकटतम। कुलुई में इस तरह के रूप नहीं बनते। यहां किसी व्यक्ति या वस्तु के गुण-अवगुण की न्यूनता या अधिकता दिखाने के लिए विभिन्न प्रत्ययों का सहारा लिया जाता है।

समानता को दिखाने के लिए **सेंई** और **ढेंई** दो प्रत्ययों का प्रयोग होता है। सेंई शब्द संस्कृत साम्य से व्युत्पन्न है। यह समानता या साम्यता या एकरूपता दिखाने के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे—तौएँ सेंई बांकी सा ए शोहरी (यह लड़की तेरे समान सुन्दर है)। कमलाएँ सेंई बिमला सा (कमला के समान ही बिमला है)। ढेंई संस्कृत शब्द 'दृशम्' का विकृत रूप है। यह बराबरी दिखाने के लिए प्रयुक्त होता है—तौ ढेंई कुणी होणा (तेरे बराबर कौन है)।

उत्तरावस्था में एक को दूसरे की तुलना में अच्छा या बुरा, गुरू या लघु दिखाने के लिए अपादानकारक के प्रत्यय 'न' का प्रयोग होता है। जिस व्यक्ति या वस्तु से दूसरे को अच्छा या बुरा दिखाना हो उसके साथ 'न' प्रत्यय जोड़ा जाता है, जैसे—सुन्दरा-न मोती शोभला सा (सुन्दर से मोती अच्छा है), ट्रंका-न अलमारी मेंहगी थी (ट्रंक से अलमारी मेंहगी थी)। 'न' के बाद 'ता' (तो) का भी प्राय: प्रयोग होता है—'तौं-न ता ए बांकी सा,' 'मेरी कताबा-न ता तेरी कताब बड़ी सा' आदि। अपेक्षित विशेषण शब्द से पहले **थोड़ा, ज़ादा, कम, बोहू** आदि शब्दों का प्रयोग करके भी तुलना के भाव को व्यक्त किया जाता है—ए बूटी तेसा बूटी-न ज़ादा लोमी सा (यह वृक्ष उस वृक्ष से अधिक लम्बा है), मेरा भरोट्ट तेरे भरोट्ट-न थोड़ा हौलका सा (मेरा भार तेरे भार से कम हलका है।) आदि।

उत्तमावस्था में किसी व्यक्ति या वस्तु को अन्य सबसे अच्छा या बुरा आदि दिखाने के लिए 'सेभी-न' का प्रयोग होता है। जैसे, तू सेभी-न बांका, ए जोत सेभी-न उथड़ा, ए भरोट्ट सेभी-न गरका (यह बोझ सबसे भारी)। यहां भी थोड़ा, ज़ादा, कम, बड़ा, बोहू शब्दों का प्रयोग साथ-साथ होता है—ए कताब सेभी-न ज़ादा मेंहगी, मोती सेभी शोहरू-न ज़ादा तकड़ा सा आदि। उत्तमावस्था की एक और रीति भी है। इसमें एक विशेषण (अथवा संज्ञा) को तीन बार इकट्ठे क्रम से बोला जाता है, जैसे राज़ा-राजा रा राज़ा (राजाओं के राजे का राजा)। ए सा **घोरी घोरी रा घोरी** (यह धोखेबाज़ों के धोखेबाज का धोखेबाज़ है), सो ता **पापी पापी रा पापी** सा (वह तो पापियों के पापी का पापी है)। इस प्रयोग में उत्तमावस्था की पराकाष्टा दिखाई जाती है—'चोरा चोरा रा चोर' (चोरों के चोर का चोर अर्थात् सबसे बड़ा चोर)।

विशेषण शब्दों का निर्माण

कुछ शब्द अपने आप में विशेषण होते हैं, जैसे—खरा, बुरा, लाल, पीउंला, माठा, बड़ा आदि। परन्तु कुछ विशेषण शब्द ऐसे होते हैं जो दूसरे संज्ञा, सर्वनाम तथा

क्रिया आदि शब्दों से बनते हैं। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं—

1. संज्ञा शब्द के अन्त में 'ई' जोड़ने से विशेषण बनता है—

संज्ञा	विशेषण	संज्ञा	विशेषण
सुख	सुखी	दुख	दुखी
लोभ	लोभी	लालच्	लालची
शकीन	शकीनी	करोध	करोधी
स्हाब	स्हाबी	शराब	शराबी
दोंद	दोंदी	भेत	भेती

2. कुछ संज्ञा शब्द 'ला' प्रत्यय जोड़ने से विशेषण बनाते हैं। 'ला' या ला' प्रत्यय 'वाला' शब्द का संक्षिप्त रूप है—

संज्ञा	विशेषण	संज्ञा	विशेषण
शोभ	शोभला	भाब	भाब्ला
माटा	मटयाला़	धूपा	धपयाला़
पाथर	पथराला़	ऊन	नुआला़
पाणी	पणियाला़		

3. 'आ' जोड़ने से भी विशेषण बनते हैं—

लूण	लूणा	काठ	काठा
पिपली़	पिपला़	ठांड	ठांडा
सौच्	सौचा़	झ़ूठ	झ़ूठा
जूठ	जूठा	अलूण	औलणा

4. काल या समय द्योतक संज्ञा शब्दों में 'का' प्रत्यय जोड़ने से विशेषण शब्द बनते हैं—

पौर	पौरका	प्राह्र	प्राह्रका
दोत	दोतका	सोंझ	सोंझका
रात	रातका	एशु	एशका
दिहाड़	दिहाड़का	हीज़	हीज़का

5. क्रिया शब्दों में 'उदा' प्रत्यय लगाकर विशेषण बनते हैं। 'उदा' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'इत' प्रत्यय से हुई है। यह 'उदा' प्रत्यय क्रिया की धातु रूप में लगता है—

खाणा	खाउदा	पीणा	पीउदा
भालणा	भालुदा	शोटणा	शोटुदा
डाहणा	डाहुदा	शाधणा	शाधुदा

अध्याय—14

क्रिया-पद

अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की तरह ही कुलुई की क्रियाएं भी अधिकतः संस्कृत से आई हैं। भाषा विकास के इस लम्बे समय में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से उत्तराधिकार में प्राप्त इनके मूल रूपों में काफी अन्तर आया है। विभिन्न परिस्थितियों में से गुज़रते हुए इनके वास्तविक रूप में ऐसा परिवर्तन आना स्वाभाविक है। परन्तु कुलुई में ऐसा परिवर्तन स्पष्टतः सरलता की ओर रहा है। परिवर्तन की इस लम्बी अवधि में भी कुलुई में अनेक ऐसी क्रियाएं विद्यमान हैं, जो संस्कृत के मूल रूप को धारण किए हुए हैं और उनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया है—न शब्दों के रूप में न उनके अर्थों में। उदाहरणतः कील, मंत्र, डी, दुह, धूप, तार ऐसी धातुएं हैं जो मूल रूप में मूल अर्थ में प्रयुक्त होती हैं। ऐसी भी अनेक क्रियाएं हैं जो निर्माण में मूल संस्कृत रूप धारण किए हुए हैं, परन्तु अर्थ में कुछ मिलता-जुलता अन्तर आ गया है। उदाहरण के रूप में संस्कृत में 'ढौक' का अर्थ 'पहुंचना', 'निकट लाना' है, परन्तु कुलुई में इसका अर्थ 'पकड़ना' हो गया है। इसी तरह संस्कृत 'तुर' (दौड़ना, आगे बढ़ना) कुलुई में 'घुस जाना' के अर्थ में सीमित हो गया है। ऐसी तो असंख्य क्रियाएं हैं जिनमें सामान्य ध्वनि परिवर्तन आ गया है, परन्तु मूल अर्थों में या उन से मिलते-जुलते अर्थों में विद्यमान हैं। परन्तु कुलुई क्रियाओं के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात ऐसी क्रियाओं का प्रयोग है, जो हिन्दी आदि कुछ अन्य आर्य भाषाओं में क्रियाओं के रूप में प्रचलित नहीं हैं। अर्थात् जहां हिन्दी में संज्ञक-संयुक्त क्रियाएं (Nominal Compounds) होती हैं, वहां कुलुई में मूल क्रियाएं विद्यमान हैं। जैसे, कुलुई< **स्वादणा** सं० स्वद् हिन्दी स्वाद लेना; कुलुई **क्रोधिणा**< स० क्रुध, हिन्दी क्रोधित होना; **हिरखिणा**< सं ईर्ष्य्, ईर्षा करना, **शोखिणा**< स० तृष्, प्यासा होना, **मोहणा**< सं० मुह्, मोह में पड़ना, **लुण्**< सं० लुन्, फसल काटना; **लौजिणा**< सं लज्ज्, लज्जित होना; **पेशणा**< सं० विश, प्रवेश करना; **सुज्णा** या सुह्णा सं० सू, पैदा करना। इन क्रियाओं पर आगे चलकर विस्तार से विचार किया जाएगा। यहां केवल उदाहरण के रूप में कुछेक को प्रस्तुत किया गया है।

धातु —

एक अन्य बात में भी कुलुई भाषा संस्कृत की धातु सम्बन्धी एक विशेषता के कुछ उदाहरण छपाए हुए है। विद्वानों का कहना है कि संस्कृत में धातु व्याकरणाचार्यों के हाथों में एक अनुज्ञापन है, जिससे विभिन्न प्रकार के शब्द बनाए तथा श्रेणीबद्ध किए जाते हैं, और एक ही धातु के लग-भग सात-सौ दो शब्द-रूप (1 धातु × 3 वचन × 3 पुरुष × 13 लकार × 6 कृदंत) बनाए जाते हैं, परन्तु धातु का मूल रूप में प्रायोगिक अर्थ कुछ नहीं होता।[1] इस लम्बी अवधि में संस्कृत के सरलीकरण की ओर प्रवृत्ति का एक मुख्य परिणाम यह हुआ है कि आधुनिक आर्यभाषाओं में सामान्यत: क्रियाओं की धातुएं आज्ञार्थ का रूप धारण कर गई हैं, और मूल धातुएं इसी रूप में प्रयुक्त होने लगीं हैं—खा, पी, पहन, जा, लिख, पढ़ आदि। कुलुई की धातुएं भी मुख्यत: आज्ञार्थ रूप में प्रयुक्त होती हैं। परन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ कुलुई धातु के संस्कृत धातु की तरह मूल रूप में कोई अर्थ नहीं, केवल कालादि प्रत्ययों को लगाने से ही, इनके सार्थक रूप बनते हैं। इस दृष्टि से कोई नहीं कह सकता कि कुलुई के 'ए', 'हो', 'गो', 'खो' भी क्रियाएं हों, परन्तु जब 'ए' से एला, एणा शब्द प्रयोग में आते हैं तो लगता है कि 'ए' एक धातु है जिस का अर्थ 'आना' है, और जब एणा से भूतकालिक रूप 'आऊ' बना तो इस धारणा की पुष्टि हो जाती है। इसी तरह 'हो', 'गो', 'खो' भी मूल रूप में कहीं प्रयोग में नहीं आते, परन्तु जब होणा, होला; की गोऊ, की गोणा; खोऊ, खोला आदि शब्द प्रयोग में मिलते हैं तो इनके धातु होने में संदेह नहीं रहता।

संस्कृत की धातुएं मुख्यत: एकाक्षरी हैं—चाहे वे केवल एक ही स्वर की हों जैसे 'इ' जाना, पहुंचना, पाना आदि, 'ऋ' उठना, जाना, या एक व्यंजन और एक स्वर की हों 'भू', 'नी', 'पा', 'या', या स्वर पश्चात् व्यंजन की हों 'अज्' 'अच्', 'इश्' अथवा स्वर के संयोग से एक से अधिक व्यंजन, जैसे—'तुल्', 'नश्', 'पिव्' आदि। इस दृष्टि से कुलुई धातुएं पूर्णत: संस्कृत का अनुकरण नहीं करतीं। इसमें एकाक्षरी धातुएं अवश्य हैं परन्तु आधुनिक विभिन्न प्रकार की भाषाओं के रेल-पेल के कारण इसमें ऐसी धातुओं की बहुलता है जो एकाक्षरी न हो कर अनेकाक्षरी हैं—जैसे,

(1) एकाक्षरी—ए-एणा (आना) खा-खाणा, पा-पाणा (डालना) जा-जाणा, टो-टोणा (गिरती चीज को ग्रहण करना), ढो-ढोणा (उठाकर ले जाना), दे-देणा, ने-नेणा (ले जाना), छो (छत लगाना), सो-सोणा, धो-धोणा, ज़ी-ज़ीणा, ले (खरीदना) आदि।

दो-अक्षरी—शोट (फेंक देना). पेश (प्रवेश करना), भाल् (देखना), चोड़ (तोड़ना), मूच (मूत्रना), कोस (बीच में डालना), झौड़ (गिरना), झास (भुनना), छौश (मालिश करना), खेद (हाँकना), गोट (रोकना). धाच (पालना), ढाब (इकट्ठा करना), ढेम (मारना), तौछ (काटना), शाध (बुलाना) आदि।

1. John Beames : A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages, Vol. III, pp 2—5.

थिचड़ (छीलना), बिधक (बिदकना), बिसर (भूलना), भौड़क (बुड़बुड़ाना)।

तीन-अक्षरी—धियाग (ध्यान लगाना, निशाना लगाना), थौरक (थर-थराना), बियाँज़ (अलग करना), परेख (परीक्षा करना), सोंबर (बीमारी से ठीक होना), निहाल (प्रतीक्षा कर), सुआल (उतार) आदि।

कुलुई में प्राय: मूल धातु में 'णा' प्रत्यय जोड़ने से क्रिया का सामान्य रूप बनता है जैसे—स्वाद से स्वादणा, मोह से मोहणा, कूद से कूदणा, सिज़ से सिज़णा, परेख से परेखणा आदि। परन्तु यदि धातु र, ड़, ढ़, ल में अन्त होती हों तों 'णा' प्रत्यय 'ना' में बदल जाता है, जैसे-भौर से भौरना, मौर से मौरना, चोड़ से चोड़ना, लौड़ से लौड़ना, पौढ़ से पौढ़ना आदि। इसी तरह यदि धातु णकारान्त हों, तो भी 'णा' प्रत्यय 'ना' में बदल जाता है। परन्तु यहाँ एक अन्य परिवर्तन भी होता है। मूल धातु का अन्तिम 'ण' भी 'न' में बदल जाता है, और धातु का मूल 'न' हलन्त हो जाता है, जैसे—बुण<सं० बुन धातु से बन्ना, खोण<सं० खन् से खोन्ना, पुण<सं० पुन् से पुन्ना, लुण<सं० लुन् बुन्ना आदि। कुलुई क्रियाओं का अध्ययन करते हुए अनेक धातुएं ऐसी देखने में आती हैं जो संस्कृत के मूल रूप को सुरक्षित रखे हुए हैं, या उनमें मामूली परिवर्तन आया है। सिद्ध और साधित दोनों प्रकार की असंख्या धातुएं कुलुई में संस्कृत से आई हैं। यहाँ केवल कुछेक उदाहरण दिए जाते हैं।

1. सिद्ध धातुएँ

(1) ये मूल धातुएँ होती हैं किसी अन्य शब्द पर आधारित नहीं होतीं—

अवस>ओस, ओसणा।
उषस्>उसर, उसरना।
कट्>काट, काटणा।
कंड्>कौढ़, कौढ़ना।
कील्>कील, कीलणा।
कूर्द्>कूद, कूदणा।
कृत्>कौत, कौतणा।
कृत्>काट, काटणा।
कृष्>करिश, करिशणा।
कुट्ट>कूट, कूटणा।
क्षुद्>क्षुद, क्षुदणा।
खन्>खोण, खोन्ना।
गण्>गिण, गिन्ना।
गल्>गौल, गौलना।
ग्रह्>ग्राह, ग्राहणा

उत्क्रम्>उकल, उकलना।
कम्प्>कोम, कोमणा।
कल्प्, करिप, करिपणा।
खाद्>खा, खाणा।
कृ>केर, केरना।
क्षल्>छला, छलाणा।
खिद>खेद. खेदणा।
क्षु>खुंग, खुंगणा।
क्षप्>खोप, खोपणा।
क्षोट्>शोट, शोटणा।
क्षर>खार, खारना,
गल्>औल, औलना।
गृज्>गरिज, गरिज़णा।
ग्रन्थ्>गुन्ह, गुन्हणा।
ग्रन्थ्>गोंठ, गोंठणा।

धृष्>घुश, घुशणा।
चर्>चौर, चौरना।
चूष्>चूश, चूशणा।
चुर्>चोर, चोरना।
छिद्>छिज़, छिज़णा।
जन्>ज़ोण, ज़ोन्ना।
जप्>ज़ाप, ज़ापणा।
जागृ>ज़ाग, ज़ागणा।
ज्ञा>ज़ाण, ज़ान्ना।
जि>जित>ज़ीत, ज़ीतणा।
जीव्>ज़ी, ज़ीणा।
झट्>झौट, झौटणा।
टीक्>पटिक, पटिकणा।
टंक्>टांक, टांकणा।
टिप्>टिप, टिपणा।
डप्>डाब>ढाब, ढाबणा।
डम्>डमका, डमकाणा।
डम्ब्>डूम>ढूम, ढूमणा।
डी>डी, डीणा
ढौक्>ढौक, ढौकणा।
तक्ष्>तौछ, तौछणा।
तन्>ताण, तान्ना।
तार्>तार, तारना।
तुर्>तुर, तुरना।
तुल्>तोल, तोलणा।
त्रुट्>चुट, चुटणा।
दण्ड्>डण्ड, डण्डणा।
दल्>दौल, दौलना।
दश्>दस, दसणा।
दुह्>दुह, दुहणा।
धार्>धार, धारना।
धूप्>धूप, धूपणा, (धूनी देना)
नश्>नौश, नौशणा (न्हौशणा)।
पच्>पौक, पौकणा।
पा>पा, पाणा।
पिष्>पिश, पिशणा।

चल्>चौल, चौलणा।
चिह्ल>चिह्ल, चिह्लणा।
च्यव>चूड़, चूड़ना।
छद्>छो, छोणा।
चट्>चूट, चूटणा।
चष्>चाख, चाखणा।
तॄ>तौर, तौरना।
तड्>तौट, तौटणा।
तन्>ताड़, ताड़ना।
तन्>तिण, तिणना>तिन्ना।
दंश-दंशति>दाढ़, दाढ़ना।
दा>दे, देणा।
दह>दाग, दागणा।
धुक्ष्>धुक, धुकणा (औग धुकदी)।
धा>डाह, डाह्णा।
नी>ने, नेणा।
नृत्>प्रा० नच्च>नौच, नौचणा।
निगृ>निंगल, निंगलना।
पा 'पिबति'>पी, पीणा
पृच्छ्>प्रा० पुच्छ>पुछ, पुछणा।

पुन् > पुण, पुन्ना
पूज् > पूज़, पूज़णा
फल् > फौल़, फौल़ना
फल् > फाल़, फाल़ना
बन्ध् > बोन्ह, बोन्हणा
भण्ड् > भांड, भांडणा
भञ्ज् > भोन, भोनणा
भल् > भाल़, भाल़ना
भाष् > भाश, भाशणा
मन् > मोन, मोनणा
मृ > मौर, मौरना
मृज् > मांज़, मांज़णा,
युज् > ज़ुंड, ज़ुंडणा
रिष् > रि्हश, रि्हशणा
रुच > रुच़, रुच़णा
रुष् > रुश, रुशणा
रंजनम् > रौज़, रौज़णा
लंघ् > लांघ, लांघणा
लज्ज् > लौज़ि, लौज़िणा
लिप् > लेप, लेपणा
लुन् > लुण, लुन्ना
वस् > बौस, बौसणा
वाश् > बाश, बाशणा
वास् > बासि, बासिणा
वाह् > बाह, बाहणा
विकाश् > पियाश, पियाशिणा,
विज् > बिज़, बिज़णा
विज् > बिझ़, बिझ़णा
शद् > शोट, शोटणा
शिङ्घ् > शिंघ, शिंघणा
स्थग् > ठौग, ठौगणा
स्थग् > ठाक, ठाकणा
स्फुट > फुट, फुटणा
सू > सुह, सुहणा (बकरी सुहणा)
सञ्ज > शौच, शौचणा
स्पंद > फौड़क, फ़ौड़कणा

पर्द् > पौद, पौदणा
पृ > पेर, पेरना
पृच् > पियार, पियारना (पीठा सुंगे लूण पियार)
मंत्र > मोंत्र, मोंत्रणा,
भृज् > भुज़, भुज़णा
भष् > बाश, बाशणा
मृ > प्रा० मर > मौर, मौरना
मुञ्च > मुक, मुकणा
मृद् > मठेल, मठेल़ना
मृद् > मुंड, मुंडणा
या > जा, जाणा
रोप् > रोप, रोपणा
मक्ष् > मुछ़, मुछ़णा
मिश् > मिशि, मिशिणा
मुण्ड् > मुंड, मुंडणा (कुचलना)
वच् > बांच़, बांच़णा
वट् > बाट, बाटणा
वण्ट > बोंड, बोंडणा
वह् > बौह, बौहणा (मौल़ बौहणा)
बुध > बुझ़ बुझ़णा प्रा० वुज्झई
विद्ध > बिन्ह, बिन्हणा
श्रु > शुण, शुणना
स्थम्भ् > थम्भ > थोम, थोमणा
सृ > सौरक, सौरकणा
सिव् > सिह्, सिहणा
हस् > हौस, हौसणा

हन् > हुण, हुण्ना सृज् > सूज़, सूज़णा

शुष् > शुक, शुकणा हल् > हौल्, हौल्ना

(2) उपर्युक्त संस्कृत साधारण धातुओं के अतिरिक्त, कुलुई में अनेक उपसर्ग संयुक्त धातुएँ संस्कृत से आई हैं, उदाहरणार्थ—

उत् + जट् > उजड, > उज़ड़ना,

निर् + कस् > निर्कस > निकस, निकसणा (आगे सरकना)

निर् + क्षर > निक्खर > निखर, निखरना (मैल साफ होना)

नि + भाल् > प्रा० निहालेई > निहाल, निहालणा (प्रतीक्षा करना)

नि + वृ = निवृत्त > निभ, निभणा (समाप्त होना)

प्र + विष्ट > पइट्ठई > पइठ > पेठ > पेश, पेशणा (प्रवेश करना, घुसना)

प्र + जन् > प्रजन् > पौज़णा (पैदा होना)

उप + विश् > बैठ > बेश, बेशणा (बैठना)

सम् + हल् > सम्हाल, सम्हालना (संभालना)

उत् + पद्यते > प्रा० उप्पज्जइ > उपज > पौज़, पौज़णा (पैदा होना)

उत् + सृ > उस्सृ > ओस, ओसणा (उतरना)

परि + ईक्ष् > परीक्ष > परेख, परेखणा (जांच करना)

नि + वह् > प्रा० निवह् > ने, नेणा (लेजाना)

प्र + आप् 'प्राप्नोति' > परा, पराणा (पाना, तलाश करना)

प्र + आप् 'प्राप्नोति' > पा, पाणा (डालना 'कौ पाणा')

अव + क्षर = अवखर > उखर, उखरना (साफ होना)

उत् + कृ > उड़क, उड़कणा (उछलना और कूदना)

उत् + कल् = उत्कल > उक्कल > उकल, उकलना (चढ़ना)

उत् + स्था > उठ, उठणा (उठना)

अव + दृ > औदृ > ओदर, ओदरना (फटना, खराब होना)

प्रति + ई > प्रती > पतिया, पतियाणा (चुप कराना, बिश्वास दिलाना)

परि + धा > प्रा० पहिरइ > पौहर, पौहरना (पहरा करना)

वि + क्रृ > प्रा० बेच्चइ > बेच, बेचणा (बेचना)

परि + वेशय > परोश > परोस, परोसणा (परोसना)

वि + लम्ब् + आगतः > बलागणा (देरी कराना)

वि + स्मृ > विसृ > बिसर, बिसरना (भूल जाना)

स्खल् + गम् > खिसक, खिसकणा (खिसक जाना)

उत् + घट् > उघाड > गुहाड़, गुहाड़ना (खोलना)

उत् + चल > उक्कल > उकल, उकलणा (चढ़ना)

वि + विध्य > बिझणा (बिदकना)

वि + श्रामय > बिशाइणा (विश्राम होना)

उत् + स्फुर > उप्फर > उफरना (पट्टुहरू उफरे)

नि+सृ>निसृ>नसार, नसारना (डालना)

अवि+अञ्ज्>बियांज, बियांजणा (अलग करना)

(3) साधारण तथा उपसर्ग-संयुक्त धातुओं के अतिरिक्त संस्कृत की कतिपय णिजन्त धातुएँ भी कुलुई में आई हैं जो प्रेरणार्थक रूप और भाव को खो कर सिद्ध धातुओं के रूप में प्रचलित हैं—

स्नापयति>निहाइणा (नहाना)

प्राप्यति>परेणा (पूरा करना)

साधयति>साधणा (सहन करना)

ज्वालयति>जालणा (जलाना)

तारयति>तारना (पार करना)

निष्कासयति>नकासणा (निकाल कर ले जाना)

स्थापयति>थापणा (स्थापित करना, थापना)

स्थगयति>ठाकणा (रोकना)

आनयति>आण, आणना (ले आना)

हारयति>ऱ्हा, ऱ्हाणा (खोना, गुम करना)

क्षरयति>छार, छारना (पानी से निकालना)

उद्घाटयति>घुहाड़>गुहाड़, गुहाड़ना (खोलना)

उत्खाटयति>उखाट>खुहाड़>खुआड़ना (डाने खुआड़े, उखाड़ना)

साधयति>शाध, शाधणा (बुलाना)

वर्धयति>वौध, बौधणा (बढ़ना)

उद्भवयति>उभर, उभरना (देवते के चेले के पास देवता आना)

(4) ऊपर कुछेक उन कुलुई धातुओं का विवरण दिया गया है जो संस्कृत से तद्भव रूप में प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई आई हैं। इनके अतिरिक्त कुलुई में प्रमुखता उन धातुओं की है जिनकी संस्कृत से व्युत्पत्ति संदिग्ध है, और जिन्हें देशी कहा जा सकता है। ऐसी अधिक धातुओं का यहां उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। कुछेक की उदाहरण के रूप में, संक्षिप्त सूची नीचे प्रस्तुत की जाती है :—

अेाइरना : पट्टी आदि बुनने के लिए ताने को संजोना।

आटणा : किसी गिरते पानी आदि को बरतन में लेना।

उकलणा ; चढ़ना।

उघड़ना : सच्चाई बताना, कसूर मानना।

उचड़ना : उखड़ना।

ओगणा : एहसान जताना।

ओपणा : अनुकूल या अच्छा लगना।

ओपड़ना : किसी बर्तन में पूरा आना।

औलणा : गिरना।

कांसणा : बीच में डालना।

कलोलणा : लत्थ-पत्थ करना।

कोरना : छेद करना ।

खेदणा : हांकना । खूबणा : चुभना ।

खेटणा : उखाड़ना । खोज़णा : बताना ।

गोझिणा : गुम होना, छुप जाना ।

गोटणा : रोकना । घरोसणा : धकेलना ।

गोमणा : पसन्द करना । गाबणा : दबाना, ढक देना ।

घुंघणा : भौंकना । चेथणा : कुचलना ।

घौड़ना : पीटना, मारना (जान से नहीं) ।

घौड़िना : लड़ना, मार-पिटाई करना ।

घाणना : पशु को घास आदि डालना ।

चांडणा : निशाने पर मारना, लेना ।

चौखिणा : पकाये भोजन का सड़ जाना । छिपणा : गर्म होना, तपना ।

चौखिणा : उठाया जाना । चिटणा : मक्खी आदि द्वारा काटना ।

चुआड़ना : छीलना ।

छेंकणा : पूरा करना, कर्ज़ उतारना ।

छौपणा : पानी का सूख जाना ।

छोणा : छत लगाना । छंडाकणा : दूर पटक देना ।

चूड़ना : बूंद बूंद गिरना ।

छाटणा : पछाड़ना ।

छनेरना : खाली करना । ज़िकणा : दबाना ।

छिंजिणा : गुस्से होना ।

छौशणा : मालिश करना । झड़िंगिणा : ठोकर लगकर गिरना ।

छीलणा : मथना । झूटणा : पीना ।

ज़ौकणा : पीटना, मारना । टिमणा : छेद करके किसी चीज़ को लगाना ।

ज़ांझणा : अलग करना (विशेषतः लड़ते हुओं को)

झौड़ना : गिरना ।

झासणा : भुनना । झोलणा : धका देना ।

झौठिणा : झगड़ना ।

टुशणा : साफ करना । टालणा : चुनना ।

टोह्णा : पौधे लगाना, रोपना ।

टाकरना : निशाना लगाना ।

टोकणा : काटना ।

ठिमकणा : to overtake, पकड़ना ।

ठाकणा : रोकना ।

ठुरना : दौड़ना।
ठेरना : कातने के बाद दो धागों का बटना।
ठेरिना : दो बैलों का लड़ने के लिए तैयार होना।
ठुड़कणा : खाली करना, झाड़ना।
डांफणा : धोखा देना।
ढाबणा : इकट्ठा करना।
ढुणना : बात करना।
ढिसणा : मारना, पीटना।
ढौकणा : पकड़ना।
ढोसणा : बहाना।
ढोणा : उठाकर ले जाना।
ढाबणा : इकट्ठा करना।
ढुकणा : आरम्भ करना, व्यस्त होना।
ढेमणा : मारना (जान से नहीं) पीटना।
तोपणा : तलाश करना। तुनकणा : वज़न जांचना।
तौछणा : (कुल्हाड़े आदि से) काटना, छीलना।
तौल्हणा : हिलना।
थोगणा : हाथ से टोहना।
थोसणा : हथयाणा, खींचकर तोड़ना।
थुसणा : टूटना (विशेषत: कपड़ों का टूटना)
थिच़ड़णा : छीलना।
थाकड़ना : ऊन काटने से पहले भेड़ के शरीर पर ऊन की सफाई करना।
थापरना : to catch, हाथ में पकड़ना।
थाटणा : वृक्ष के नरम पत्ते काटणा।
थेचणा : गीला करना।
दुआंज़णा : अलग करना।
दरेड़ना : उखाड़ना, गिराना।
दाच़णा : तजवीज़ करना, सोचना।
धाचणा : पालना।
धियागणा : निशाना बांधना।
निलगीणा : (न गीला रहना) मुरझाना।
निंडणा : निडाई करना।
नियाटणा : बंदिश करना।
परहेलणा : बोझा उठाने में सहायता के लिए पीछे से हलका धक्का देना।
नशाणा : भगा देना।
निखड़ना : कमजोर होना, घिस जाना।

परीशणा—परूशणा : बीच में से खींच कर निकालना ।
पतार्ह़ीणा : हक्का-बक्का रह जाना ।
पेच़णा : उखाड़ना, पं० पुटणा ।
पाह़रना : कँघी करना ।
पतरोलणा : मिश्रित करना ।
फड़ाकणा : छाज में डालकर दाने साफ करना ।
फीटणा : नष्ट होना ।
फियाड़ना : समझना ।
बूदणा : किसी छेद को बंद करना ।
बाकणा : मुंह खोलना ।
बझ़ेलणा : जगाना ।
भेड़ना : अलग करना ।
भौकणा : जलना ।
भिड़िना : भिड़ना ।
भाशणा : देवते को कोई भेंट करने की प्रतिज्ञा करना ।
मधोलणा : हाथ लगा-लगाकर खराब करना ।
मिनणा : मालिश करना ।
मुनणा : भेड़ों की ऊन उतारना ।
राटणा : कसम खाना ।
रिड़कणा : व्यर्थ घूमना ।
रिह्लणा : पकाना ।
लिछ़णा : बन्ध्य करना ।
लेसणा : लीपना ।
लांघणा : अबूर करना ।
लेमकणा : चाटन ।
लोकणा : सिर पर फेरकर फेंक देना ।
ल्होसणा : ज़बरदस्ती छीनना, उखाड़ना ।
ल्हुशणा : झुलसना ।
शौगणा : गीला करना ।
शुंगणा : साफ करना, झाड़ू देना ।
शौतणा : फंसना ।
शाकणा : वृक्ष के तने की पूरे घेरे से छाल उतारना ताकि वह सूख जाए ।
शेलणा : बुझाणा ।
सिकणा : जाना ।
सिटणा : आग में पकना ।
सोठणा : सोचना ।

सारना : साफ करना।
सोंबरना : बीमारी से स्वस्थ होना।
हेरना : देखना।
हेशणा : चूल्हे पर चढ़ाना।
हिशणा : बुझना।
हौगणा : टट्टी करना।

यहाँ उन क्रियाओं को प्रस्तुत करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, जो हिन्दी की सिद्ध धातुएं हैं, और जो उन्हीं या लगभग उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होती हैं। इनमें केवल सामान्य ध्वन्यात्मक परिवर्तन आया है, जैसे—उबलणा, खाणा, पीणा, सोणा, उठणा, धोणा, जाणा, देणा, रोणा, खोणा, खेलणा, घौशिणा (घिसना), चूशणा (चूसना), चोरना, छौड़ना (छोड़ना) छीकणा, झूलणा, डूबणा, ढोणा, तौरना (तैरना), थूकणा, देखणा, दुखणा, दुहणा, निकलणा, फेरना, पूछणा, बिकणा, भेजणा, मारना, मौरना, मिलणा, लेटणा, लूटणा, लौड़ना (लड़ना), सीखणा, सिहणा (सीना), हारना, हौटणा (हटना) आदि।

इसी तरह कुछ क्रियाएं पंजाबी से मिलती है, जैसे—शोटणा पं० सुटणा, बाटणा पं० वटणा (रस्सी बटना), दसणा पं० दसणा; खरोलणा: पं० फरोलणा; न्हौशणा > न्हठणा : पं० नठणा; भालणा पं० भालना।

2. साधित धातुएँ

(1) प्रेरणार्थक

साधित धातुओं में प्रथम स्थान प्रेरणार्थक अथवा सकर्मक धातुओं का है। हिन्दी में कुछेक धातुओं को छोड़कर अन्य धातुओं की दो-दो प्रकार की प्रेरणार्थक धातुएं बनती हैं, जिनका पहला रूप बहुधा सकर्मक क्रिया के अर्थ में ही आता है और दूसरे रूप से यथार्थ प्रेरणा समझी जाती है, जैसे गिरना से गिराना प्रथम तथा गिरवाना द्वितीय प्रेरणार्थक क्रियाएँ हैं। इसी तरह पढ़ना—पढ़ाना—पढ़वाना, करना—कराना—करवाना आदि। कुलुई में दो-दो प्रेरणार्थक क्रियाएँ नहीं बनतीं। केवल एक प्रेरणार्थक क्रिया बनती है जो सकर्मक होती है। हिन्दी की दूसरी प्रेरणार्थक क्रिया 'वा' वाला रूप कुलुई में प्रचलित नहीं है। केवल प्रथम रूप ही विद्यमान है, जो निम्न प्रकार से बनता है :—

(क) मूल रूप से प्रेरणार्थक धातु मूल अकर्मक धातु में 'आ' जोड़ने से बनतो है, जैसे :—

मूल धातु	मूल क्रिया	प्रेर०धातु	प्रेर०क्रिया
घट	घटणा	घटा	घटाणा
बध	बधणा	बधा	बधाणा

च़ल	च़लणा	चला	च़लाणा
बदल़	बदलना	बदला	बदलाणा
खिसक	खिसकणा	खिसका	खिसकाणा

ईकारान्त मूलधातुओं में 'आ' श्रुति के कारण 'या' हो जाता है, जैसे 'पी' से 'पिआ'>पिया, 'जी' से जिआ>जिया। वस्तुतः 'आ'-युक्त प्रेरणार्थक धातु सकर्मक धातु है। 'आ' प्रत्यय की व्युत्पत्ति संस्कृत की णिजन्त धातुओं के प्रत्यय **'आय'** (जैसे 'मारयति', 'कारयति' में) से इस प्रकार मानी जा सकती है, यथा **आय>आव>आ**। प्रेरणार्थक रूप बनाने से पूर्व एकाक्षरीय दीर्घ स्वर ह्रस्व में बदल जाता है :—

ढो	ढोणा	ढुआ	ढुआणा
सो	सोणा	सुआ	सुआणा
धो	धोणा	धुआ	धुआणा
पी	पीणा	पिआ>पिया	पियाणा
खा	खाणा	खिआ>खिया	खियाणा
ज़ी	ज़ीणा	ज़िआ>ज़िया	ज़ियाणा
दे	देणा	दिआ>दिया	दियाणा
बोण	बोणना	बणा	बणाणा
बेश	बेशणा	बशा	बशाणा
लेट	लेटणा	लटा	लटाणा
केर	केरना	करा	कराणा
गौल़	गौल़णा	गल़ा	गल़ाणा
कौढ़	कौढ़ना	कढ़ा	कढ़ाणा
न्हौश	न्हौशणा	नशा	नशाणा
पौक	पौकणा	पका	पकाणा
लांघ	लांघणा	लंगा	लंघाणा
शौच	शौचणा	शचा	शचाणा
ढौल़	ढौल़णा	ढल़ा	ढल़ाणा
शाध	शाधणा	शधा	शधाणा
तौल्ह	तौल्हणा	तल्हा	तल्हाणा

(ख) संस्कृत का प्रेरणार्थक प्रत्यय—**'आय'** प्राकृत में -ए- में परिणत हुआ था। प्राकृत का यह प्रत्यय कुलुई में भी पहुंचा है। कुलुई की कुछ अकर्मक धातुओं का प्रेरणार्थक रूप 'ए' के संयोग से बनता है, जैसे

डूब	डूबणा	डबे	डबेणा
छिप	छिपणा	छपे	छपेणा
भौक	भौकणा	भके	भकेणा
शुक	शुकणा	शके	शकेणा

सिट	सिटणा	सटे	सटेणा
दुख	दुखणा	दखे	दखेणा
जोड़	जोड़ना	जड़े	जड़ेना

(ग) कुछ धातुओं की स्थिति में प्राकृत '-ए-' सकर्मक के लिए '-एर-' में बदल गया है :—

निभ	निभणा	नभेर	नभेरना
शौग	शौगणा	शगेर	शगेरना
छ़ुट	छ़ुटणा	छ़टेर	छ़टेरना
बिझ़	बिझ़णा	बझ़ेर	बझ़ेरना
सौध	सौधणा	सधेर	सधेरना

किन धातुओं में '-ए-' और किन में '-एर-' लगता है, यह स्पष्ट नहीं होता। केवल लोक-प्रयोग ही एक मात्र नियम लगता है, क्योंकि कुछ धातुओं के दोनों प्रकार के प्रेरणार्थक रूप समान रूप से प्रचलित हैं, जैसे 'घट' से 'घटाणा' भी और 'घटेरना' भी। इसी तरह 'बधणा' से 'बधाणा' तथा बधेरना', 'सौधणा' से 'सधाणा' तथा 'सधेरना' आदि।

(घ) जो अकर्मक धातुएं 'र' अथवा 'स' से अन्त होती हों और उनसे पहले ह्रस्व स्वर हो तो पूर्व स्वर दीर्घ हो जाता है :—

निखर	निखरना	नखेर	नखेरना
सोंबर	सोंबरना	संबेर	संबेरना
निसर	निसरना	नसार	नसारना
मर	मरना	मार	मारना
निकस	निकसणा	नकास	नकासणा

(ङ) स्वर या 'ह' से आरम्भ होने वाली धातुओं में पूर्व स्वर अथवा 'ह' लुप्त हो जाता है—

उकल़	उकल़ना	कुआल़	कुआल़ना
ओस	ओसणा	सुआल़	सुआल़ना
उठ	उठणा	ठुंआल़	ठुआल़ना
उड़क	उड़कणा	ड़का	ड़काणा
उघड़	उघड़ना	घड़ेर	घड़ेरना
औल़	औल़ना	रेल़	रेल़ना
हेर	हेरना	रिहा	रिहाणा
हिश	हिशणा	शेल	शेलणा
हौग	हौगणा	गिहा	गिहाणा

(2) नाम धातुएँ

परन्तु साधित धातुओं में मुख्य स्थान नामधातुओं का है। कुलुई में यह एक

महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि यहाँ संज्ञा तथा विशेषण शब्दों से बड़ी सुगमता से क्रियाएँ बनती है, और आम बोलचाल में बड़े व्यापक रूप से प्रयोग में आती हैं। संज्ञा, विशेषण, तथा क्रिया-विशेषण पदों से मूलत: केवल एक मात्र प्रत्यय के प्रयोग से नाम धातुएँ बनती हैं, तथा यह प्रत्यय '-इ-' है, जैसे—संज्ञा शब्द 'रात' से नामधातु 'राति' तथा क्रियारूप 'रातिणा' (रात हो जाना), माटा (मिट्टी) से माटिणा (मिट्टी बन जाना); इसी तरह विशेषण शब्द 'ढीला' से नामधातु 'ढीलि' तथा क्रिया रूप 'ढीलिणा' (ढीला हो जाना), क्रियाविशेषण शब्द 'पीछे' से नाम धातु 'पीछि' तथा क्रियारूप 'पीछिणा' (पीछे हो जाना या रह जाना) आदि। ऐसी नामधातुओं के कुछ और उदाहरण प्रस्तुत करना उचित होगा :—

शब्द	**नाम धातु—साधित क्रिया**
(क) संज्ञापदों से—	
पियाशा 'प्रकाश'	पियाशिणा 'प्रकाश होना'
दाह 'दर्द'	दाहिणा 'बीमार होना'
क्रोध	क्रोधिणा 'क्रोध करना'
ज़ौर 'ज्वर'	ज़ौरिना 'ज्वर आना'
मिश 'गुस्सा'	मिशिणा 'गुस्से होना'
बशाऊं 'विश्राम'	बशाइणा 'विश्राम होना'
मंढार 'भण्डार'	मंढारिना 'देवते का मन्दिर में वापिस जाना'
निहारा 'अंधकार'	निहारिना 'अंधेरा होना'
शर्म	शर्मिणा 'शर्मा जाना'
शेला 'सर्दी'	शेलिणा 'सर्दी लगना'
झ़ोंख 'चिन्ता'	झ़ोंखिणा 'चिन्ता होना'
भूख	भूखिणा 'भूख लगना'
शोख 'प्यास'	शोखिणा 'प्यास लगना'
(ख) विशेषण शब्दों से—	
बिशका 'खाली'	बिशकिणा 'खाली होना'
पीढा 'तंग'	पीढिणा 'तंग होना'
निघा 'गर्म'	निघिणा 'गर्म होना'
बीझा 'निर्मल'	बीझिणा 'आकाश का साफ होना'
ठाण्डा 'ठण्डा'	ठाण्डिणा 'ठण्डा होना'
पूरा	पूरिना 'पूरा होना'
खापर 'बूढ़ा'	खापरिना 'बूढ़ा हो जाना'
सियाणा 'बूढ़ा'	सियाणिना 'बूढ़ा हो जाना'
याणा 'बच्चा'	याणिना 'बचपन आना'
रोंड 'विधवा'	रोंडिणा 'विधवा हो जाना'

(ग) क्रिया-विशेषण से

आगे	आगरिना 'आगे निकल जाना'
पीछे	पीछिणा 'पीछे रह जाना'
थाले 'तले'	थालगिणा 'नीचे बैठ जाना'
हांदर 'अंदर'	हांदरिना 'अंदर हो जाना'
भेटी 'निकट'	भेटिणा 'निकट आना'
झीश 'प्रात:काल'	झीशिणा 'प्रातः होना'
त्रकाल 'त्रिकाल'	त्रकालिना 'सायंकाल होना'

नाम धातुओं के सकर्मक रूप भी पूर्व नियमानुसार बनते हैं, जैसे बिशकिणा 'खाली होना' से बिशकेरना 'खाली करना', ढीलिणा 'ढीला होना' से ढलेरना 'ढीला करना', मिशिणा 'गुस्से होना' से मिशेरना 'गुस्सा दिलाना', ठाण्डिणा 'ठण्डा होना से ठण्ड़ेरना ठण्डा करना', पीछिणा 'पीछे रहना' से पछेरना 'पीछे कर देना' आदि।

(घ) उपर्युक्त '-इ'-युक्त नाम धातुओं के अतिरिक्त कुछ मूलतः संज्ञा शब्द ही उसी रूप में धातु के रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—चोपड़ 'मक्खन' से चोपड़-ना 'मक्खन लगाना (रोटी आदि में)', छौशण 'मक्खन' से छौश-णा 'मालिश करना', सोढ़ 'रिश्वत' से सोढ़ना 'रिश्वत देना', बौर 'वर' से बौर-ना 'वर नियत करना', पौहर 'पहरा' से पौहर-ना 'पहरा देना', गोंठ 'सं० ग्रन्थि' से गोंठ-णा 'गांठना', मूच सं० 'मूत्र' से मूच-णा 'पेशाब करना', सं० वाट से बाड़-णा 'बाड़ लगाना'।

(3) अनुकरणात्मक धातुएं—

कुलुई की साधित धातुओं में अगला स्थान अनुकरणात्मक धातुओं का है। इनकी व्युत्पत्ति या तो एक ही ध्वनि के द्वित्व से हुई है या पुनरुक्ति द्वारा हुई है। कुछेक प्रसिद्ध अनुकरणात्मक क्रियाओं के रूप इस प्रकार हैं—तड़फड़ाइणा 'तड़पना', लड़फड़ाइना 'व्याकुल होना', थरथराइणा 'थर-थर करना', फड़फड़ाइणा 'फड़-फड़ करना', फड़कणा 'फड़-फड़ करना', गिड़कणा 'गिड़गिड़ाना', हिंगशिणा 'हिचकी भरना', ठणकाणा 'ठनकाना', किलकिलाइणा 'व्याकुल होना', खिणकणा 'लुड़क जाना', घरिंज्रणा 'गर्जन करना' आदि।

अकर्मक और सकर्मक

समस्त क्रियाएं मूलतः दो भागों में विभक्त हैं—अकर्मक और सकर्मक। सिद्ध धातुएं प्रमुखतः अकर्मक होती हैं, जैसे डीणा, छिज्रणा, जीणा, झोड़ना आदि। परन्तु सभी सिद्ध धातुएं अकर्मक नहीं हैं, कतिपय सकर्मक भी है। संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया-विशेषण से बनी सभी नाम-धातुएं प्रायः अकर्मक हैं। इनमें से बहुत कम सकर्मक हैं, यद्यपि इन मूल नामधातुओं से सकर्मक रूप भी बनते हैं।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है सिद्ध अकर्मक धातुओं से कई प्रकार से सकर्मक धातुएं बनती हैं—(क) सिद्ध धातु में 'आ' प्रत्यय जोड़ने से—'घट' से 'घटा',

'बन' से बना, 'बदल' से 'बदला', 'सो' से 'सुआ', 'पी' से 'पिआ' आदि; (ख) 'ए' के संयोग से 'छिप' से 'छपे', 'भौक' से 'भके', 'जोड़' से 'जड़े' आदि; (ग) 'एर' के जोड़ने से 'निभ' से 'निभेर', 'शौग' से 'शगेर'। नामधातुओं से सकर्मक रूप प्रायः '–एर–' के संयोग से ही बनते हैं।

वाच्य

कुलुई में कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य तीनों के रूप मिलते हैं। परन्तु वाच्य के नियम हिन्दी से भिन्न हैं। हिन्दी में कर्मवाच्य रूप बनाते समय मूल क्रिया अपने भूतकालिक कृदन्त में रहती है और उसके साथ 'जाना' क्रिया के विभिन्न रूपों का प्रयोग होता है। परन्तु कुलुई में कर्मवाच्य रूप के लिए 'जाना' जैसी सहायक क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। यहां हर क्रिया का अपना ही कर्मवाच्य रूप बनता है। कुलुई में क्रियाओं के कर्मवाच्य रूप मूल धातु में 'इ' प्रत्यय जोड़ने से बनते हैं, अर्थात् 'इ' का संयोग मूल धातु के अन्त में तथा साधारण क्रिया के 'ना' प्रत्यय के पहले होता है। जैसे—'पी' धातु का कर्तृवाच्य रूप 'पीणा' है, तथा 'पी' में 'इ' के संयोग से 'पीइणा' कर्मवाच्य रूप बनता है 'पीया जाना'। इसी तरह 'जीणा' से 'जीइणा' (जीया जाना), 'खाणा' से 'खाइणा' (खाया जाना) आदि। कुछ अन्य रूप देना उचित होगा—

मूल धातु	कर्तृवाच्य रूप	कर्मवाच्य धातु	क्रिया
सो	सोणा	सोई	सोइणा
दे	देणा	देई	देइणा
काट	काटणा	काटि	काटिणा
शोट	शोटणा	शोटि	शोटिणा
मार	मारना	मारि	मारिना
छौश	छौशणा	छौशि	छौशिणा
शौग	शौगणा	शौगि	शौगिणा

कर्मवाच्य का यह '–इ–' युक्त रूप सभी स्थिति में अपरिवर्तित रहता है। लिंग और वचन के लिए इसमें परिवर्तन नहीं आता।

कुलुई का यह कर्मवाच्य रूप 'इ' संस्कृत के अनुरूप है। संस्कृत में धातु में 'य' जोड़ने से कर्मवाच्य का रूप बनाया जाता था, जैसे—क्रियते, दीयते आदि। प्राकृत में यह 'य' >इय—इय्य>ईय में बदला। अपभ्रंश में इसका रूप इज्ज>इज—ईज> ईअ>इअ में परिवर्तित हुआ, और 'इअ' में 'अ' के लोप से कुलुई 'इ' प्रत्यय की उत्पत्ति मानी जा सकती है।

हिन्दी में कर्तृवाच्य रूप अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं से बनता है, परन्तु कर्मवाच्य रूप प्रायः सकर्मक क्रिया से ही बनता है। कुलुई इस दृष्टि से हिन्दी से भिन्न है। यहां सकर्मक और अकर्मक दोनों क्रियाओं से कर्मवाच्य रूप बनता है। इस दृष्टि से कुलुई हिन्दी के भाववाच्य रूप के समरूप है। कुलुई में अकर्मक क्रिया

से कर्मवाच्य रूप इस प्रकार देखे जा सकते हैं 'होणा' से 'होइणा' (हुआ जाना), 'सोणा' से सोइणा (सोया जाना), जाणा से 'जाइणा' (जाया जाना)। इस प्रकार आधुनिक आर्यभाषाओं और विशेषतः हिन्दी में भूतकालिक कृदन्तीय रूप में 'जा' सहायक क्रिया के मेल से कर्मवाच्य रूप बनाने की जो प्रथा विद्यमान है, वह कुलुई में नहीं है। हिन्दी के वाक्यों 'मुझ से काम किया जाता है', 'उससे चिट्ठी नहीं लिखी जाती' तथा 'उससे सोया नहीं जाएगा', के कुलुई में क्रमशः रूप इस प्रकार बनेंगे—'मेरे कोम केरिया सा', 'तेइरे चिट्ठी नी लिखिदी' तथा 'तेईरे नी सोइणा'। स्पष्ट है कि कुलुई में 'जा' धातु या 'जाना' सहायक क्रिया का कर्मवाच्य के लिए प्रयोग नहीं होता। हिन्दी में कर्मवाच्य रूप बनाने के लिए प्रायः सकर्मक धातु के भूतकालिक कृदन्त के आगे 'जाना' क्रिया के सब कालों और अर्थों में रूप जोड़े जाते हैं, परन्तु कुंलुई में मूल क्रिया में ही काल अर्थ और लिंग भेद से रूप बदलते हैं—हिं० खाया जाता है > कु० खाइया सा, धोई जाती है > कु० धोइया सा, पढ़े जाते हैं > कु० पौढ़िया सी, लिखा जाएगा > कु० लिखिला, काटे जाएंगे > कु० काटिले आदि।

कुलुई में कर्मवाच्य का प्रयोग बहुत मिलता है, परन्तु ये प्रयोग प्रायः भविष्यत् काल के लिए या निषेधात्मक वाक्य के लिए ही अधिक प्रचलित हैं, जैसे—

हिन्दी	कुलुई
1. उसे किताब दी जाएगी।	तेईबे कताब देइली।
2. दूध के साथ भात खाया जाएगा।	दूधा सोंगे भौत खाइला।
3. रोटी भी न खाई गई।	रोटी भी नी खाउई।
4. धूप में बैठा नहीं जाता।	धूपा-न नी बेशिदा।
5. बोझ उठाया नहीं जाता।	बोझा नी चौखिदा।

भूतकालिक स्थिति में 'इ' प्रत्यय 'उ' में बदलता है, जैसे पी से पीउआ 'पिया गया', उठ से उठुआ 'उठा गया', शोट से शोटुआ 'फेंका गया' आदि।

कुलुई में 'सकना' क्रिया नहीं है, और न ही इसका कोई और पर्यायवाची शब्द है। अतः इसका भाव हमेशा कर्मवाच्य रूप से व्यक्त किया जाता है : 'तू यह काम नहीं कर सकता' का भाव कुलुई में 'तेरे ए कोम ने केरिदा' से प्रकट होगा अर्थात 'तेरे से यह काम नहीं किया जाता।' इस दृष्टि से कुलुई कर्मवाच्य-प्रधान बोली है—'वह पढ़ नहीं सकता' > कु० तेईरे नी पौढ़िदा। ऐसी स्थिति में विशेषतया नकारात्मक वाक्य कर्मवाच्य ही होता है—तेरे नी जीइंदा 'तेरे से नही जीया जाता', तेईरे नी जीतिदा 'उससे नहीं जीता जाता' अर्थात 'वह जीत नहीं सकता', शोहरू रे नी नौचिदा 'लड़के से नाचा नहीं जाता' अर्थात 'लड़का नाच नहीं सकता।' यद्यपि कुलुई में 'मैं नही लाऊंगा' का मूल रूप 'मूं नी आणना' है, परन्तु वाक्य का ऐसा रूप प्रचलित नहीं है। इसकी अपेक्षा 'मेरे नी आणिदा' अधिक लोक-प्रिय वाक्य है अर्थात'मुझसे नहीं लाया जाता।' अकर्मक क्रिया की स्थिति में भी कर्तृवाच्य की अपेक्षा कर्मवाच्य रूप अधिक प्रचलित हैं - राती नी सोइंदा 'रात को सोया नहीं जाता' (अर्थात रात को सो नहीं सकता), मुंह री दाहिए भी हौसिदा 'मुंह की दर्द से (के कारण) हंसा नहीं जाता—हंस नहीं सकता'। मूलतः कुलुई

में यह स्थिति हिन्दी के भाववाच्य के अनुरूप है, परन्तु यहां 'जा' का प्रयोग नहीं होता है।

ऊपर 'साधित धातु' के अन्तर्गत यह लिखा जा चुका है कि कुलुई में एक मूल धातु की केवल एक ही प्रेरणार्थक क्रिया बनती है। हिन्दी की तरह दो नहीं बनतीं। परन्तु प्रत्येक मूल धातु तथा उसके प्रेरणार्थक रूप से अलग-अलग कर्मवाच्य रूप बनते हैं। निम्न सूची से इसका स्पष्टीकरण हो जाएगा—

मूल क्रिया	कर्म वाच्य रूप	प्रेरणार्थक क्रिया	कर्मवाच्य रूप
पीणा	पीइणा	पियाणा	पियाइणा
	(पिया जाना)	(पिलाना)	(पिलाया जाना)
ज़ीणा	जीइणा	ज़ियाणा	ज़ियाइणा
	(जिया जाना)	(जीवित करना)	(जीवित किया जाना)
धोणा	धोइणा	धुआणा	धुआइणा
	(धोया जाना)	(धुलाना)	(धुलाया जाना)
सोणा	सोइणा	सुआणा	सुआइणा
	(सोया जाना)	(सुलाना)	(सुलाया जाना)
देणा	देइणा	दिआणा	दिआइणा
	(दिया जाना)	(दिलाना)	(दिलाया जाना)
बघणा	बघिणा	बघेरना	बघेरिना
	(बढ़ जाना)	(बढ़ाना)	(बढ़ाया जाना)
घटणा	घटिणा	घटेरना	घटेरिना
	(घट जाना)	(घटाना)	(घटाया जाना)
छ़ूटणा	छ़ूटिणा	छटेरना	छटेरिना
	(छूट जाना)	(छोड़ना)	(छोड़ देना)
ड़ूबणा	ड़ूबिणा	डबेणा	डबेइणा
	(डूब जाना)	(डबोन)	(डबोया जाना)
शुणना	शुणिना	शणिआणा	शणिआइणा
	(सुना जाना)	(सुनाना)	(सुनाया जाना)

कर्मवाच्य के रूप में प्रायः कर्ता के सामर्थ्य होने या न होने का भाव प्रकट होता है। कर्ता के साथ सम्बन्धकारक का बहुवचन प्रत्यय 'रे' के बाद क्रिया का प्रयोग होता है—माण्हु रे नी केरिदा (आदमी से नहीं किया जाता)।

धातुरूपावली

संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण की तरह धातुएं भी वाक्य में प्रयुक्त होने पर अपना रूप बदलती हैं। ऐसा परिवर्तन प्रायः लिंग, वचन, पुरुष, काल, वाच्य तथा प्रकार के आधार पर होता है। कुलुई धातुओं के रूप-भेद के लिए इन्हें चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है :—

1. श-कारान्त धातुएं
2. इकारान्त, प्रमुखतः इकारान्त नाम-धातुएं
3. अन्य सभी धातुएं, और
4. कुछ अपवाद ।

मूल रूप में सभी धातुओं (उपर्युक्त 3) के रूप एक ही प्रकार से निष्पन्न होते हैं, और वह प्रकार धातु में 'ऊ' जोड़ने से बनता है । जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में ही लिखा गया है धातु में 'णा' अथवा 'ना' जोड़ने से क्रिया का सामान्य रूप बनता है—खा से खाणा, पी से पीणा, मर से मरना आदि । धातु में मूल परिवर्तन 'ऊ' के जोड़ने से इसका भूतकालिक रूप बनता है, जैसे उठ से उठू (उठा), खा से खाऊ (खाया), पी से पीऊ (पिया), जी से जीऊ (जिया), ले से लेऊ (लिया), ने से नेऊ (ले गया), धो से धोऊ (धोया), ढो से ढोऊ (ढोया) आदि ।

शकारान्त धातुओं की स्थिति में यह नियम सर्वत्र एक रूप से प्रचलित नहीं है । जहां 'पीश' से 'पीशू' (पीसा) रूप बनता है, वहां 'बेश' और 'पेश' 'बेशू' और 'पेशू' न होकर 'बेठा' (बैठा) और 'पेठा' (घुस गया) रूप बनते हैं । इस प्रकार शकारान्त धातुओं का परिवर्तन अकर्मक और सकर्मक होने पर निर्भर है । जो धातुएं सकर्मक हों उनका रूप अन्य धातुओं की तरह 'ऊ' के संयोग से बदलता है, और जो धातुएं अकर्मक हों उनकी स्थिति में 'श' प्रायः 'ठा' द्वारा प्रतिस्थापित होता है—

	धातु	भूतकाल
(क) सकर्मक	पीश	पीशू (पीसा)
	चूश	चूशू (चूसा)
	घुश	घुशू (घिसा)
	टुश	टुशू (साफ किया)
	हेश	हेशू (चूल्हे पर चढ़ाया)
(ख) अकर्मक	बाश	बाठा (पशु या पक्षी बोला)
	बेश	बेठा (बैठा)
	न्हौश	न्हौठा (गया)
	रुश	रुठा (रूठा)
	पेश	पेठा (घुस गया)
	हिश	हिठा (बुझा)
	रिह्श	रिह्ठा (गुम हुआ)

जहां तक इकारान्त धातुओं का सम्बन्ध है, जिनमें प्रमुखतः नाम धातुएं हैं, रूप-भेद कुछ अलग होता है । इन धातुओं का 'इ' प्रायः 'उ' में बदलता है और फिर 'आ' का संयोग होता है । अर्थात इकारान्त धातुओं का 'इ' 'उआ' में बदल जाता है, जैसे—**राति** (ना) से **रातुआ** 'रात हो गई', **निहारि** (ना) से **निहारुआ** 'अन्धेरा हुआ', **निहाइ** (णा) से **निहाउआ** 'नहाया', गोभ़ि (णा) से **गोभ़ुआ** 'छिप गया', **भूखि** (णा) से **भुखुआ** 'भूख लगी', **लौजि** (णा) से **लौजुआ** 'शर्माया' आदि ।

उपर्युक्त नियमों के कुछ अपवाद भी हैं। कुछ धातुएं ऐसी हैं जिनके रूप अपने अलग ढंग से निष्पन्न होते हैं। ये धातुएं हैं—**दे** (णा), **सो** (णा), **मर** (ना), **जा** (णा), हो (णा), एज़ (णा) तथा ओस (णा)। इनका रूप परिवर्तन क्रमशः इस प्रकार होता है-—दे>**धीना** दिया', सो>**सुता** 'सोया', मर>मुँआ 'मरा', जा>**न्हौठा** 'गया' (जो मूल रूप में '**न्होश**' का भूतकालिक रूप है), हो>हुआ 'हुआ', एज़>आऊ 'आया' तथा ओस से ओथा उतरा।

इन रूपों में लिंग, बचन तथा काल आदि के भेद आगे प्रकट हो जाएंगे।

कृदन्त (Participles)

जब धातु क्रिया की बजाय किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होती है, तो उसे कृदन्तीय रूप कहा जाता है। कुलुई में धातुओं के कृदन्तीय रूप का बहुत प्रयोग होता है। ऐसे प्रयोग में धातु कई बार संज्ञा, विशेषण या क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयुक्त होती है। इनका विवरण नीचे प्रस्तुत है—

1. क्रियार्थक संज्ञा (Verbal Noun)

कुलुई में क्रियार्थक संज्ञा का बहुत **प्रयोग** होता है। धातु में 'णा' या 'ना' जोड़ने से क्रिया का जो सामान्य रूप बनता है, उसका मूल रूप में प्रयोग संज्ञा के समान ही होता है—मूं **नौचना** खरा नी लागदा, 'मुझे नाचना अच्छा नहीं लगता'। यहां 'नाचना' क्रिया संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुई है अर्थात 'मुझे नाच अच्छा नहीं लगता।' इसी तरह तेईबे **पौढ़ना** नी एंदा 'उसे पढ़ना (पढ़ाई) नहीं आता', खाणा नी रुचदा 'खाना (भोजन) पसन्द नहीं होता' आदि। इस दशा में क्रियार्थक संज्ञा पुल्लिग के रूप में प्रयुक्त होती है और जब विभक्ति-प्रत्यय लगते हैं तो 'णा'-'ना' प्रायः 'णे'-'ने' में बदलते हैं—**लौड़ने** रा कोम नी औथी 'लड़ने (लड़ाई) का काम नहीं है', सोठणे मोंझे दिहाड़ा काढ्ढ 'सोचने (सोच) में ही दिन काटा'। क्रिया का यह रूप सामान्य भविष्य में प्रयुक्त होता है—मूं जाणा 'मैं जाऊंगा'।

2. कर्तृवाचक संज्ञा (Agentive Noun)

जब धातु में '-णू या नू आला' जोड़ा जाए तो वह कर्तृवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है। लिखणू आला कुण थी 'लिखने वाला (लेखक) कौन था', चोरनू आला बे किछ नी मिलू 'चोरने वाले (चोर) को कुछ न मिला' आदि। वाक्य में प्रयोग होने पर 'आला' शब्द आकारान्त संज्ञा की तरह लिंग, वचन के अनुसार बदलता है, और तब इसका प्रयोग विशेषण के रूप में होता है—घाह काटणू आला मौरद, घाह काटणू **आली** बेटड़ी, घाह काटणू आले लोक आदि।

3. वर्तमानकालिक कृदन्त (Present Participle)

धातु में '**दा**' जोड़ने से वर्तमानकालिक कृदन्त बनता है, अर्थात् **सोठणा** क्रिया

की **सोठ** धातु है और **सोठदा** इसका वर्तमानकालिक कृदन्त। इसी तरह बोल से बोलदा, उठ से उठदा, ढुण से ढुणदा। यह रूप मुख्यतः विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है, और यह लिंग तथा वचन के अनुसार आकारान्त विशेषण की तरह वाक्य में बदलता है, जैसे—**हुँडदा** शोहरू (चलता लड़का), **हुँडदी** शोहरी (चलती लड़की/लड़कियां), **हुँडदे** लोका (चलते लोग)। स्वरान्त धातुओं की स्थिति में '-दा' से पूर्व अनुनासक आता है, जैसे—खा से खांदा, पी से पींदा, दे से देंदा, धो से धोंदा आदि। वर्तमानकालिक कृदन्तीय रूप कई अन्य अवस्थाओं में भी प्रयुक्त होता है। सामान्य संकेतार्थ काल का भाव इसी द्वारा प्रकट होता है, जैसे—हाऊं **सोंदा** ता तमाशा नी **हेरदा** 'मैं सोता तो तमाशा न देखता।' इसके अतिरिक्त जहां संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग हो रहा हो तो पूर्व क्रिया का रूप वर्तमानकालिक कृदन्तीय हो जाता है, यथा—सो गला **ढुणदा** बेठा 'वह बातें करने बैठा', हाऊं मना-न सोठदा लागा 'मैं दिल में सोचने लगा।' लिंग और वचन के आधार पर '-दा' प्रत्यय '-दी' तथा '-दे' में बदलता है।

4. **भूतकालिक कृदन्त** (Past (Partiiple)

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, कुलुई में भूतकालिक कृदन्त प्रायः धातु में 'ऊ' जोड़ने से बनता है, जैसे—खा (णा) से खाऊ 'खाया', शुण (ना) से शुणू 'सुना', हेर (ना) से हेरू आदि। अकर्मक शकारान्त धातुओं की स्थिति में 'श्' प्रायः 'ठा' में बदलता है, इकारान्त धातुओं की स्थिति में 'इ' स्वर 'उआ' में परिणत होता है, कुछ अपवाद हैं। यह पहले लिखा जा चुका है। पुल्लिंग बहुवचन में भूतकालिक कृदन्त 'ए' में और स्त्रीलिंग एकवचन तथा बहुवचन 'ई' में बदलता है।

भूतकालिक कृदन्त से सामान्य भूत, पूर्ण भूत, आसन्न भूत, सन्दिग्ध भूत, पूर्ण संकेतार्थक कालों की रचना होती है।

5. **पुराघटित कृदन्त** (Perfect Participle)

कुलुई में पुराघटित कृदन्त के रूप दो तरह से बनते हैं, और दोनों समान रूप से प्रचलित हैं।

(क) प्रथमतः मूल धातु में 'इरा' प्रत्यय जोड़ने से पुराघटित कृदन्त बनता है, यथा चूटिरा किरडा 'टूटा (हुआ) किलटा।' इकारान्त धातुओं की स्थिति में '-इरा' जोड़ने से पूर्व धातु का अन्तिम 'इ' स्वर 'उ' में बदल जाता है—'गोझि'-ना से 'गोझु-इरा।' यह विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है और आकारान्त विशेषण की तरह ही बदलता है—**चुटिरा** किरडा, **चुटिरी** पूला, चुटिरे टौल्हे; **बाहिरा** छेत 'बोया (हुआ) खेत,' बाहिरी क्यारी 'बोयी (हुई) क्यारी,' 'बाहिरे छेत 'बोये (हुए) खेत' आदि। वस्तुतः रा-रे-री सम्बन्धकारक के प्रत्यय हैं, और सम्बन्धकारक प्रत्ययों से विशेषण बनना पहाड़ी की सभी बोलियों की विशेषता है। असल में इनको कर्मवाच्य के रूप माना जाना चाहिए, यथा—धोइरा कोट 'धोया गया कोट', पौढ़िरी कताब 'पढ़ी गई किताब' आदि। स्पष्टतः 'इरा' प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत के '-इत' में सम्बन्धकारक

के संयोग से हुई है, यथा-लिखित (पुस्तक) >लिखिअ+री >लिखिरी (पुस्तक) आदि।

(ख) पुराघटित कृदन्त का दूसरा रूप **'-उदा'** (हुंदा) के संयोग से बनता है। **'-उदा'** प्रत्यय लिंग-वचन के अनुसार बदलता है। जैसे लिखुदा कागद 'लिखा (हुआ) कागज़', लिखिदी कताब 'लिखी (हुई) किताब', लिखेदे पत्र 'लिखे (हुए) पत्र'। वस्तुतः 'उदा' प्रत्यय 'हुंदा' शब्द है जो हिन्दी 'हुआ' का कुलुई रूप है—सोठुदा> सोठुहुंदा>सोचा हुआ, बाहुदा<बाहु हुंदा<बोया हुआ, पौढ़ुदा<पौढ़ु हुंदा 'पढ़ा हुआ' आदि।

6. पूर्वकालिक कृदन्त (Conjunctive Participle)

कुलुई में पूर्वकालिक कृदन्त मूल धातु में '-इया' प्रत्यय जोड़ने से बनता है, जैसे 'खाणा' क्रिया की 'खा' धातु से पूर्वकालिक कृदन्त 'खाइया' (खा कर)। इसी तरह लिख-(ना) से लिखिया 'लिखकर', शुण (ना) से शुणिया 'सुनकर', झौड़ (ना) से झौड़िया 'गिरकर', पी (णा) से पीइया 'पीकर'। इकारान्त धातुओं की स्थिति में '-इया' प्रत्यय के संयोग से पूर्व मूल धातु का अन्तिम 'इ' स्वर 'उ' में बदल जाता है, जैसे—गोझि (णा) से गोझुइया 'छिप करके', निहाइ (णा) से निहाउइया 'नहाकर', लौजि (णा) से लौजुइया 'लज्जित होकर' आदि।

इस **'-इया'** प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत के पूर्वकालिक कृदन्त के प्रत्यय **'क्त्वा'** से हुई है। संस्कृत में धातुओं में 'क्त्व' जोड़ने से पूर्वकालिक कृदन्त के रूप बनते हैं, जैसे 'भू' से 'भूत्व', 'गम' से 'गत्व' आदि। परन्तु यदि धातुओं के पहले उपसर्ग आदि हों तो 'क्त्वा' का 'ल्यप्' हो जाता है। 'क्त्व' का केवल 'त्व' और 'ल्यप्' का केवल 'या' रहता है, यथा—'भू' से 'भूत्व' परन्तु 'अनुभू'से 'अनुभूय', 'नी' से 'नीत्व' और 'विनी' से 'विनीय' आदि। कुलुई में मूल 'क्त्व' रूप न रह कर उपसर्गीय 'ल्यप्' का 'य' प्रत्यय प्रचलित हुआ है। डॉ० उदयनारायण तिवारी इसकी उत्पत्ति यूं मानते हैं—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा दृक्ष्य>म० भा० आ० देक्खिअ>आ० भा० आ० देखि[1]। इस प्रकार इससे कुलुई रूप 'देखिया' बना।

7. मध्यकालिक कृदन्त (Transitional Participle)

कार्य की निरन्तरता का भाव प्रकट करने के लिए वर्तमानकालिक कृदन्त के पुल्लिग-बहुवचन के रूप का द्वित्व किया जाता है, यथा लिखदे-लिखदे, बेशदे-बेशदे, उठदे-उठदे आदि। स्वरान्त धातुओं की स्थिति में यहां भी '-दे' प्रत्यय से पूर्व अनुनासिक प्रयुक्त होता है, जैसे जा से जांदे-जांदे (जाते-जाते), पी से पींदे-पींदे, खांदे-खांदे (खाते-खाते), निहाइंदे-निहाइंदे (नहाते-नहाते), देंदे-देंदे (देते-देते) आदि।

कालरचना

कुलुई में विभिन्न कालों की अभिव्यक्ति मुख्यतः दो तरह से की जाती है—

1. डॉ० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० 491.

(क) कुछ काल मूल क्रियाओं के रूपों से स्पष्ट होते हैं; (ख) शेष काल सहायक क्रिया के सहयोग से अभिव्यक्त होते हैं। उत्तरोक्त कालों में मूलतः केवल एक क्रिया अर्थात् 'होणा' का सहायक-क्रिया के रूप में प्रयोग होता है, परन्तु विभिन्न स्थितियों में इसका रूप बदलता है। अतः पहले इस पर ही विचार करना अधिक उचित होगा।

मूल रूप में 'होणा' शब्द **सामान्य भविष्य** को प्रकट करता है, जैसे निहारा होणा 'अंधेरा होगा', 'पाणी ठाण्डा होणा 'पानी ठण्डा होगा' आदि।

सामान्य वर्तमान में 'हो' धातु '**सा**' में बदलता है। '**हो**' संस्कृत √भू धातु का हिन्दी रूप 'हो (ना)' ही है—भव्>भो>हो। परन्तु '**सा**' संस्कृत के √अस् रूप से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका बहुवचन रूप '**सी**' है, अतः—सं० अस्ति>अस्सि>सी (कुलुई में आदि स्वर का लोप होता है, जैसाकि पहले ही 'स्वर-ध्वनि' में स्पष्ट किया गया है)। '**सा**' शब्द में केवल वचन के आधार पर ही परिवर्तन आता है, लिंग के आधार पर कोई परिवर्तन नहीं आता, जैसे—शोहरू **सा** 'लड़का है', शोहरी **सा** 'लड़की है', परन्तु कुत्ते/भेड़ा **सी** 'कुत्ते/भेड़ें हैं।' इस प्रकार सामान्य वर्तमान के रूप इस प्रकार होंगे—

	एकवचन	**बहुवचन**
'मैं हूं' आदि—	1. हाऊँ सा	आसे॑ सी
	2. तू सा	तुसे॑ सी
	3. सो सा	ते सी

प्रश्नवाचक वाक्य में भी यही रूप रहते हैं, यथा—कुण सा 'कौन है?' कुणा सी 'कौन हैं?' परन्तु निषेधात्मक अथवा नकारात्मक भाव में 'सा' और 'सी' रूप नहीं रहते। तब रूप '**नाथी**' बनता है, जो स्थान-भेद के अनुसार 'नी आथी', 'नी औथी' या 'नाथी' में प्रयुक्त होता है। '**नाथी**' की उत्पत्ति संस्कृत 'नास्ति' से स्पष्ट है, यथा—नास्ति>नात्थि>नाथी। इसमें न लिंग के और न ही वचन के आधार पर कोई विकार आता है, जैसे—

'मैं नहीं हूं' आदि—

1. हाऊं नी औथी	आसे नी औथी
2. तू नी औथी	तुसे॑ नी औथी
3. सो नी औथी	ते नी औथी

भूतकाल में इसका रूप '**थी**' बनता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'स्थित' से जानी जा सकती है—स्थित>स्थिद>थिअ>थी। 'थी' में लिंग या वचन के आधार पर किसी तरह का विकार नहीं आता। सभी स्थिति में समान रूप से अपरिवर्तित रहता है, जैसे—हाऊं थी, आसे॑ थी; तू थी, तुसे॑ थी; सो थी, ते थी।

सम्भाव्य में रूप 'होला' बन जाता है। 'होला' शब्द दोनों लिंग और वचन के आधार पर बदलता है। बहुवचन पुल्लिंग में 'होले॑' तथा स्त्रीलिंग एकवचन और बहुवचन में 'होली'।

अब सभी काल रचनाओं का नीचे क्रम में विवरण दिया जाता है।

1. वर्तमान आज्ञार्थ

क्रिया के शुद्ध धातु रूप से अभिव्यक्त होने वाला कुलुई काल वर्तमान आज्ञार्थ है। इसकी रचना में न धातु में कोई विकार आता है, न किसी सहायक क्रिया की आवश्यकता होती है। परन्तु इसके रूप कुलुई में केवल मध्यम पुरुष में ही मिलते हैं, जैसे—तू चल, तू लिख, तू पढ़ आदि। उत्तम पुरुष में इससे आज्ञा का भाव नहीं होता, बल्कि केवल अनुमति अपेक्षित होती है, या इच्छा अभिव्यक्त होती है, जैसे हाऊं चलनूं 'मैं चलूं' हाउं पढ़नूं 'मैं पढ़ूं' आदि। इसका भाव है कि 'मैं चलने/पढ़ने की अनुमति चाहता हूं' या 'मैं चलना/पढ़ना चाहता हूं'। अन्य-पुरुष में इससे आज्ञा और अनुमति दोनों प्रकट होते हैं, परन्तु इसका भाव पूर्ण वर्तमान न रहकर भविष्यत् की ओर झुकता है, जैसे 'सो पढ़ला' का अर्थ प्रायः 'वह पढ़ेगा' अधिक है 'वह पढ़े' कम। इस तरह पूर्ण रूप इस प्रकार होते हैं :—

'मैं उठूं' आदि—

एकवचन	बहुवचन
हाऊं उठनूं	आसें उठाम
तू उठ	तुसें उठा
सो उठला	ते उठन

इन रूपों में से मध्यमपुरुष एकवचन तथा उत्तमपुरुष बहुवचन के रूप संस्कृत के अनुरूप हैं। संस्कृत में भी इनके रूप क्रमशः **पठ** (तू पढ़) तथा **पठाम** (हम पढ़ें) होते हैं।

2. सामान्य वर्तमान

मूल धातु में 'आ' जोड़ने से कुलुई का 'सामान्य वर्तमान' बनता है, परन्तु साथ ही सहायक क्रिया 'हो' का सामान्य वर्तमान रूप **'सा'** का भी संयोग होता है, जैसे 'चल' धातु में 'आ' जोड़ने से 'चला' में 'सा' के संयोग से 'चला सा' का अर्थ है 'चलता है'। इसी तरह 'सोठा सा' (सोचता है), 'पढ़ा सा' (पढ़ता है)। लिंग के आधार पर इसमें कोई परिवर्तन नहीं आता, जैसे—शोहरू लिखा सा 'लड़का लिखता है' और शोहरी लिखा सा 'लड़की लिखती है'। परन्तु, वचन के आधार पर बहुवचन में 'सा' के स्थान पर 'सी' बनता है :—

पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग

'मैं उठता हूं' आदि...

एकवचन	बहुवचन
हाऊं उठा सा	आसें उठा सी
तू उठा सा	तुसें उठा सी
सो उठा सा	ते उठा सी

आजकल के लेखकों को आकारान्त धातुओं की स्थिति में इस काल की अभिव्यक्ति में भूल रहती है। वे 'खाआ सा' को प्राय: 'खा सा' लिखते हैं; या कुछ लेखक किंचित आगे निकलकर प्राय: 'खाऽ सा' लिख देते हैं। स्पष्टत: ये दोनों रूप गलत हैं : ऊपर लिखा गया है कि सामान्य वर्तमान का प्रत्यय 'आ' है, जिसकी उत्पत्ति प्राचीन भारतीय भाषा से इस प्रकार सम्भव है—**सं० चलति >प्रा० चलदि >अप० चलइ >कु० चला**। चूंकि खाना, जाना, बनाना, सिखाना आदि क्रियाओं के धातु क्रमश: खा, जा, बना, सिखा हैं अत: 'आ' जोड़ने से इनके सामान्य वर्तमान रूप क्रमश: खाआ सा, जाआ सा, बणाआ सा, सखाआ सा होने चाहिए। यदि उक्त 'बणाआ सा' को 'वणा सा' लिखा जाए (बनाऽ तो कोई रूप नहीं हो सकता) तो इसका अर्थ होगा 'बणाता है' न कि 'बनाता है'।

सकर्मक क्रिया कर्तृवाच्य में भी यही रूप बनते हैं। कोई परिवर्तन नहीं आता—सो कताब पढ़ा सा 'वह किताब पढ़ता है'; ते कताब पढ़ा सी 'वे किताब पढ़ते है' आदि।

3. अपूर्ण भूत

सामान्य वर्तमान में मूल क्रिया का जो रूप रहता है, अपूर्ण भूत में भी वही रूप रहता है, केवल सहायक क्रिया का भूतकालिक रूप इसके साथ जुड़ता है। अर्थात मूल धातु में 'आ' जोड़कर तथा फिर 'थी' के संयोग से अपूर्ण भूत की रचना होती है, जैसे—'पढ़' धातु से 'पढ़ा थी' (पढ़ता था), 'सो' धातु से 'सोआ थी' (सोता था), 'पी' धातु से 'पीआ थी' (पीता था, परन्तु श्रुति के कारण पिया थी')। यह रूप सभी लिंग, वचन तथा पुरुष में समान रहता है। किसी तरह का इसमें परिवर्तन नहीं आता—

पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग, एकवचन तथा बहुवचन

'मैं उठता था' आदि—

हाऊं (आसें) उठा थी
तू (तुसें) उठा थी
सो (ते) उठा थी

सकर्मक क्रिया कर्तृवाच्य रूप भी इसी तरह समान रहते हैं—शोहरू कताब पढ़ा थी (लड़का/लड़के किताब पढ़ता/पढ़ते थे), शोहरी किताब पढ़ा थी (लड़की/लड़कियाँ किताब पढ़ती थी/थीं)।

4. संदिग्ध वर्तमान

संदिग्ध वर्तमान में मूल क्रिया का ठीक वही रूप रहता है, जो सामान्य वर्तमान काल का है, परन्तु संदेह की अभिव्यक्ति सहायक क्रिया के बदले रूप से होती है। उसमें सहायक क्रिया 'सा' की बजाय 'होला' प्रयुक्त होता है। 'होला' के रूप लिंग और बचन दोनों आधार पर बदलते हैं, यथा-खाआ होला 'खाता होगा', खाआ होली 'खाती

होगी', खाआ होले 'खाते होंगे'। सभी पुरुषों में पूर्ण रूप इस प्रकार बनेंगे :—

पुल्लिग

'मैं उठता हूंगा' आदि—

एकवचन	बहुवचन
हाऊं उठा होला	आसें उठा होलें
तू उठा होला	तुसें उठा होलें
सो उठा होला	ते उठा होलें

स्त्रीलिंग

हाऊं उठा होली	आसें उठा होली
तू उठा होली	तुसें उठा होली
सो उठा होली	ते (तिउंआ) उठा होली

इस काल में सकर्मक क्रिया कर्तृवाच्य रूप भी इसी प्रकार बनते हैं। कर्म स्त्री-लिंग हो या पुल्लिग मूल तथा सहायक क्रियाएं कर्म के आधार पर नहीं बदलतीं, प्रत्युत कर्ता के लिंगवचन के आधार पर ही केवल सहायक क्रिया के रूप में परिवर्तन आता है, यथा—घोड़ा घाह् खाआ होला 'घोड़ा घास खाता होगा', घोड़ी घाह् खाआ होली 'घोड़ी घास खाती होगी', घोड़ें घाह् खाआ होलें 'घोड़े घास खाते होंगे'। स्पष्ट है कि हिन्दी में कर्ता के लिंग-वचन के आधार पर मूल क्रिया भी वैसे ही बदलती है, जैसे सहायक क्रिया। परन्तु कुलुई में केवल सहायक क्रिया के रूप ही बदलते हैं, मूल क्रिया समान रहती है।

5. अपूर्ण संकेतार्थ

अपूर्ण संकेतार्थ में मूल क्रिया सामान्य वर्तमान स्थिति में रहती है, परन्तु सहायक क्रिया का रूप 'हुंदा' (होता) बनता है। 'हुंदा' का रूप लिंग और वचन के आधार पर बदलता है :—

पुल्लिग

'मैं उठता होता' आदि—

एकवचन	बहुवचन
हाऊं उठा हुंदा	आसें उठा हुंदें
तू उठा हुंदा	तुसें उठा हुंदें
सो उठा हुंदा	ते उठा हुंदे

स्त्रीलिंग

हाऊं उठा हुंदी	आसें उठा हुंदी

तू उठा हुंदी	तुसे ँ उठा हुंदी
सो उठा हुंदी	ते उठा हुंदी

'हुंदा' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'भवन्त्' से स्पष्ट है—सं० भवन्त् > भवन्दो > होन्दो > हुंदा।

6. सामान्य भूत

कुलुई में सामान्य भूत पुल्लिग, एकवचन धातु में 'ऊ' जोड़ने से अभिव्यक्त होता है। पुल्लिग बहुवचन में 'ऊ' > एँ में बदलता है। स्त्रीलिंग, एकवचन में 'ऊ' > ई में बदलता है, और बहुवचन में भी यही रूप रहता है, अर्थात स्त्रीलिंग एकवचन तथा बहुवचन में समान रूप रहते हैं :—

'मैं उठा' आदि—

एकवचन पु०/स्त्री	**बहुवचन पु०/स्त्री**
हाऊं उठू/उठी	आसे ँ उठे ँ/उठी
तू उठू/उठी	तुसे ँ उठे ँ/उठी
सो उठू/उठी	ते उठे /उठी

सकर्मक कर्तृवाच्य में क्रिया कर्ता के लिंग-वचन के भेद पर नहीं बदलती। कर्ता किसी लिंग या वचन में हो क्रिया के सामान्य रूप पर अन्तर नहीं आता, जैसे—मैं/तें/तेइएँ/आसे ँ/तुसे ँ/तिन्हे ँ लिखू। परन्तु सामान्य भूत में क्रिया कर्म के लिंग तथा वचन के आधार पर बदलती है; जैसे—**मैं**/आसे ँ **फौल खाऊ** (मैं/हमने फल खाया), मैं/आसे ँ **रोटी खाई** (मैं/हमने रोटी खाई), मैं/आसे ँ बूटे काटे ँ (मैं/हमने वृक्ष काटे) आदि।

7. आसन्न भूत

सामान्य भूत के रूपों के आगे सहायक क्रिया 'सा' के संयोग से आसन्न भूत बनता है। बहुवचन में 'सा' का बहुवचन रूप 'सी' का प्रयोग होता है :—

एकवचन पु०/स्त्री	**बहुवचन पु०/स्त्री**
हाऊं उठू सा/ उठी सा	आसे ँ उठे ँ सी/उठी सी
तू उठू सा/उठी सा	तुसे ँ उठे ँ सी/उठी सी
सो उठू सा/उठी सा	ते उठे ँ सी/तिउंआ उठी सी

सामान्य भूत की तरह ही आसन्न भूत में भी कर्तृवाच्य स्थिति में क्रिया और सहायक क्रिया कर्ता के लिंग-वचन के अनुसार नहीं, प्रत्युत कर्म के लिंग-वचन भेद के अनुसार परिवर्तित होती हैं—मैं/आसे ँ/तें/तुसे ँ/तेईए/तिन्हे ँ **भौत खाऊ** सा, मैं/आसे ँ/तें/तुसे ँ/तेईएँ/तिन्हे ँ **रोटी खाई सा**, मैं/आसे ँ/तें/तुसे ँ/तेईएँ/तिन्हे ँ बूटे ँ काटे ँ सी।

8. पूर्ण भूत

सामान्य भूत के वाक्य में 'थी' जोड़ने से पूर्ण-भूत की अभिव्यक्ति होती है। सकमक तथा अकर्मक क्रिया के सामान्य भूत में लिंग और वचन के आधार पर जो रूप

बनते हैं, उनमें 'हो (ना)' सहायक क्रिया के भूतकालिक रूप 'थी' के संयोग से ही पूर्ण-भूत बनता है। 'थी' का रूप लिंग और वचन के आधार पर नहीं बदलता, हिन्दी की तरह थे या था जैसा परिवर्तन नहीं आता—

एकवचन पु०/स्त्री०	**बहुवचन पु०/स्त्री०**
हाऊं उठू थी/उठी थी	आसें उठें थी/उठी थी
तू उठू थी/उठी थी	तुसें उठें थी/उठी थी
सो उठू थी/उठी थी	ते उठें थी/तिउंआ उठी थी

9. संदिग्ध भूत

कुलुई के संदिग्ध भूत की अभिव्यक्ति 'होला' सहायक क्रिया के संयोग से होती है। 'होला' सहायक क्रिया पुल्लिग बहुवचन में 'होलें' तथा स्त्रीलिंग एकवचन तथा बहुवचन में 'होली' में बदलती है :...

एक वचन पु०/स्त्री०	**बहुवचन पु०/स्त्री०**
हाऊं उठू होला/उठी होली	आसें उठें होलें/उठी होली
तू उठू होला/उठी होली	तुसें उठें होलें/उठी होली
सो उठू होला/उठी होली	ते उठें होलें/तिउंआ उठी होली

सकर्मक क्रिया कर्तृवाच्य रूप में मूल क्रिया और सहायक क्रिया 'होली' के रूप कर्म के लिंग और वचन के अनुसार बदलते हैं :—

कर्म पुल्लिग, एकवचन	**कर्म स्त्रीलिंग, एकवचन**
मैं/आसें भौत खाऊ होला	मैं/आसें रोटी खाई होली
तें/तुसें भौत खाऊ होला	तें/तुसें रोटी खाई होली
तेइएँ/तिन्हें भौत खाऊ होला	तेईएँ/तिन्हें रोटी खाई होली
कर्म पुल्लिग, बहुवचन	**कर्म स्त्रीलिंग, बहुवचन**
मैं/आसें छेत निंडें होलें	मैं/आसें शाड़ी निंडी होली
तें/तुसें छेत निंडें होलें	तें/तुसें शाड़ी निंडी होली
तेईए/तिन्हें छेत निंडें होलें	तेईए/तिन्हें शाड़ी निंडी होली

10. पूर्ण संकेतार्थ

सामान्य भूत के मूल क्रिया के रूपों के साथ सहायक क्रिया 'होना' के परिवर्तित रूप 'हुंदा' के संयोग से पूर्ण संकेतार्थ की रचना होती है—

पुल्लिग		**स्त्रीलिंग**
एकवचन	**बहुवचन**	**एक/बहुवचन (समान)**
हाऊं उठू हुँदा	आसे उठें हुँदें	हाऊं/आसें उठी हुँदी
तू उठू हुंदा	तुसें उठें हुँदें	तू/तुसें उठी हुँदी
सो उठू हुँदा	ते उठें हुँदे	सो/तिउंआ उठी हुंदी

सकर्मक क्रिया कर्तृवाच्य में मूल क्रिया और सहायक क्रिया कर्ता के लिंग-

वचन के अनुसार नहीं, बल्कि कर्म के लिंग तथा वचन के अनुसार बदलती हैं, जैसे—मैं/आसे॑/तें/तुसे॑/तेईएँ/तिन्हे॑ भौत खाऊ हुंदा, मैं/आसे॑/तें/तुसे॑/तेईएँ/तिन्हे॑ रोटी खाई हुँदी, मैं/आसे॑/तें/तुसे॑/तेईएँ/तिन्हे॑ छेत निंडे॑ हुँदे॑।

11. सामान्य संकेतार्थ

सामान्य संकेतार्थ धातु में 'दा' जोड़ने से प्रकट होता है, जैसे—पूछ से पूछदा, शोट से शोटदा आदि। परन्तु यदि धातु स्वरान्त हो तो मूल धातु और 'दा' के बीच अनुस्वार आ जाता है, यथा—खा से खांदा, पी से पींदा, सो से सोंदा। लिंग और वचन के आधार पर 'दा' में परिवर्तन आता है, पुल्लिग बहुवचन में 'दे॑' तथा स्त्रीलिंग एक वचन तथा बहुवचन में 'दी'—

पुल्लिग		स्त्रीलिंग
एकवचन	बहुवचन	एकवचन/बहुवचन (समान)
हाऊं उठदा	आसे॑ उठदे	हाऊं/आसे॑ उठदी
तू उठदा	तुसे॑ उठदे॑	तू/तुसे॑ उठदी
सो उठदा	ते उठदे॑	सो/तिउंआ उठदी

सकर्मक कर्तृवाच्य में भी 'दा' में परिवर्तन कर्ता के अनुसार ही आता है, कर्म के अनुसार नहीं, यथा—कुत्ता मास खांदा, कुत्ती मास खाँदी, कुत्ते मास खांदे॑, कुत्ता रोटी खांदा, कुत्ती रोटी खांदी आदि।

12. सम्भाव्य भविष्य

मूल धातु में 'ला' जोड़ने से सम्भाव्य भविष्य की अभिव्यक्ति होती है। वचन और लिंग के आधार पर 'ला' प्रत्यय में परिवर्तन आता है। इसमें सम्भाव्य रहता है—सो घौराबे॑ जाला 'वह घर को जाए'। अकर्मक और सकर्मक क्रियाओं में 'ला' एक ही नियम से बदलता है—

	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
एक वचन	बहुवचन	एक/बहुवचन
हाऊं उठला	आसे॑ उठले॑	हाऊं/आसे॑ उठली
तू उठला	तुसे॑ उठले॑	तू/तुसे॑ उठली
सो उठला	ते उठले॑	सो/तिउंआ उठली

13. सामान्य भविष्य

कुलुई में सामान्य भविष्यत् हिन्दी के अनुरूप नहीं है। इस में गा, गे, गी का प्रयोग नहीं मिलता, और न ही कोई और प्रत्यय है। 'ना' या 'णा' युक्त धातु का सामान्य-क्रिया रूप ही सामान्य भविष्यत् प्रकट करता है, जिसका हिन्दी में ऐसे से भाव प्रकट होता है, जैसे 'शहर जाना है', 'पानी पीना है', 'कपड़े धोने हैं' आदि। वास्तव में आदिम भारोपीय भाषा में भविष्यत् नहीं था, और भविष्य की रचना वर्तमान काल की

तरह ही रहती थी। कुलुई में भी मूल क्रिया ही इस काल के भाव को व्यक्त करनी है।

इस सम्बन्ध में एक विशेषता यह है कि सायान्य भविष्यत् में कर्ता अपने अविकारी रूप में प्रयुक्त नहीं होता, अर्थात् 'हाऊं उठणा' या 'तू उठणा' ऐसा प्रयोग नहीं होता। इस में कर्ता सर्वदा अपने विकारी रूप में रहता है, जैसे 'मूँ उठणा' (मैं ने उठना है), 'तौ उठणा' (तू ने उठना है), 'तेई उठणा' (उसने उठना है)। वास्तव में यह कर्म-वाच्य रूप है और करणकारक का प्रयोग होता है, जैसे मूँ उठणा 'मुझ द्वारा उठा जाएगा', *तिन्हा उठणा 'उन द्वारा उठा जाएगा।' यही कारण है कि 'णा' या 'ना' का रूप कर्म* के लिंग वचन के आधार पर बदलता है, कर्ता के लिंग-वचन अनुसार नहीं :—

कर्म पुल्लिग एक वचन	**कर्म पुल्लिग बहुवचन**
मूँ/आसा बूटा काटणा	मूँ/आसा बूटे काटणे
तौ/तुसा बूटा काटणा	तौ/तुसा बूटे काटणे
तेई/तिन्हाँ बूटा काटणा	तेई/तिन्हाँ बूटे काटणे

कर्म स्त्रीलिंग एक-बहुवचन समान

मूँ/आसा बूटी काटणी

तौ/तुसा बूटी काटणी

तेई/तिन्हां बूटी काटणी

स्पष्ट है कि जहाँ हिन्दी में 'मैं बूटा (वृक्ष) काटूँग', 'हम वृक्ष काटेंगे' रूप चलते हैं वहाँ कुलुई में 'मूँ बूटा काटणा', 'आसा बूटा काटणा' सामान्य भविष्य प्रकट करते हैं, अर्थात् 'मैं/हम ने वृक्ष काटना है' या 'मुझ/हमारे द्वारा वृक्ष काटा जाएगा।'

पुराघटित कृदन्त (Perfect Participle) से काल रचना

पहले लिखा जा चुका है, कि कुलुई में भूतकालिक कृदन्त (Past Participle) के अतिरिक्त पुराघटित कृदन्त भी प्रचलित है। ऊपर भूतकालिक कृदन्त से पाँच कालों की रचना का उल्लेख किया गया है:—

(1) सामान्य भूत—सो उठू 'वह उठा'

(2) आसन्न भूत—सो उठूसा 'वह उठा है'

(3) पूर्ण भूत—सो उठू थी 'वह उठा था'

(4) सदिग्ध भूत —सो उठू होला 'वह उठा होगा'

(5) पूर्ण संकेतार्थ—सो उठू हुन्दा 'वह उठा होता'

परन्तु यदि सच पूछा जाए तो इनमें से सामान्य भूत को छोड़ कर शेष चार का प्रयोग उस कदर आम प्रचलित नहीं है। इनका प्रयोग अवश्य है, परन्तु इनके साथ किञ्चित अनिश्चितता, संदिग्धता या इच्छा-अनिच्छा का भाव सर्वदा विद्यमान रहता है, जैसे 'सो उठू सा' का भाव यूं लगता है कि 'वह उठा तो है'। इसी तरह 'हाऊं उठू थी' में यह संदिग्धता सी है कि 'मैं उठा था परन्तु—।' वस्तुतः भूतकालिक कृदन्त का सामान्य प्रयोग तो जरूर है, परन्तु आम बोल-चाल में वाक्य अपने-आप में पूर्ण न

होगा आगे-पीछे का सम्पर्क अवश्य रहता है।

अतः उपर्युक्त पांच कालों की अभिव्यक्ति मूलतः पुराघटित कृदन्त से होती है। आम बोल-चाल में पुराघटित कृदन्तीय प्रयोग इतना अधिक है, कि भूतकालिक कृदन्तीय रूप प्रायः दबा सा रहता है। पहले लिखा जा चुका है कि पुराघटित कृदन्त के दो प्रत्यय हैं— 'इरा' और 'उदा'। कहीं-कहीं उदा में अनुस्वार भी रहता है, जैसे 'उंदा'। यद्यपि इन का प्रयोग समान रूप से प्रचलित है, फिर भी 'इरा' वाला रूप (जैसे उठिरा, लिखिरा, शुणिरा) लगवादी में अधिक प्रचलित है, और शेष स्थानों ऊझी, रूपी आदि में 'उदा' युक्त रूप (उठुदा, लिखुदा, शुणुदा) का प्रचलन है। वैसे 'इरा' में हिन्दी 'जाना' के भूतकालिक रूप 'गया' और 'उदा' में 'होना' के भूतकालिक रूप 'हुआ' का भाव समाविष्ट है, यथा—खाइरा 'खाया (गया) है', पीइरा 'पिया (गया) है, तथा खाउदा 'खाया हुआ', पीउदा 'पिया हुआ' आदि।

इस प्रकार पुराघटित कृदन्त से उन सभी कालों की रचना होती है,' जो भूत-कालिक कृदन्त से बनते हैं, जैसे—

(1) सामान्य भूत—'मैं उठा' आदि—

हाऊं उठिरा (उठुदा)	आसे॓ उठिरे॓ (उठेदे॓)
तू उठिरा (उठुदा)	तुसे॓ उठिरे॓ (उठेदे॓)
सो उठिरा (उठुदा)	ते उठिरे॓ (उठेदे॓)

(2) आसन्न भूत—'मैं उठा हूँ' आदि

हाऊं उठिरा (उठुदा) सा	आसे॓ उठिरे॓ (उठेदे॓) सी
तू उठिरा (उठुदा) सा	तुसे॓ उठिरे॓ (उठेदे॓) सी
सो उठिरा (उठुदा) सा	ते उठिरे॓ (उठेदे॓) सो

(3) पूर्ण भूत—'मैं उठा था' आदि—

हाऊं उठिरा (उठुदा) थी	आसे॓ उठिरे॓ (उठेदे॓) थी
तू उठिरा (उठुदा) थी	तुसे॓ उठिरे॓ (उठेदे॓) थी
सो उठिरा (उठुदा) थी	ते उठिरे॓ (उठेदे॓) थी

(4) संदिग्ध भूत—'मैं उठा हूंगा' आदि—

हाऊं उठिरा (उठुदा) होला	आसे॓ उठिरे॓ (उठेदे॓) होले॓
तू उठिरा (उठुदा) होला	तुसे॓ उठिरे॓ (उठेदे॓) होले॓
सो उठिरा (उठुदा) होला	ते उठिरे॓ (उठेदे॓) होले॓

(5) पूर्ण संकेतार्थ—'मैं उठा होता' आदि—

हाऊं उठिरा (उठुदा) हुंदा	आसे॓ उठिरे (उठेदे॓) हुंदे॓
तू उठिरा (उठुदा) हुंदा	तुसे॓ उठिरे (उठेदे॓) हुंदे॓
सो उठिरा (उठुदा) हुंदा	ते उठिरे (उठेदे॓) हुंदे॓

अध्याय—15

अव्यय

जैसा कि पहले लिखा गया है कुलुई में विभक्ति प्रत्ययों का प्रायः ह्रास हो रहा है। स्पष्टतया केवल बें, एँ और न विभक्ति प्रत्यय प्रचलित हैं। विभिन्न विभक्तियों का अर्थ पूर्ण करने के लिए अव्ययों से काम लिया जाता है। अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की तरह ही कुलुई में भी संज्ञा पदों, सर्वनामों तथा विशेषणों से अव्यय बने हैं। इन में अधिकांश अव्यय संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से उत्तराधिकार में आए हैं। इनका सामान्य परिचय नीचे दिया जाता है :—

स्थानवाचक क्रियाविशेषण (Adverb of place)

कुलुई में निम्नलिखित स्थानवाचक अव्यय विशेष रूप से प्रचलित हैं :—

औखें (यहां), तौखें (वहां), कौखें (कहाँ), जौखें (जहाँ), जौखें-कौखें (जहाँ-कहीं), इसे (इधर), तिसें (उधर), किसें (किधर) जिसें (जिधर), ओरिएँ (इस ओर), पोरिएँ (उस ओर), ओरें-पारें (आस-पास), आगें या आगिएँ (आगे), पीछें या पीछिएँ (पीछे), सारान (सर्वत्र), थालें (तले), हेठें (नीचे), बुन्हें (नीचे), परयालें (ऊपर), ऊझें (ऊपर), पांधें (ऊपर), धामें (धामने), हांदरें (अंदर), मोंझे (बीच), (भीतर), मीथरें बाहरें या बाहरिएँ (बाहर), नेड़ (निकट), भेटी (निकट), दूर (दूर), उआर (अवार), पार (पार), धीरें (तरफ), इसें धीरें, तिसें धीरें, किसें धीरें, पीछिएँ धीरें, चारी धीरें आदि।

औखें, तौखें, कौखें आदि रूप स्पष्टतया अत्र, तत्र, कुत्र आदि संस्कृत रूपों से बने हैं, और कक्ष के योग से निष्पन्न हुए प्रतीत होते हैं—जैसे एतत्कक्षम् से औखें। इनके साथ-साथ कुलुई में इन के प्राकृत रूप भी प्रचलित हैं, जैसे—प्रा० एतहे से एथें, तेतहे से तेथें, केतहे से केथें। कौखें के लिए एक अन्य शब्द 'कों' भी है, जो संस्कृत शब्द कुत्र > प्राकृत कुतअ > अपभ्रंश कउं का विकसित रूप है। तौखें, औखें आदि का ऐसा रूप प्रचलित नहीं है। 'इसें' और तिसें तथा ओरिएँ और पोरिएँ क्रमशः एक दूसरे के पर्यायवाची हैं; परन्तु जहाँ ओरिएँ-पोरिएँ संयुक्त अव्यय प्रचलित हैं, इसें-तिसें ऐसे अव्यय नहीं हैं, जैसे—'ओरिएँ-पोरिएँ भाल' (इधर-उधर देख) के स्थान पर 'इसें-तिसें भाल' प्रयोग में नहीं आता। ओरें-पोरें इन के संक्षेप रूप हैं। इस

रूप के शब्द 'किस ओर' और जिस ओर' के लिए प्रचलित नहीं है। जिसें-किसें संयुक्त अव्यय जहाँ-कहीं के अर्थ में होता है। इस अर्थ में यह जौखें-कौखें संयुक्त अव्यय का पर्यायवाची है—जिसें-किसें (या जौखे-कौखे) मत बेशदा (जहाँ कहीं न बैठ)। निकट के लिए 'नेड़' और 'भेटी' दो शब्द हैं। इस अर्थ में ये एक दूसरे का स्थान ले सकते हैं। नेड़ (या भेटी) जेंह एज (जरा निकट आ)। नेड़ जाइया (या भेटी जाइया) शुण (निकट जा कर सुन)। परन्तु दोनों में कुछ अन्तर भी है। नेड़ दूर का विपरीतार्थक शब्द है, भेटी नहीं है, जैसे—तेरा घौर नेड़ सा की दूर (तेरा घर नज़दीक है या दूर) यहाँ तेरा घौर भेटी सा की दूर कहना ठीक नहीं।

कुलुई में नीचे के लिए हेठें, थालें, बुन्हें तीन शब्द हैं। इन में थालें स्थिति-वाचक है और 'बुन्हें' दिशावाचक। दोनों एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकते—'बुन्हें-बें जा' की बजाए 'थालेंबें जा' कहना अधिक उचित न होगा। थालें हिन्दी शब्द तले का पर्यायवाची है। 'हेठें' अन्य दोनों का स्थान ले सकता है।" बुन्हेंबें जा" के लिए "हेठेंबें जा" कहना ठीक है। इसी तरह 'पैंनसल कताबा हेठें सा' की जगह 'पैंनसल कताबा थालें सा कहना भी उचित है। इसी प्रकार ऊपर के लिए भी तीन शब्द हैं—ऊझें, परयालें, पांधे। 'ऊझें' दिशावाचक है और 'परयालें' स्थितिवाचक। ऊझें शब्द बुन्हें का तथा परयालें शब्द थालें का विपरीतार्थक है। परन्तु पांधें शब्द हेठें का शुद्ध विपरी-तार्थक शब्द नहीं, क्योंकि जहाँ हेठें दोनों थालें और बुन्हें के लिए प्रयुक्त हो सकता है, पांधें शब्द ऊझें और परयालें के लिए समान रूप से प्रयुक्त नहीं हो सकता। "ऊझेंबें जा" के लिए "परयालेंबें जा" कहना ठीक न होगा। कुल्लू के कुछ भागों में ऊपर के लिए धामें शब्द भी है। यह संस्कृत 'धामन' शब्द है, जो मूल अर्थ छोड़ कर संकेत रूप में संज्ञामूलक अव्यय रहा है।

कालवाचक क्रियाविशेषण (Adverb of Time)

निम्नलिखित कालवाचक अव्यय विशेष रूप से व्यवहृत होते हैं—

औज (आज), हीज (पिछला कल), फरज (गुजरा परसों), शूई (अगला कल), पौरशी (आनेवाला परसों), एशू (इस वर्ष), पौर (पिछला वर्ष), पराह्‌र (पिछले से पिछला वर्ष), चनाह्‌र (गुजरा चौथा वर्ष), आगली (अगला वर्ष), नगली (अगले से अगला वर्ष), चरिगली (आनेवाला चौथा वर्ष), दोथी (प्रातः), झीश (सवेरा), सोंझ (सायं), त्रकाल सं० त्रिकाल (शाम), दिहाड़ा>दिवस (दिन), रात-दिहाड़ (रात-दिन), सोंझा-दोथी (सुबह-शाम), नुहारी (कल्यवर्ती), कलार (मध्याह्न-भोजन), बतौ-हरी (बाद-दोपहर या सायं का भोजन), बियाली (रात का भोजन), भयाणसर (भोर से पहले), भुर (भोर), एबें (अब), तेबें (तब), केबें (कब), जेबें (जब), जेबे बे केबें (जब-कभी), हाज़ी (अभी तक)।

हीज की व्युत्पति संस्कृत ह्यः (ह्यस) से हुई है, शूई संस्कृत श्वः (श्वस्), तथा पौरशी संस्कृत परश्वः (परश्वस्) से निष्पन्न हुए हैं। कालवाचक इन सभी शब्दों का आधार संस्कृत है, जैसे पौर संस्कृत 'परुत्', पराह्‌र संस्कृत 'परारि', एशू संस्कृत एषम् से

बने हैं। कुलुई में दिनों की स्थिति में दो दिन पिछले तथा आने वाले दो दिन और वर्षों की स्थिति में चार चार तक के अलग-अलग नाम प्रचलित हैं। इनके साथ सम्बन्ध कारक के विभक्ति प्रत्यय सर्वदा 'का, के, की' प्रयुक्त होते हैं। वास्तव में सम्बन्ध कारक की विभक्ति रा, रे, री ही हैं, केवल कालवाचक संज्ञा मूलक शब्दों के साथ का, के, की का प्रयोग होता है जैसे—औजका, हीज़का, फरज़का, एशका, पौरका, पराह्का, दोथका, सोंझका आदि। परन्तु जब यही शब्द इकारान्त या आकारान्त रूप में प्रयुक्त हों तो साधारण रा, रे, री प्रत्यय ही लगते हैं—दोथका परन्तु दोथीरा (सुबह का), कलारका परन्तु कलारीरा, बियालका परन्तु बियाली रा, दिहाड़का परन्तु दिहाड़ीरा, झीशका परन्तु झीशारा आदि। कलार का सम्बन्ध स० कल्याहार से है, परन्तु होता है यह दोपहर का खाना। कल्याहार अर्थात् प्रभात के भोजन को 'नुहारी' कहते हैं।

सर्वनाम सम्बन्धी अव्यय अब, जब, कब आदि कुलुई में अनेक पर्यायों के साथ मिलते हैं। एबें, तेबें, केबें, ज़ेबें आदि रूपों में स्पष्टत: 'वेला' शब्द का सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त इन का दूसरा रूप एबरें, तेबरें केबरें आदि शब्दों में भी मिलता है। यहाँ इन का 'बार' से सम्बन्ध है। बार वाले रूप कालवाचक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। दौथी और झीश का सम्बन्ध ठीक वही है जो सुबह और सवेरे का है—दौथी उठी झीशा (सुबह सवेरे उठना)। सोंझ संस्कृत संध्या का विकसित रूप है और त्रकाल से भाव त्रिकाल से है, परन्तु इसका प्रयोग संध्या के लिए ही सीमित है—सोंझा-त्रकाले आऊ-हुंदा (शाम को संध्या समय आया हूँ)।

परिमाणवाचक क्रिया विशेषण (Adverb of Quantity)

बोहू (बहुत), जादा (ज्यादा), रज़ (काफी), बड़ा (बड़ा), गरका (भारी), होल्का (हल्का), निरा (निरा), खूब (खूब), निपट (बिलकुल), थोड़ा, धिख (ज़रा सा), नाऊंज़ेंआ (नाम मात्र), बख (बिलकुल), एतरा (इतना), तेतरा (उतना), जेतरा (जितना), केतरा (कितना), टिपु (बूंद), टिपु-टिपु (बूंद-बूंद), धिख-धिख (ज़रा-ज़रा), ज़ेंआ (जैसा, मात्र, सा)।

बोहू, जादा, रज़ और बड़ा शब्द हिन्दी शब्द बहुत, ज्यादा, काफी और बड़ा के ठीक पर्यायवाची हैं, कोई अन्तर नहीं। गरका शब्द संस्कृत गरिमा का विकृत रूप है। निरा, निपट और बख अधिकता-बोधक हैं, परन्तु एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकते। बख केवल विशेषणों के साथ प्रयोग में आता है—बख बांका (बिलकुल अच्छा), बख थूला (बिलकुल मोटा), बख बुरा, बख पतला, बख-बाकला। निपट और निरा संज्ञाओं के पहले भी प्रयुक्त होते हैं। धिख (ज़रा सा) संज्ञाजात परिमाणवाचक अव्यय है। इसकी व्युत्पत्ति सं० दृकम् से हुई है। धिख के साथ अनिवार्य रूप से ज़ेंआ का प्रयोग होता है। ज़ेंआ के बिना धिख अपना पूरा अर्थ प्रकट नहीं करता जैसे—धिख ज़ेंआ दे (थोड़ा सा दे), धिख ज़ेंआ दूध पीऊ (ज़रा-सा दूध पिया)। ज़ेंआ संज्ञा और विशेषण के साथ जैसा, मात्र, सा, केवल आदि अर्थों में आता है—काला ज़ेंआ घोड़ा, राखस ज़ेंआ कौखरा (राक्षस जैसा कहीं का), नाऊं ज़ेंआ पीठा धीना (नाम-मात्र आटा

दिया)। एतरा, तेतरा, जेतरा, केतरा के लिए एति, तेति, जेति, केति आदि रूप भी प्रयोग में लाए जाते हैं। उत्तरोक्त शब्द प्राकृत एतिया, केतिया आदि से निष्पन्न हुए हैं।

रीतिवाचक क्रिया विशेषण (Adverb of Manner)

कुलुई में रीतिवाचक क्रिया-विशेषणों की संख्या बहुत है। इन्हें इस प्रकार गिना जा सकता है :—

प्रकार—एंडा (ऐसा), तेंडा (तैसा), केंडा (कैसा), जेंडा (जैसा), जेंडा-केंडा (जैसा तैसा), बुझना (मानो), सूले (धीरे), सूले-सूले (धीरे-धीरे), सिमा-न (अचानक) मज़े (सहज, हौले), मज़े-मज़े (हौले-हौले), ज़ाति (साक्षात, स्पष्टत:), आपु (स्वयं), आपुऐ (स्वत:, अपने-आप), आपु-न (आपस में, परस्पर), सड़ा-सड़ (धड़ा-धड़), कड़ा-कड़ (तड़ा-तड़), ठीक-ठाक, हौथा-हौथ (हाथों-हाथों), जेंडा-रा तडा (जैसे का तैसा, ज्यों का त्यों), सट-पट (झट-पट)।

(2) निश्चय—ज़रूरे (ज़रूर), सौचिये (सचमुच), सही, असल-न (दर-असल)।

(3) अनिश्चय—केबकी (कदाचित), आईचे (शायद)।

(4) स्वीकृति—हां, ठीक, सौच, ओऊ, हौअ:।

(5) निषेध—न, मौत (मत), नाईं, नी।

सम्बन्ध-बोधक (Postposition)

तांइये (लिये, वास्ते), ढेंई (समान), सेंई (सदृश), बाझी (बगैर), तांई (तक), सोंगे (सहित), लाइया (साथ), बीणी (बिना) आगे (पास), आगे-आगे, पहले, सामने, पोछे (पीछे), पीछे (कारण), खातिर, भीरी (बाद), सुणे (समेत), पौथम (पहले) धीरे (ओर), दौलत (बदौलत), चाड़े (सिवा)।

उपर्युक्त सम्बन्धसूचक अव्ययों के अतिरिक्त कुलुई में हिन्दी और उर्दू के बहुत से सम्बन्ध-सूचक प्रयोग में मिलते हैं, जैसे—बराबर, पहले, सामने, बाहर, दूर-पार, बदले उल्टा आदि। परन्तु इनका स्थानीय बोली में विशेष महत्त्व नहीं। उपर्युक्त अव्यय बहुत प्रचलित हैं, और इनके प्रयोगों के बारे में स्पष्टीकरण बड़ा उपयुक्त होगा :—

तांइये

तांइये या तेंइये मूल रूप में हिन्दी शब्द तांई या उर्दू शब्द वास्ते का समानार्थक है और प्रयोग भी ठीक इसी प्रकार है, परन्तु जहाँ वास्ते का पुल्लिंग रूप है, तांइये का स्त्रीलिंग रूप है क्योंकि अपने से पूर्व सम्बन्ध कारक का केवल री प्रत्यय जोड़ता है, रा और रे नहीं। जैसे—शोहरू री तांइये डाहु हुंदा सा (लड़के के वास्ते रखा हुआ है)। यह अविकारी शब्द है। लिंग, वचन, काल के भेद पर बदलता नहीं, समान रहता है।

हेतुवाचक सम्बन्ध-बोधक के रूप में तांइये 'कारण' या 'खातिर' के अर्थों में भी प्रयोग में आता है—तेरी तांइये मूं जान भी देणी (तेरी खातर मैं जान भी दे दूंगा)।

सोंगे

इस के विभिन्न उच्चारण हैं—सूंगें, संगै, सुंघें, सौंधै। मूल रूप में ये संस्कृत शब्द संग के विकृत रूप हैं, और संज्ञा के रूप में इसी तरह प्रयोग में आते हैं। बुरा रा सोंग छौड़ (बुरे का संग छोड़)। अव्यय के रूप में सोंगे के सूंगें, संगें, सुंबें, सौंधै रूप बने हैं, और सहित या साथ के पर्यायवाची हैं। यह करणकारक का द्योतक है—शोठें सोंगें मार (सौठी से मार), मूं सोंगें मत डुणीदा (मेरे साथ या मुझसे न बोलो)।

लाइया

विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। हेतुवाचक रूप में इसका अर्थ कारण या मारे है—भूखे लाइया प्राण निकते (भूख के मारे या कारण प्राण निकले)। साधनवाचक होने पर यह द्वारा या सहारे का पर्यायवाची है—हौथें लाइया शोट (हाथ द्वारा या के सहारे फेंक), नाजा लाइया ता जीणा (अन्न के सहारे या द्वारा ही तो जीना है)।

मूल रूप में यह करणकारक का द्योतक है और विभक्ति रहित सम्बन्ध सूचक है। मोटे तौर पर लाइया और सोंगें दोनों करणकारक के प्रतीक हैं, परन्तु लाइया इसके अधिक निकट है और करणकारक को कर्मकारक से स्पष्ट करने के लिए लाइया का अवश्य प्रयोग होता है—'टेंडें भाल' का अर्थ 'आंखों को देख' या 'आंखों से देख' दोनों बिलकुल ठीक हैं, परन्तु अधिक स्पष्टता लाने के लिए करणकारक की स्थिति में लाइया शब्द का प्रयोग होता है—टेंडे लाइया भाल् (आंखों से देख)।

ढेंई श्रौर सेंई

ढेंई का अर्थ समान, बराबर, तुल्य हैं। तौ ढेंई कुणी होणा (तेरे बराबर या समान कौन हो सकता है)। यह विभक्ति रहित सम्बन्ध सूचक है। सेंई का अर्थ साम्य, जैसा, तरह है, जैसे—जाचा-न तौ सेंई माण्हु थी एक (मेले में तेरे जैसा या सदृश आदमी था एक)।

बीणी और बाझी

व्यतिरेक-वाचक से सम्बन्धित बीणी और बाझी दो प्रसिद्ध सम्बन्धसूचक हैं। बीणी शब्द बिना का विकृत शब्द है और बाझी (बगैर) के निकट है। भाव की दृष्टि से दोनों समानार्थक हैं, परन्तु प्रयोग दोनों का भिन्न है। एक ही भाव प्रकट करते हुए भी वाक्य रचना भिन्न है। बीणी शब्द संज्ञा, सर्वनाम अथवा कृदंत अव्यय के पहले प्रयोग में आता है और बाझी उनके बाद। गाशा बाझी साला फुकुई (वर्षा के बिना फसलें जल गईं) के स्थान पर 'गाशा बीणी' कहना ठीक नहीं। 'बीणी गाशें साला फुकुई' शुद्ध प्रचलित वाक्य है। इसी तरह कमोइया बाझी नी हुंदा, या बीणी कमोइया नी हुन्दा (कमाए बिना कुछ नहीं होता), अकला बाझी जीणा कठन सा, या बीणी अक्ले जीणा कठन सा (अकल बिना जीना कठिन है)।

इसके अतिरिक्त बीणी शब्द चाहे के अर्थ में भी प्रयोग में आता है। परन्तु बाझी इस प्रकार प्रयुक्त नहीं हो सकता—तौ पीछें बीणी जान बी देणी—(तेरे कारण चाहे जान भी दूंगा)।

आगें

आगें शब्द अर्थ के अनुसार कभी कालवाचक और कभी स्थानवाचक होता है। कालवाचक की स्थिति में इसका 'एँ' स्वर कुछ लम्बा हो जाता है—तू-ता आगेएँ पुहचीरा (तू तो पहले ही पहुंचा है), दूई घंटे आगेएँ नौठा (दो घंटे पहले ही चला गया)। स्थानवाचक में स्वर बदलता नहीं। मरद आगें थी, बेटड़ी पीछे (मर्द आगे था स्त्री पीछे)। समीप, पास, निकट के लिए आगें शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु आगें का सबसे अधिक प्रचलित प्रयोग पास के अर्थ में है—तेई आगें की सा (उसके पास क्या है ?

पीछें और भीरी

पीछें शब्द कई अर्थों में प्रयोग में आता है। कालवाचक में ठीक हिन्दी शब्द पीछे का समानार्थक है, और इस अर्थ में यह भीरी (बाद) का पर्यायवाची है—हाऊँ आगें पुहता सो पीछे (भीरी) 'मैं 'पहले पहुँचा और वह पीछे (बाद में)'। आगे-न रोटी खाई पीछें न (या भीरी) पाणी पीऊ 'पहले रोटी खाई पीछे से (या बाद में) पानी पीया'। स्थानवाचक के रूप में भी यह हिन्दी पीछे का ही समानार्थक है—घौरा पीछें शाड़ सा (घर के पीछे क्यारी है)। हेतुवाचक में पीछे का अर्थ करण या खातिर है—तेसा पीछे ता एण्डा हुआ (उसके कारण तो ऐसा हुआ), शोहरू पीछें ता बाबा बें एणा पोऊ (लड़के की खातिर तो बाप को आना पड़ा)। कारण या खातिर के अर्थ में पीछे शब्द तांइये का पर्याय वाची है, परन्तु प्रयोग में कुछ अन्तर है। पीछें विभक्ति रहित सम्बन्ध बोधक है और तांइये विभक्ति सहित—तौ पीछें ता नुहार-बार खोएँ परन्तु तेरी तांइये ता नुहार-बार खोएँ (तेरे कारण तो शक्ल सूरत खो दी)।

चाड़ें

व्यतिरेकवाचक सम्बन्धसूचक है। यह उर्दू शब्द सिवा का पर्यायवाची है, और हिन्दी शब्द अतिरिक्त का भी अर्थ देता है। खेलणा-न चाड़ें होर कोम नी औथी (खेलने के सिवा और कोई काम नहीं है)। निषेधवाचक वाक्य में इसका अर्थ 'छोड़कर' या 'बिना' होता है, जैसे—तेई-न चाड़ें होर कोई बी नी थी औथी (उसके सिवा या उसको छोड़ और कोई भी न था)।

उपर्युक्त शेष सम्बन्ध-बोधक अव्ययों का प्रयोग हिन्दी के समान है और विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

समुच्चयबोधक (Conjunctions)

कुलुई में कुछ प्रचलित समुच्चयबोधक अव्यय इस प्रकार है :—

ता (और), ता (तो), जे ँ (सं० यदि>शौ० जदी>महा० जई>कु० जै), जेता (यदि), किबे ँ-जे ँ (क्योंकि), तेबे ँ (इस लिए), किबे ँ (क्यों), की (या), किता (या तो), पर (परन्तु), तेबे ँ-बी (तोभी, तथापि), किता······किता (या तो······या तो), बीणी (चाहे), बीणी···बीणी (चाहे···चाहे), न······न, नी······नी (न······न), की······की (क्या······क्या), नी······ता (नहीं तो) (जे ँ······ता) (यदि···तो), भां (अथवा), केला नी······बी (न केवल······बल्कि), बुझ़णा (मानो), बी (भी)।

कुलुई में संयोजक समुच्चयबोधक अव्यय के केवल दो रूप मिलते हैं—'ता' तथा 'बी'। ता शब्द 'और' तथा 'तो' दोनों के लिए प्रयुक्त होता है. जैसे रामू ता तारू दूएँ थी (रामू और तारू दोनों थे), गीता लाई ता नौचे ँ (गीत गाए और नाचे)। माश़ एला ता बाहला (बारिश आएगी तो हल जोतेगा)। बी का प्रयोग मुख्यत: 'बी······बी' के रूप में होता है, यथा—ढबुऐ बी लोड़ी टौल्हे ँ बी (पैसे भी चाहिए, कपड़े भी), मूंड बी फाल़ू टाँगा बी बजाई (सिर भी तोड़ा और टाँगे भी तोड़ीं)।

विभाजक समुच्चयबोधक में 'की', 'किता', किता···किता, बीणी···बीणी, की·········की, न······न, नी······नी, 'नीता' का प्रयोग मिलता है—भीण लोड़ी की भाऊ (बहिन चाहिए या भाई अर्थात् बहिन प्राप्ति की इच्छा है या भाई), फौल़ खाणे की पेड़ गिन्ने (फल खाने या पेड़ गिनने)। 'किता' का प्रयोग अकेले भी होता है तथा 'किता······किता' संयुक्त रूप में भी। 'रोटी पका किता छैता बै जा', या 'किता रोटी पका किता छैता बे ँजा' (रोटी पका या खेत को जा, या तो रोटी पका या तो खेत को जा)। ऐसा ही प्रयोग बीणी (चाहे) का भी है। बीणी हौथ लोड़ी चूट्ट, रौशी केली नी छौड़नी (चाहे हाथ टूट जाए रस्सी नहीं छोड़ूँगा)। बीणी ढबुएँ दे, बीणी नाज़ दे (चाहे पैसे दे, चाहे अन्न दे)। की······की प्रश्नवाचक सर्वनाम हैं। परन्तु समुच्चयबोधक के समान उपयोग में आता है। ये दो या अधिक शब्दों का विभाग बता कर उनका इकट्ठा उल्लेख करते हैं—की मरद की बेटड़ी, सेभ नौचदे लागे हुंदे थी (क्या पुरुष क्या स्त्री सब नाच रहे थे)। न······न, नी······नी दोहरे क्रियाविशेषण समुच्चयबोधक के रूप में प्रयोग में आते हैं, जैसे—न शूल़ा देनी न घीऊ खाणा (न प्रसव-वेदना उठाऊँगी न घी खाऊँगी। लो०), न शाहुरा घालिदा न घौर बसाइंदा (न सुसराल का कष्ट सहन कर सकती, न घर बसा सकती है)। ऐसे वाक्यों में न······न के स्थान पर नी······नी का भी प्रयोग होता है। यह बात करने वाले की इच्छा पर निर्भर है। 'नी—ता' भी संयुक्त क्रियाविशेषण है जो समुच्चयबोधक के रूप में प्रयुक्त होता है। धिख-धिखीएँ बच़ू, नी ता मुंड फुट्ट थी (ज़रा ज़रा बच गया, नहीं तो सिर फट गया था)।

विरोधदर्शन समुच्चयबोधक में उर्दू के लेकिन और मगर का कुछ-कुछ प्रयोग मिलता है, परन्तु इनमें स्थानिकता नहीं झलकती। वास्तव में इस श्रेणी का समुच्चय-

बोधक केवल 'पर' है, जो संस्कृत और हिन्दी 'पर' है ।

किबें-जें (क्योंकि) और तेबें (इस लिए) कारणवाचक हैं । इनका विशेष प्रयोग उर्दू के प्रयोग 'चूंकि······इस लिए' के समान होता है । 'किबें-जें सो घौरा नी थी औथी, तेबें हाऊं छे के आऊं' (चूंकि वह घर पर न था, इस लिए मैं शीघ्र आ गया।)

संकेतवाचक समुच्चयबोधक के रूप में जे , जें ता, जें······ता, केला नी······ बी, शब्द प्रचलित हैं । जें शब्द हिन्दी का जो है, जिसे शिष्ट भाषा में यदि का स्थान प्राप्त है । जें का ही दूसरा रूप जेता है, पूर्वोक्त साधारण शब्द है उत्तरोक्त में स्वरमाधुर्य है।परन्तु प्रयोग इनका संयुक्त रूप में ही होता है, अलग नहीं—जें राम हुआ ता दुआई-बें हेरी एंदा (यदि आराम हुआ तो दवाई के लिए न आना); जें ता माण्हु बणला ता खांदा-पींदा रौहला, नी-ता अपणा रस्ता ढौकला (यदि आदमी बनेगा तो खाता पीता रहेगा, अन्यथा अपना रास्ता पकड़ेगा) । केला-नीं···बी' का प्रयोग हिन्दी के रूप 'न केवल······अपितु' के समान है—तेइरा शोहरू काणा केलानी टोऊणा बी सा (उसका लड़का न केवल अन्धा अपितु बहरा भी है) ।

विस्मयादिबोधक (Interjections)

कुलुई में किसी व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए लिंगभेद के अनुसार अव्यय हैं--पुरुष के लिए 'एई' और स्त्री के लिए 'एऊ' आम प्रचलित संकेत हैं । एई हिन्दी रे और एऊ हिन्दी अरी के पर्यायवाची हैं । पति-पत्नी अपने को केवल इन्हीं शब्दों से सम्बोधित करते हैं—एई, हीज़ तू कौ-बें थी नौठादा (अरे ! तू कल कहाँ गया था) । एऊ, बोलीरा शुन्ना की नी ? (अरी,बोल के सुनती है या नहीं) । पशुओं के पुकारने के लिए भिन्न-भिन्न सम्बोधन हैं: कुत्ते के लिए 'चो-चो', बैल-गाय के लिए 'ओश',भेड़ के लिए 'होई', बकरी के लिए 'आछ', मुर्गी के लिए 'कुड़-कुड़', भेड़ और बकरी के लिए दो अलग सम्बोधन क्रमशः 'हाँ' और 'छा' भी हैं । आम बोल चाल में पुरुष के लिए 'इ' और स्त्री के लिए 'ऐ' अधिक प्रयोग में आते हैं, परन्तु अन्य सम्बोधनों की तरह ये आरम्भ में नहीं अन्त में बोले जाते हैं—तुसे-री धीरे कुन थी इ (तुम्हारे यहाँ कौन था, अरे) तेरे नाकारी फुली कौ सा ऐ (तेरे नाक का आभूषण विशेष कहाँ है, अरी) ।

हर्ष के लिए औ, हा और हा-कटे, तथा शोक के लिए 'हो', 'आयो', 'हो देउआ' विस्मयादिबोधक प्रचलित हैं । 'आयो' हिन्दी हाय का पर्यायवाची है । अधिक थकावट या दुख प्रकट करने के लिए इसके साथ 'देया' का भी प्रयोग होता है—आयो देया, बख थौकू (हाय, बहुत थक गया) । अनुमोदन के लिए ठीक, अछा हाँ,हाँ—हाँ, तथा तिरस्कार के लिए छिः, हे रामा विस्मयादिबोधक के प्रयोग द्वारा मनोविकार सूचित किए जाते हैं ।

○○

सन्दर्भ-ग्रंथ

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन—डॉ० श्रीवास्तव ।

कश्मीरी भाषा और साहित्य—डॉ० शिबन कृष्ण रेणा ।

कश्मीरी और हिन्दी के लोकगीत एक तुलनात्मक अध्ययन—श्री जवाहरलाल हण्डु ।

कालिदास का भारत—डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ।

काव्यधारा—भाग एक और दो—भाषा एवं संस्कृति प्रकरण विभाग, हिमाचल प्रदेश ।

किन्नर देश—श्री राहुल सांकृत्यायन ।

कुमाऊँ—श्री राहुल सांकृत्यायन ।

कुमाऊँ का लोक साहित्य—डॉ० त्रिलोचन पाण्डे ।

कुलूत देश की कहानी—श्री लालचन्द प्रार्थी ।

कुलुई लोक साहित्य—डॉ० पद्मचन्द्र काश्यप ।

खड़ी बोली का लोक साहित्य—डॉ० सत्या गुप्त ।

गढ़वाली लोक गीत—डॉ० गोविन्द चातक ।

गढ़वाली लोक गाथाएँ—डॉ० गोविन्द चातक ।

ग्रामीण हिन्दी—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ।

चंगेर फुलांरी—भाषा एवं संस्कृति प्रकरण विभाग, हिमाचल प्रदेश ।

छत्तीसगढ़ी, हलबी, भतरी बोलियों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन—डॉ० भीलचन्द्र राव तेलंग ।

डिंगल साहित्य—डॉ० गोवर्धन शर्मा ।

डोगरी भाषा और व्याकरण—श्री बन्सीलाल गुप्ता ।

दिहात सुधार संगीत—कंवर टेढ़ीसिंह विद्यार्थी तथा श्री नेसूराम ।

निमाड़ी और उसका साहित्य—डॉ० कृष्णलाल हंस ।

पहाड़ी चित्रकला—श्री किशोरीलाल वैद्य ।

पाणिनी-कालीन भारत—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ।

पुरानी राजस्थानी—मि० तेस्सीतोरी, अनुवादक डॉ० नामवरसिंह ।

पुरानी हिन्दी—श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ।

प्राकृत और उसका साहित्य—डॉ० हरदेव बाहरी ।

प्राकृत प्रबोध—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री।

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—मि० पिशल, अनुवादक डॉ० हेमचन्द्र जोशी।

प्रेखण (पहाड़ी एकांकी संग्रह)—भाषा एवं संस्कृति प्रकरण विभाग, हिमाचल प्रदेश

बरासा रे फुल्ल (पहाड़ी कहानी संग्रह)—भाषा एवं संस्कृति प्रकरण विभाग, हिमाचल प्रदेश।

ब्रजभाषा—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा।

भारत का भाषा सर्वेक्षण—खण्ड I, भाग I डॉ० ग्रियर्सन, अनुवादक डॉ० उदयनारायण तिवारी।

भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी।

भारत में आर्य और अनार्य—डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी।

भारतीय प्राचीन लिपिमाला—पण्डित गौरीशंकर हीराचंद ओझा।

भाषा—मि० ब्लूमफील्ड, अनुवादक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद।

भाषा का इतिहास—श्री भगवद्दत्त।

भाषा एवं हिन्दी भाषा—डॉ० सतीश कुमार रोहरा।

भाषा और समाज—डॉ० रामविलास शर्मा।

भाषा विज्ञान—एफ० मैक्समूलर, अनुवादक डॉ० उदयनारायण तिवारी।

भाषा विज्ञान—डॉ० श्यामसुन्दर दास।

भाषा विज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी।

भाषा विज्ञान कोष—डॉ० भोलानाथ तिवारी।

भोजपुरी भाषा और साहित्य—डॉ० उदयनारायण तिवारी।

भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन—डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय

भोजपुरी लोक गाथा—डॉ० सत्यव्रत सिन्हा।

मगही व्याकरण कोष—डॉ० सम्पत्ति उर्याणी।

मध्य पहाड़ी का भाषा शास्त्रीय अध्ययन—डॉ० गोविन्द चातक।

मार्कण्डेय पुराण—एक अध्ययन : आचार्य बदरीनाथ शुक्ल।

मार्कण्डेय पुराण—पाजिटर।

मार्कण्डेय पुराण—एक सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल।

मीरां की भाषा—डॉ० शशि प्रभा।

रहनुमा-ए-कुल्लू—श्री सर्वजीत गौड।

राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ० मोतीलाल मेनारिया।

राजतरंगिणी—कल्हण।

लोक साहित्य विज्ञान—डॉ० सत्येन्द्र।

शब्दानुशासन—श्री हेमचन्द्र।

शब्दान्तर—डॉ० निशान्तकेतु।

शब्दों का अध्ययन—डॉ० भोलानाथ तिवारी।

शोध पत्रावली(तीन भाग)—भाषा एवं संस्कृति प्रकरण विभाग, हिमाचल प्रदेश।

सम्भोट व्याकरण—श्री के० अंग्रूप लाहुली ।
हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी ।
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवरसिंह ।
हिन्दी धातु संग्रह—मि० हार्नले ।
हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी—डॉ० रमेशचन्द्र महरोत्रा ।
हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ।
हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी ।
हिन्दी-मराठी शब्दकोष—महाराष्ट्र राष्ट्र-भाषा, भाषा पुणें ।
हिन्दी व्याकरण—श्री कामता प्रसाद गुरु ।
हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, द्वितीय भाग—सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
हिमाचल प्रदेश : क्षेत्र तथा भाषा—डॉ० वाई० एस० परमार ।
हिमाचली लोक गाथाएँ—लोक सम्पर्क विभाग, हिमाचल प्रदेश सम्पादक तथा अनुवाद श्री रामदयाल नीरज ।
हिमालयन फोकलोर—ओकले तथा गैरोला, अनुवादक सरस्वती सरन कैफ ।

अप्रकाशित

किन्नर लोक साहित्य—डॉ० बंशीधर शर्मा
कुलुई लोक साहित्य—डॉ० पद्मचन्द्र काश्यप ।

पत्र-पत्रिकाएँ

किन्नर-कैलाश—राजकीय महाविद्यालय, रामपुर बुशहर ।
जन-साहित्य—भाषा विभाग, पंजाब/हरियाणा ।
देवधरा—राजकीय महाविद्यालय, कुल्लू ।
धौलाधार—राजकीय प्रशिक्षण कालेज, धर्मशाला ।
परम्परा—राजस्थानी लोक साहित्य, जोधपुर ।
पंजाबी दुनिया—भाषा विभाग, पंजाब ।
भागसू—राजकीय महाविद्यालय, धर्मशाला !
भाषा—केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार दिल्ली ।
मरु-भारती—शोध विभाग, बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट, पिलानी ।
विपाशा—राजकीय महाविद्यालय, मण्डी ।
व्यास—राजकीय महाविद्यालय, बिलासपुर ।
शिराज़ा
श्यामल सुधा—राजकीय नेहरू संस्कृत महाविद्यालय, शिमला ।
सप्त सिन्धु (हिन्दी)—भाषा विभाग, पंजाब/हरियाणा ।
सप्त सिन्धु (पंजाबी)—भाषा विभाग, पंजाब ।

सोमसी—हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी, शिमला।
हमीर—राजकीय महाविद्यालय, हमीरपुर।
हिम-प्रस्थ—लोक सम्पर्क विभाग, हिमाचल प्रदेश।
हिम-भारती—भाषा एवं संस्कृति प्रकरण विभाग, हिमाचल प्रदेश।
हिमलोक—राजकीय प्रशिक्षण महाविद्यालय; सोलन।

ENGLISH BOOKS

1. A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages. —John Beames
2. A Comparative And Etymological Dictionary of the Nepali Languages. —Ralph Lilly Turner
3. A Glossory of the Tribes and Castes of Punjab and N.W.F. Province, —H.A. Rose
4. Annals and Antiquities of Rajasthan. —Col. Todd.
5. An Easy way to Hindi and Hindi Grammar. —Molu Ram Thakur
6. Archaeological Survey of India Vol. V and XIV. —Elexander Cunningham
7. Assessment Report of Kulu, 1891.
8. A Trip Through Kulu and Lahaul to the Chumurari Lake in Ladak. —Captain Alexander Cunningham
9. Consonantal Changes in Indic and Romance Languages. —C.S. Rayall
10. Chamba Gazetteer.
11. Chinese Accounts of India—Travels of Hiouen Thsang Vol. II —Samuel Beal
12. Chiefs and Families of Note in the Punjab, Vol. I, 1909. —Sir Lepel H. Griffin and Col. Charles Francies Massy
13. Descriptive Linguistics —H. A. Gleason, Jr.
14. Elementary Chinese. —Shau Wing Chau.
15. Etymologies of Yask. —Dr. Siddheshwar Varma
16. Evolution of Oudhi. —Dr. Babu Ram Saxena
17. Foreign Elements in the Hindu Population—Indian Antiquary XL. —D.R. Bhandarkar.
18. Glory That Was Gujar Des. —K.M. Munshi
19. Hinduism in The Himalayas. —H.A. Rose
20. Himachal Pradesh : Area And Language —Dr. Y.S. Parmar
21. Himachal—Nature's Peaceful Paradise —Dr. S.S. Shashi

22. Himalaya —Herbert Tichy
23. Historical Linguistics. —Winfred P. Lehmann
24. History of Punjab Hill States. —J. Hutchison and Vogel
25. Indian Philosophy. —Dr. S. Radhakrishnan
26. Indian Hill Life. F. St. J. Gore
27. Indian Palaeography. —O. Buhler
28. Indo-Aryan and Hindi. —Dr. Suniti Kumar Chatterji
29. Introduction to Prakrit—Alfred C. Woolner—Translation by Dr. Banarsi Das Jain
30. Karkhandari Dialect of Delhi Urdu. —Gopi Chand Narang
31. Kulu and Lahul—Lieut. Col. C.O. Bruce.
32. Kulu—Its Dussehra And Its Gods —Prof. Chandravarkar
33. Kulu—The End of the Habitable Words.—Penelope Chetwode
34. Light And Shades of Hill Life in the Afghan and Hindu Highlands of the Punjab. —F. St. J. Gore
35. Languages of the Northern Himalayas. —Rev. T. Craham Bailey
36. Linguistic Survey of India, Vol. I, Part I, Vol. IX, Part I, Vol. IX, Part IV. —Dr. G.A. Grierson
37. Nepali Language—Its History and Development. —Dr. Dayanand Srivastava
38. Origin And Development of Bengali Language. —Dr. Suniti Kumar Chatterji
39. Pali Literature and Language. —Wilhelm Geiger
40. Punjab Castes. —Sir Denzil Ibbeston
41. Races of Northern India. —W. Crooke
42. Punjab Boundary Commission Report.
43. The Himalayan Districts of Kooloo, Lahoul And Spiti. —A.F.P. Harcourt
44. The Kulu Dialects of Hindi. —A.H. Diack
45. The Palaeography of Brahmi Script in North India. —Dr. Thakur Prasad Verma
46. The Races of Mankind. —Prof. M. Nestrukh
47. The Sience of Language. —F. Maxmular
48. Transactions the of Linguistic Circles of Delhi. Edited by A. Chandrasekhar
49. Shahpur-Kangri Glossory. —J. Wilson

शब्दानुक्रमणिका

संकेत-सूची

अ० = अपभ्रंश
अर० = अरबी
ए० व० = एकवचन
क० = कहलूरी
कां० = कांगड़ी
कि० कि० = किराती-किन्नौरी
कु० = कुलुई
गा० = गादी
चं० = चम्बयाली
चु० = चुराही
डो० = डोगरी
तुल० = तुलना कीजिए
दे० = देखिए
नपुं० = नपुंसकलिंग
प० = पहाड़ी
पं० = पंजाबी
पु० = पुल्लिंग
प्रा० = प्राकृत
फा० = फारसी
ब० व० = बहुवचन
बा० = बाहरी पहाड़ी
बा० सि० = बाहरी सिराजी
बि० = बिलासपुरी
(बु०) = बुझारत
भ० = भद्रबाही
भी० = भीतरी पहाड़ी
भी० सि० = भीतरी सिराजी
म० = महासुई
मं० = मण्डियाली
(मु०) = मुहावरा
ले० = लेखक
(लो०) = लोकोक्ति
(लो० क०) = लोककथा
(लो० गी०) = लोकगीत
शौ० = शौरसेनी
सं० = संस्कृत
सि० = सिरमौरी
स्त्री० = स्त्रीलिंग
हिं० = हिंदी
> = ...से प्रसूत हुआ...
< = ...उद्भूत हुआ है...से